योग उपनिषदः

(20 योग उपनिषदों का मूल, विद्यालंकृता हिन्दी व्याख्या एवं श्लोकानुक्रमणिका सहित)

सुभाष विद्यालंकार

योग उपनिषदः

(20 योग उपनिषदों का मूल, विद्यालंकृता हिन्दी व्याख्या एवं श्लोकानुक्रमणिका सहित)

सुभाष विद्यालंकार

वैदिक साहित्य में उपनिषदों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी उपनिषदें ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करती हैं। इनमें वेद मन्त्रों के गूढ़ अर्थों की व्याख्या की गई है। प्रत्येक उपनिषद किसी न किसी वेद से सम्बद्ध है। इसी प्रकार पृथक्-पृथक् योगोपनिषदें भी पृथक्-पृथक् वेदों से सम्बद्ध हैं। जिनका पूरा विवरण इस ग्रन्थ की भूमिका में दिया गया है।

प्रस्तुतग्रन्थ में योगविषयक 20 उपनिषदों को संस्कृत मूल श्लोक तथा उनका हिन्दी अनुवाद अत्यन्त सरल एवं सुबोध भाषा में यथावश्यक टिप्पणियों के साथ दो खण्डों में प्रस्तुत किया गया है। अन्त में विस्तृत शब्दानुक्रमणिका से समलंकृत यह ग्रन्थ शोधार्थियों के लिए विशेष महत्व का है।

आशा है कि यह ग्रन्थ-रत्न योगियों, सामान्य पाठकों सहित योग पर शोध करने वाले गवेषकों के लिये भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

23cm.; 780pp.; (2 भाग) ; 2018 ₹ 2495 (set)

योग उपनिषदः

(20 योग उपनिषदों का संस्कृत मूल एवं विद्यालंकृता हिन्दी व्याख्या तथा श्लोकानुक्रमणिका सहित)

द्वितीय भाग

सुभाष विद्यालंकार

प्रतिभा प्रकाशन

दिल्ली भारत

प्रथम संस्करण : 2018

ISBN : 978-81-7702-441-8 (सेट)
978-81-7702-443-2 (द्वितीय भाग)

मूल्य : ₹2495 (सेट)

प्रकाशक :
डॉ० राधेश्याम शुक्ल
एम.ए., एम. फ़िल्., पी-एच.डी.
प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्यविद्या-प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता)
7259/23, अजेन्द्र मार्केट, प्रेमनगर
शक्तिनगर, दिल्ली-110007
दूरभाष : (O) 011-47084852, 09350884227
e-mail : pratibhabooks@ymail.com

टाईप सेटिंग : एस० के० ग्राफिक्स
दिल्ली-84

मुद्रक : एस० के० ऑफसेट, दिल्ली

YOGA UPANIṢADS

(Sanskrit Text of 20 Yoga upaniṣads, Vidyālaṅkritā Hindi Commentary with Ślokānukramaṇikā)

Volume - II

Subhash Vidyalankar

PRATIBHA PRAKASHAN
DELHI-110007

First Edition : 2018

ISBN : 978-81-7702-441-8 (Set)
978-81-7702-443-2 (Part - II)

Price : ₹ 2495

Published by :
Dr. Radhey Shyam Shukla
M.A., Ph.D.
PRATIBHA PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Booksellers)
7259/23, Ajendra Market,
Prem Nagar, Shakti Nagar
Delhi-110007
Ph. : (O) 011- 47084852, (M) 09350884227
e-mail : pratibhabooks@ymail.com

Laser Type Setting :
S.K. Graphics, Delhi-84

Printed at : **S.K. Offset,** Delhi

विषय-सूची

द्वितीय भाग

१५

योगचूडामणि-उपनिषद्

आप्यायन्तु........ इति शान्तिः!!

मूलाधारादि षट्चक्रं सहस्रारोपरि स्थितम्।
योगज्ञानैकफलकं रामचन्द्रपदं भजे।।

योगचूड़ामणि उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें योग के छह अंगों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया।
कैवल्यसिद्धिदं गूढं सेवितं योगवित्तमैः।।१।।

मैं योगियों का भला करने की इच्छा से योगचूड़ामणि उपनिषद् का ज्ञान बता रहा हूँ। यह ज्ञान अत्यन्त गुप्त है। सिद्धि प्रदान करने वाला है। श्रेष्ठ योगी इस उपनिषद् ज्ञान से लाभ उठाते हैं।

योग के छह अंग

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्।।२।।

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये छह योग के अंग हैं। अष्टांग योग के यम, नियम को यहाँ छोड़ दिया गया है क्योंकि जो योगी यम-नियम का अभ्यास कर चुके हैं उनके लिये यह ज्ञान है।

एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्।
षट्चक्रं षोडाशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।।३।।
स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धि कथं भवेत्।

ध्यान और समाधि के लिये सिद्धासन और पद्मासन ही अच्छे आसन हैं। जो योगी अपने शरीर में छह चक्रों, सोलह आधारों और तीन लक्ष्यों और पाँच आकाशों को नहीं जानता उसकी साधना कैसे सफल होगी?

षोडशाधार

देह के जिन १६ स्थानों पर मन केन्द्रित किया जाता है वे सोलह स्थान इस प्रकार है– पैर का अंगूठा, टखना और एड़ी, घुटना, जांघ, सीवनी (मूलाधार, योनि स्थान) लिंग (स्वाधिष्ठान), नाभि (मणिपूर), हृदय (अनाहत), कण्ठ (विशुद्ध), छोटी जीभ (लम्बिका, कौआ), नासिका, भ्रूमध्य (आज्ञा), मस्तक, सिर, ब्रह्मरन्ध्र। कुछ के मत में जिह्वाग्र, नेत्र और ऊर्ध्वदन्ताधार (तालु) भी इसमें सम्मिलित हैं। तान्त्रिकों के अनुसार मूलाधार आदि छह चक्र तथा बिन्दु, अर्द्धेन्दु, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समनी, रोधिनी और ध्रुव मण्डल षोडशाधार हैं।

मूलाधार आदि चक्र

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम्।।४।।

मूलाधार चक्र चार पंखुड़ियों वाले कमल जैसा है और स्वाधिष्ठान चक्र छह पंखुड़ियों वाले कमल जैसा।

नाभौ दशदलं पद्मं हृदयं द्वादशारकम्।
षोडशाधारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा।।५।।
सहस्रदलसंख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि।

नाभि के पास मणिपूर चक्र दस पंखुड़ियों वाले कमल जैसा है। हृदय का अनाहत चक्र बारह दलों वाले कमल जैसा, कण्ठ का विशुद्धचक्र सोलह दलों के कमल जैसा, भ्रूमध्य का आज्ञाचक्र दो दलों के कमल जैसा और ब्रह्मरन्ध्र का सहस्रार चक्र एक हजार दलों के कमल जैसा है। सहस्रार; महापथ या सुषुम्ना नाड़ी के लय का स्थान है।

योनिस्थान परमज्योति के दर्शन

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।।६।।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते।
कामाख्यं तु गुदस्थाने पंकजं च चतुर्दलम्।।७।।

पहिला चक्र मूलाधार है और दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान। इन दोनों चक्रों के बीच में योनिस्थान (सीवनी) है जिसे कामरूप पीठ भी कहते हैं। गुदा की जगह पर मूलाधार चक्र है। इस चक्र में चार दलों का कमल है।

तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता।
तस्य मध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम्।।८।।

इस चतुर्दल कमल के बीच में त्रिकोण के आकार वाली योनि है। इसे कामाख्या पीठ कहते हैं और सिद्ध इसकी स्तुति करते हैं। अर्थात् यहीं से अपनी साधना आरम्भ करते हैं। इस योनि के बीच में महालिंग है, जिसका मुख पश्चिम अर्थात् नीचे की ओर है।

नाभौ तु मणिवद् बिम्बं यो जानाति स योगवित्।
तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत्।।९।।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात् प्रतिष्ठितम्।

इस महालिंग की नाभि पर मणि की तरह चमकीला बिम्ब है। इसे जो जानता है वही वास्तव में योगी है। तपे हुए सोने के रंग वाला और बिजली की तरह चमकीला लिंग के नीचे जो त्रिकोण है वह कालाग्नि का स्थान है। यह त्रिकोण मेढ्र (लिंगमूल) के नीचे है।

उपरोक्त श्लोकों में योनि और महालिंग का वर्णन सृष्टि प्रक्रिया की ओर संकेत करता है। मन्दिरों में भी शिवलिंग, योनि के बीच में स्थापित रहता है। भक्त जन शिवलिंग की आराधना के द्वारा प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति करने वाली परा शक्ति या परब्रह्म परमात्मा का स्मरण, वन्दन और आराधन करते हैं।

तन्त्र के अनुसार स्वयम्भू महालिंग त्रिकोणाकार योनि में सुषुम्ना द्वार के सामने हैं। यहाँ पर सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति हमारे जीवन और शरीर का आधार है और यही शक्ति मोक्ष का द्वार भी है।

समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतो मुखम्।।१०।।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातो न विद्यते।

समाधि में इस त्रिकोण पर मन एकाग्र करने से सारे संसार में व्याप्त अनन्त ज्योति प्रकट होती है। यही ज्योति कालाग्नि है। इसे देख लेने पर योगी जन्म-मरण और संसार में आने-जाने के बन्धन से छूट जाता है।

स्वाधिष्ठान आदि चक्रों के लक्षण

स्व शब्देन भवेत् प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयम्।।११।।
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मात् मेढ्रमेवाभिधीयते।

'स्व' शब्द का अर्थ प्राण होता है। मेढ्र अर्थात् लिंगमूल पर स्वाधिष्ठान चक्र है। लिंगमूल अर्थात् मेढ्र प्राण का आधार होने के कारण स्वाधिष्ठान कहलाता है। पिछले श्लोकों में योनिस्थान, योनि और महालिंग का उल्लेख किया गया है। सृष्टि उत्पत्ति के लिये अनिवार्य प्रकृति और पुरुष के संयोग का ही यहाँ आलंकारिक रूप में वर्णन किया गया है। जहाँ तक व्यक्तिगत देह का सम्बन्ध है वहाँ भी स्त्री-पुरुष के संयोग के बिना नया प्राणी जन्म नहीं लेता। जब तक पुरुष का वीर्य, स्त्री के रज के साथ नहीं मिलता तबतक गर्भाधान नहीं होता। इसीलिये लिंग में स्थित वीर्य ही नये जीव का मुख्य कारण होता है। इस दृष्टि से वीर्य, स्व या प्राण का आधार है।

तन्तुना मणिवत् प्रोतो योऽत्रकन्दः सुषुम्नया।।१२।।
तन्नाभिमण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्।
द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपाप विवर्जिते।।१३।।
तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति।

जैसे किसी तागे में मणि पिरोई होती है वैसे ही सुषुम्ना नाड़ी में कन्द पिरोया हुआ है। नाभि में स्थित चक्र मणिपूर कहलाता है। हृदय में बारह पंखुड़ियों का अनाहत चक्र है। इसी अनाहत चक्र में पाप और पुण्य से रहित जीवात्मा रहता है। जीवात्मा; सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से परे है अर्थात् गुणातीत है। गुणातीत होने के कारण जीवात्मा पाप-पुण्य से रहित है। किन्तु जीव को जब तक तत्त्वज्ञान नहीं हो जाता तब तक वह अहंकार और माया-मोह के बन्धन में पड़ा हुआ जीवन-मरण के चक्र में घूमता ही रहता है।

कन्दस्थान

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत्।।१४।।
तत्रनाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः।

लिंगमूल के ऊपर और नाभि से कुछ नीचे पक्षी के अण्डे जैसा कन्द है। यह कन्द शरीर में व्याप्त सभी नाड़ियों का उत्पत्ति स्थान है। उस कन्द से बहत्तर (७२) हजार नाड़ियाँ निकली हुई हैं।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार शरीर में कन्द का स्थान मूलाधार से एक बालिश्त या बारह अंगुलि ऊपर नाभि और लिंगमूल के बीच में है। यह कन्द चार अंगुलि चौड़ा होता है। कन्द, सफेद और मुलायम लपेटे हुए कपड़े जैसा होता है।

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बर लक्षणम्।।

हठ०प्र० ३/११३

याज्ञवल्क्य के अनुसार कन्द का स्थान निम्नलिखित है–

गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः।
देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानमितीरितम्।।
कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम्।
चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथा विधम्।।

गुदा से दो अंगुल ऊपर और लिंगमूल से दो अंगुल नीचे मनुष्य के शरीर का मध्यभाग है। मनुष्यों में कन्द शरीर के बीच से नौ अंगुल ऊपर होता है। मनुष्यों का कन्द चार अंगुल चौड़ा और चार अंगुल लम्बा होता है।

दस मुख्य नाड़ियाँ

तेषु नाड़ी सहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः।।१५।।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः।

इन बहत्तर हजार नाड़ियों में से बहत्तर नाड़ियाँ ही मुख्य हैं। इन बहत्तर नाड़ियों में से भी दस नाड़ियाँ शरीर में प्राणों का संचार करती हैं।

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका।।१६।।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी।
अलम्बुषा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता।।१७।।
तन्नाडी महाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिःसदा।

इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी ये दस मुख्य नाड़ियाँ हैं। दस नाड़ियों के इस चक्र के बारे में योगियों को सदा जानकारी रखनी चाहिये।

नाड़ियों के स्थान

इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता।।१८।।
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वाम चक्षुषि।
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे तु दक्षिणे।।१९।।
यशस्विनी वाम कर्णे चानने चाप्यलम्बुषा।
कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी।।२०।।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ते नाडयः क्रमात्।

नाक के बांये सुर में इडा और नाक के दांये सुर में पिंगला नाड़ियाँ हैं। इडा और पिंगला के बीच में सुषुम्ना है। गान्धारी बांयी आँख में और हस्तिजिह्वा दांयी आँख में है। दांये कान में पूषा और बांये कान में यशस्विनी नाड़ी हैं। मुख में अलम्बुषा है। कुहू लिंग में और शंखिनी मूलाधार में है। इस प्रकार ये दस नाड़ियाँ प्राणवायु के एक-एक मार्ग में हैं।

नाड़ियों में चलने वाली वायु और उनके कार्य

इडापिङ्गलसौषुम्नाः प्राणमार्गे च संस्थिताः।।२१।।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः।
प्राणापानसमानाख्या व्यानोदानौ च वायवः।।२२।।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः।
हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले।।२३।।

समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः।
व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्चवायवः।।२४।।
उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा।
कृकरःक्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।।२५।।
न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनंजयः।
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः।।२६।।

इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन नाड़ियाँ प्राणवायु की मुख्य नाड़ियाँ हैं। इनके द्वारा शरीर को सदा और लगातार प्राणवायु मिलती रहती है। इन नाड़ियों के देवता चन्द्र, सूर्य और अग्नि हैं। नाक के बांये सुर की नाड़ी इडा का देवता चन्द्रमा है। इसका अभिप्राय है कि बांये सुर की नाड़ी इडा में चन्द्रमा की तरह शीतल प्राणवायु चलता है। दांये सुर की नाड़ी पिंगला में सूर्य की भांति गरम प्राणवायु चलता है। सुषुम्ना में अग्नि जैसा तीव्र प्राणवायु होता है। इन तीन नाड़ियों का क्रियात्मक योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसमें भी सुषुम्ना सबसे मुख्य है। यह नाड़ी अत्यन्त सूक्ष्म है। सुषुम्ना; गुदा के पास से मेरुदण्ड के भीतर होती हुई मस्तिष्क में चली गई है। गुदा के पास से ही इडा बांयी ओर से और पिंगला दांयी ओर से नाक के मूल तक अर्थात् भ्रूमध्य तक चली गई है। भ्रूमध्य में इडा, पिंगला और सुष्युम्ना मिलती हैं। सुषुम्ना को सरस्वती, इडा को गंगा और पिंगला को यमुना भी कहते हैं। गुदा के समीप जहाँ से ये तीनों नाड़ियाँ अलग-अलग चलती हैं उस स्थान को **'मुक्त त्रिवेणी'** और भ्रूमध्य में जहाँ ये तीनों नाड़ियाँ मिलती हैं उस स्थान को **'युक्त त्रिवेणी'** कहते हैं।

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर देवदत्त और धनंजय ये दस वायुएँ हमारे शरीर के विभिन्न अंगों में घूमती रहती हैं।

प्राण वायु हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभि में, उदान कण्ठ में और व्यान वायु सारे शरीर में व्याप्त होकर रहता है।

प्राण वायु हृदय में रहकर श्वास-प्रश्वास करता है। अपान वायु; मूलाधार में रहकर मल-मूत्रादि शरीर से बाहर निकालता है। अपान वायु नाभि से पैरों के तलुओं तक गति करता है। समान वायु, खाये-पीये पदार्थों

का रस शरीर के विभिन्न अंगों में समान रूप से पहुँचाता है। यह वायु हृदय से नाभि तक संचार करता है। उदान वायु कण्ठ में रहता है। यह सिर तक आता-जाता है। इसी उदान वायु के द्वारा शरीर के व्यष्टिगत प्राण का समष्टि प्राण से सम्बन्ध बना रहता है। मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर उदान प्राणवायु द्वारा स्थूल शरीर से निकलता है। उदान की परिभाषा है **'उन्नयनात् इति उदानः'** अर्थात् शरीर को उठाये रखने के कारण यह प्राणवायु उदान कहलाता है। सूक्ष्म शरीर के कर्म, गुण, वासनाओं और संस्कारों के अनुसार उदान वायु नये गर्भ में प्रवेश कराता है। योगी उदान वायु के द्वारा स्थूल शरीर से निकल कर दूसरे लोकों में घूम सकते हैं।

पेट से डकार निकालना नाग वायु का काम है। आँखों की पलकों का झपकना कूर्म वायु से होता है। कृकर वायु भूख का अनुभव कराती है और देवदत्त वायु से जम्भाई आती है। धनंजय वायु सारे शरीर में व्याप्त रहता है। देहान्त हो जाने पर भी धनंजय वायु शरीर में रहता है। ये दसों वायु शरीर की सभी नाड़ियों में गति करती रहती हैं।

प्राणों के चलने या न चलने से जीव की गति

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथा चलति कन्दुकः।
प्राणापान समाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति।।२७।।
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति।
वाम दक्षिणमार्गाभ्यां चञ्चलत्वान्न दृश्यते।।२८।।

डण्डे से मारने पर जैसे गेंद उछलती है वैसे ही प्राण और अपान वायु से गतिशील जीव एक जगह नहीं बैठा रहता।

प्राण और अपान वायु के वश में पड़ा हुआ जीव शरीर में ऊपर-नीचे आता-जाता रहता है। प्राणवायु; इडा और पिंगला नाड़ियों के द्वारा नाक से मूलाधार तक निरन्तर चलता रहता है। प्राण और अपान वायु की गति अत्यन्त चंचल है। प्राणायाम का अभ्यास किये बिना प्राण की गति को वश में नहीं किया जा सकता।

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति।।२९।।

पैर में रस्सी बंधा हुआ बाज़ उड़कर फिर अपनी जगह पर लौट आता है वैसे ही सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से बंधा हुआ जीवात्मा, प्राण और अपान वायु से फिर जाग्रत अवस्था में आ जाता है। भाव यह है कि हमारा शरीर थक जाने पर जब गहरी नींद में सो जाता है या समाधि अवस्था में हमारी बुद्धि ब्रह्म का साक्षात् करती है तब भी हमारे शरीर के तीनों गुणों की वासनाओं से बंधा हुआ जीव फिर जाग्रत अवस्था में आ जाता है।

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो जनाति स योगवित्।।३०।।

प्राण और अपान वायुओं के वश में पड़ा हुआ जीवात्मा शरीर में ऊपर-नीचे आता जाता रहता है। अपान वायु; प्राण वायु को नीचे खींचता है और अनाहतचक्र में स्थित प्राण वा्यु, अपान को ऊपर खींचता है। मूलाधार में नीचे स्थित अपान वायु की और ऊपर अनाहत चक्र में स्थित प्राण वायु की गति को जो जानता है वही योगी है।

अजपा जप

हकारेणबहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।३१।।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत् संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।३२।।

जब हम श्वास छोड़ते हैं तब 'ह' शब्द होता है और श्वास भरते हुए 'स' शब्द होता है। इस तरह श्वास भरते और छोड़ते हुए सदा 'हंस' 'हंस' यह शब्द हम जपते रहते हैं। एक दिन और एक रात में हम २१६०० बार हंस शब्द का जाप अपने आप कर लेते हैं।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३३।।

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति।।३४।।

'हंस' शब्द का स्वयं होने वाला जप 'अजपा गायत्री' कहलाता है। इस 'हंस' मन्त्र का ध्यान करने मात्र से जीव सभी प्रकार के पापों से छूट जाता है। 'हंस' के इस अजपा जप के समान कोई विद्या, कोई जप, कोई ज्ञान न कभी था और न कभी होगा।

यद्यपि हम श्वास-प्रश्वास करते हुए अनजाने ही 'हंस' शब्द का उच्चारण करके हंस के समान निर्मल, विशुद्ध, त्रिगुणातीत परब्रह्म का जप निरन्तर करते रहते हैं किन्तु इस पर कभी ध्यान नहीं देते। यदि हम उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते जागते मन में परब्रह्म का ध्यान करते रहें तो हमारे जीवन का उद्देश्य ही बदल जायेगा और हमारी चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी होने लगेगी। इसीलिये शास्त्रों में यह विधान किया गया है कि हमें प्रातःकाल नित्यकर्मों से निबट कर संकल्प करना चाहिये कि मैं पिछले दिन-रात की भांति आज भी अजपा जप करूँगा। ऐसा संकल्प करने से हमारा मन जब भी श्वास-प्रश्वास पर लगेगा तो हम परब्रह्म का ध्यान करेंगे। संकल्प हमारे अवचेतन मन को प्रभावित करता है।

कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित्।।३५।।

यह अजपा गायत्री कुण्डलिनी शक्ति से उत्पन्न होती है। श्वास भरते और छोड़ते हुए अजपा गायत्री का जप होता रहता है इसलिये 'हंस' शब्द का जप हमारे प्राणों का आधार है। श्वास-प्रश्वास का यह अजपा जप जीवात्मा की शक्ति होने के कारण प्राणविद्या है। यह प्राणविद्या हमारी सबसे बड़ी विद्या है। इस प्राणविद्या को जानने वाला वास्तव में ज्ञानी होता है।

कुण्डलिनी

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति।।३६।।

हमारे शरीर में कन्द के ऊपर अर्थात् मणिपूर चक्र में आठ कुण्डली

मारे कुण्डलिनी शक्ति; ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने के रास्ते को अर्थात् सुषुम्ना के मुख को रोककर सोई रहती है।

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम्।
मुखेनाच्छाय तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।।३७।।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता यह।
सूचीवद् गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया।।३८।।

सुषुम्ना के जिस मुख से जन्म-मृत्यु के दुख को दूर करने वाले ब्रह्मद्वार या ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा जाता है। उस द्वार को रोककर कुण्डलिनी शक्ति हमारे शरीर में सोई पड़ी है। इस कुण्डलिनी शक्ति को मन एकाग्र करके और वह्नियोग अर्थात् प्राणायाम के अभ्यास से प्राण को वश में करके जगाया जाता है। योगाभ्यास द्वारा प्राण और मन को वश में कर लेने पर कुण्डलिनी शक्ति, सुषुम्ना नाड़ी के रास्ते ब्रह्मरन्ध्र तक उसी तरह चली जाती है जैसे सूई में पिरोया हुआ तागा कपड़े में। प्राणायाम के द्वारा अपान वायु की धौकनी से प्रज्वलित कालाग्नि की गर्मी से मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है और सुषुम्ना के रास्ते ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है।

उद्घाटयेत् कवाटं तु यथा कुञ्चिकया गृहम्।
कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्।।३९।।

जैसे चाबी से ताला खोलकर खुले दरवाजे से घर में पहुँचा जाता है वैसे ही योगी कुण्डलिनी शक्ति को ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर मोक्ष का मार्ग खोल देता है।

शक्तिचालन मुद्रा

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि संनिधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेष्टितम्।
वारंवारमपान मूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत् पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्ति प्रभावान्नरः।।४०।।

दोनों हाथों की हथेलियाँ एक दूसरी के ऊपर रखकर, अच्छी तरह

पद्मासन लगाकर और ठोडी को कण्ठकूप में लगाकर अर्थात् जालन्धर बन्ध लगाकर मन में परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। मूलाधार में मूल बन्ध लगाकर अपान वायु को ऊपर प्राणवायु में मिलाकर कुम्भक प्राणायाम करना चाहिये।

फिर धीरे-धीरे रेचक करना चाहिये। कुण्डलिनी शक्ति को जगाने वाली यह शक्तिचालन मुद्रा है। इस मुद्रा का निरन्तर अभ्यास करने से कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है।

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा।
कटम्ललवणत्यागी क्षीर भोजनमाचरेत्।।४१।।
ब्रह्मचारी मिताहरी योगी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्वं भवेत् सिद्धो नात्र कार्या विचारणा।।४२।।

शक्तिचालन मुद्रा के अभ्यास में प्राणायाम करने से आये पसीने से शरीर के अंगों की मालिश करनी चाहिये। कुण्डलिनी जागरण का अभ्यास करने वाले साधक को खट्टे, कड़वे और नमकीन पदार्थ नहीं खाने चाहियें। उसे केवल दूध पीना चाहिये। मिताहार अर्थात् नपा-तुला भोजन करना चाहिये।

मिताहार

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः।
भुञ्जते शिवसम्प्रीत्या मिताहारी स उच्यते।।४३।।

स्निग्ध (चिकना) अर्थात् घी वाला और मीठा भोजन भूख से कम करना चाहिये। **'चतुर्थांश विवर्जितः'** का अर्थ है कि पेट में जितनी जगह हो या भूख हो उसका आधा भाग अन्न खाना चाहिये। और चौथाई भाग पानी पीना चाहिये। चौथा भाग खाली छोड़ देना चाहिये ताकि पेट में वायु के आने-जाने के लिये स्थान रहे। साधक यदि दूध पर ही निर्भर रहे तो साधना बहुत अच्छी चलती है। साधक को अपना भोजन प्रभु को निवेदित करके करना चाहिये। ऐसा साधक मिताहारी कहलाता है।

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलकृतिः।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा।।४४।।

कन्द के ऊपर कुण्डलिनी शक्ति आठ कुण्डली मारे सोती रहती है। यह शक्ति मूर्खों को सांसारिक बन्धन में डालती है किन्तु योगियों को सदैव मोक्ष प्रदान कराती है।

मूलबन्ध

पार्ष्णिघातेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेदृढम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते।।४६।।

पैर की एड़ी से योनिस्थान या सीवनी को दबाकर गुदा को सिकोड़ना चाहिये और अपान वायु को ऊपर उठाना चाहिये। ऐसा करने से मूलबन्ध लग जाता है।

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।।४७।।

मूलबन्ध का निरन्तर अभ्यास करने से प्राण और अपान वायु आपस में मिल जाते हैं। इस कारण शरीर में मल-मूत्र की मात्रा घट जाती है। वृद्ध व्यक्ति भी मूलबन्ध लगाने का अभ्यास करके युवा हो जाता है।

उड्डीयान बन्ध

ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
ओड्डियाणं तदेव स्यात् मृत्युमातङ्गकेसरी।।४८।।

उड्डीयान बन्ध लगाने का अभ्यास करने से प्राणवायु रूपी पक्षी बिना कहीं रुके सुषुम्ना नाड़ी में चला जाता है। इसीलिये यह बन्ध उड्डीयान कहलाता है। यह बन्ध मृत्यु रूपी हाथी के लिये शेर जैसा है अर्थात् उड्डीयान बन्ध का अभ्यास मृत्यु को दूर रखता है।

उदरात् पश्चिमं ताणमधो नाभेर्निगद्यते।
ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते।।४९।।

उड्डीयान बन्ध में नाभि से नीचे का पेट पीछे अर्थात् पीठ या कमर से लगाया जाता है। उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करने के लिये पेट की सारी वायु निकालकर पेट को पीछे ले जाकर या अन्दर की ओर खींच कर पीठ

से लगाया जाता है। खड़े होकर उड्डीयान बन्ध लगाने का अभ्यास हो जाने पर यह बन्ध पद्मसन या सिद्धासन में बैठकर प्राणायाम का अभ्यास करते हुए लगाया जाता है।

जालन्धर बन्ध

बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम्।
ततो जालन्धरो बन्धः कष्टदुःखौघनाशनः।।५०।।

जालन्धर बन्ध सिर की पीयूष ग्रन्थि से टपकने वाले अमृत रस को जठराग्नि में गिरकर नष्ट होने से रोकता है। यह बन्ध शरीर के कष्टों और दुखों को नष्ट कर देता है।

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति।।५१।।

कण्ठकूप में ठोडी को दबा कर जालन्धर बन्ध लगाने से ब्रह्मरन्ध्र की पीयूष ग्रन्थि से निकलने वाला अमृतरस पेट की अग्नि में गिरकर नष्ट नहीं हो जाता। जालन्धर बन्ध लगाने से शरीर में वायु विकार से होने वाले रोग नहीं रहते।

कण्ठ को सिकोड़ कर ठोडी को कण्ठकूप में दबाकर लगाने से जालन्धर बन्ध लग जाता है। प्राणायाम में पूरक करने के बाद कुम्भक के समय जालन्धर बन्ध लगाया जाता है। कुम्भक का अभ्यास बढ़ने पर जालन्धर, उड्डीयान और मूल ये तीनों बन्ध एक साथ लगाने से प्राणायाम का लाभ अधिक होता है।

गले के नाड़ी जाल को दबाने (बांधने) के कारण इस बन्ध को जालन्धर बन्ध कहते हैं। कण्ठ पर दबाव पड़ने से इडा और पिंगला नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं और प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश करने लगता है। थायराइड ग्लैण्ड के रोगियों के लिये जालन्धर बन्ध का अभ्यास लाभप्रद है।

खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।५२।।

काग या छोटी जीभ के पीछे जीभ ले जाकर जीभ को ऊपर खाली जगह में ले जाकर खेचरी मुद्रा की जाती है। अभ्यास बढ़ने पर जीभ भौंहों के बीच तक पहुँच जाती है। खेचरी मुद्रा लगाते समय भौंहों के बीच में देखना चाहिये।

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।५३।।

खेचरी मुद्रा का अभ्यास करने वाला योगी किसी बीमारी से नहीं मरता। उसे भूख-प्यास और नींद नहीं सताती। न ही ऐसा योगी कभी बेहोश होता है।

पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः।
बाध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।५४।।

जो योगी खेचरी मुद्रा लगाना जानता है उसे कोई रोग, दुख और शोक नहीं सताता। वह कर्मफल के बन्धन में नहीं पड़ता। उसे मृत्यु आदि किसी बाधा का सामना भी नहीं करना पड़ता।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे यतः।
तेनेयं खेचरीमुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता।।५५।।

खेचरी मुद्रा लगाने पर मन भौंहों के बीच खाली स्थान ख (आकाश) पर एकाग्र हो जाता है और जीभ भी इसी स्थान पर लगी रहती है। इसलिये सभी सिद्धयोगी खेचरी मुद्रा का आदर करते हैं।

वीर्य का महत्त्व

बिन्दुमूलशरीराणि शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।
भावयन्ति शरीराणि आपादतलमस्तकम्।।५६।।

सभी प्राणियों के शरीरों का आधार वीर्य या बिन्दु है। प्राणियों के शरीरों में सिर से लेकर पैर के तलुओं तक नस-नाड़ियों में वीर्य व्याप्त है जिसके कारण शरीर की नस-नाड़ियाँ शक्ति पाकर शरीर को जीवित रखती हैं।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च।।५७।।

जो योगी खैचरी मुद्रा से कोमल तालु के ऊपर छेद को जीभ से बन्द कर लेता है उसका वीर्य स्त्री का आलिंगन करने पर भी नहीं गिरता।

यावद् बिन्दुःस्थितो देहे तावत् मृत्युभयं कुतः।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद् बिन्दुर्न गच्छति।।५८।।

शरीर में जब तक वीर्य रहता है तब तक मृत्यु का भय नहीं होता। जब तक योगी खेचरी मुद्रा लगाये रहता है तब तक उसका वीर्य स्खलित नहीं होता।

ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम्।
व्रजत्यूर्ध्वं गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया।।५९।।

कामाग्नि से यदि वीर्य स्खलित होकर नाभि में स्थित जठराग्नि तक पहुँच भी जाता है तो भी वीर्य वज्रोली मुद्रा या योनिमुद्रा की शक्ति से खिंचकर सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्मरन्ध में पहुँच जाता है।

हठयोग प्रदीपिका का श्लोक ३/४३ भी इसी श्लोक जैसा है। वहाँ 'हुताशन' के स्थान पर 'योनिमण्डलम्' शब्द है। जिसका अर्थ है कि स्त्री की योनि में वीर्य गिरने पर योगी वज्रोली मुद्रा से गिरे हुए वीर्य को फिर खींच लेता है।

यह अर्थ अधिक युक्तियुक्त है क्योंकि वज्रौली मुद्रा का मुख्य कार्य स्त्री-योनि में पहुँचे हुए वीर्य को फिर खींचना ही है।

यहाँ पर 'हुताशन' का अर्थ कुछ टीकाकारों ने नाभि में स्थित सूर्यमण्डल किया है। यह अर्थ प्रसंग के अनुसार संगत नहीं लगता।

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहिस्तथा।
पाण्डरं शुक्रमित्याहु लोहिताख्यं महारजः।।६०।।

बिन्दु; सफेद और लाल दो रंगों का होता है। सफेद बिन्दु को वीर्य और लाल बिन्दु को रज कहते हैं।

सिन्दूरद्रवसंकाशं रविस्थानस्थितं रजः।
शशिस्थानस्थितं शुक्रं तयोरैक्यं सुदुर्लभम्।।६१।।

सूर्य के स्थान नाभि में सिन्दूर के रंग जैसा लाल द्रव रज रहता है और चन्द्रमा के स्थान कण्ठ में वीर्य रहता है। रज और वीर्य का मिलना बहुत कठिन है।

बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्ति बिन्दुरिन्दू रजो रविः।
उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम्।।६२।।

बिन्दु अर्थात् वीर्य ब्रह्मा है और रज, शक्ति। अथवा बिन्दु चन्द्रमा और रज सूर्य। इन दोनों के संयोग से परम पद प्राप्त होता है। अथवा प्राणवायु और अपानवायु का या जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्य होने पर योगी परम पद प्राप्त कर लेता है। सृष्टि-रचना में स्त्री-पुरुष के रज और वीर्य के संयोग से नया प्राणी जन्म लेता है। शिव और शक्ति का यह संयोग संसार का कल्याण करता है।

वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं तु यदा रजः।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद् दिव्यं वपुस्तदा।।६३।।

शक्तिचालन मुद्रा से प्रेरित होकर जब रज और वीर्य मिल जाते हैं तब योगी का शरीर दिव्य हो जाता है।

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संगतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित्।।६४।।

शुक्र या वीर्य का सम्बन्ध चन्द्र से है और रज का सूर्य से। जो साधक रज और वीर्य को या इडा और पिंगला को अर्थात् चन्द्र नाड़ी और सूर्य नाड़ी की प्राणवायु को मिलाना जानता है वही योगी है।

महामुद्रा के लाभ

शोधनं नाडीजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते।।६५।।

महामुद्रा का अभ्यास करने से शरीर की नस-नाड़ियों का मल दूर हो जाता है। इसलिये शरीर नीरोग रहता है। नाड़ी-शोधन हो जाने से चन्द्र और सूर्य स्वरों में अर्थात् इडा और पिंगला नाड़ियों में प्राणवायु या श्वास सरलता से चलने लगता है तथा प्राणायाम का अभ्यास आसानी से होने लगता है। कुम्भक की अवधि बढ़ने लगती है। महामुद्रा का अभ्यास करने से अपचन या अजीर्ण और प्रमेह आदि रोग भी नष्ट हो जाते हैं तथा भूख बढ़ जाती है। पाचन-शक्ति बढ़ने से खाये-पीये भोजन का रस शरीर में व्याप्त होकर शरीर को पुष्ट और स्वस्थ बनाता है।

महामुद्रा

वक्षोन्यस्त हनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्धवा शनैः रेचयेत्
सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते।।६६।।

ठोडी को कण्ठकूप में लगाकर जालन्धर बन्ध लगाना चाहिये। बांये पैर की एड़ी से योनिस्थान या सीवनी को जोर से दबाना चाहिये। दांया पैर आगे फैला कर दोनों हाथों से पैर की अंगुलियाँ पकड़नी चाहियें। अब पूरक करके थोड़ी देर तक कुम्भक करना चाहिये। फिर रोका हुआ श्वास धीरे-धीरे निकाल देना चाहिये।

महामुद्रा का अभ्यास करने से सारे रोग नष्ट हो जाते हैं।

चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत् पुनः।
या तुल्या तु भवेत् संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्।।६७।।

बांयी ओर से अर्थात् बांये पैर की एड़ी से योनिस्थान को दबाकर जितनी बार महामुद्रा की जाय उतनी ही बार दांये पैर की एड़ी से सीवनी को दबाकर और बांया पैर फैलाकर प्राणायाम सहित महामुद्रा का अभ्यास करना चाहिये।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते।।६८।।

महामुद्रा का अभ्यास पक्का हो जाने पर योगी के लिये पथ्य (हितकर) और अपथ्य (शरीर को नुकसान पहुँचाने वाला भोजन) का कोई विचार नहीं रहता। कड़वे, खट्टे-मीठे, चरपरे सभी तरह के पदार्थ उसके पेट में पच जाते हैं। यदि कभी विष भी पेट में चला जाय तो वह भी अमृत की तरह पच जाता है।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।।६९।।

महामुद्रा का नियमित अभ्यास करने वाले के शरीर से तपेदिक, कोढ़, बवासीर आदि गुदा के रोग, पेट की गांठ, अपचन आदि सारे रोग नष्ट हो जाते हैं।

कथियेतं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्यकस्यचित्।।७०।।

मनुष्यों के लिये महामुद्रा बहुत लाभदायक है। इस मुद्रा को किसी दुष्ट, अयोग्य या अहंकारी व्यक्ति को नहीं बताना चाहिये क्योंकि वह इसका अनुचित लाभ उठाने से नहीं हिचकेगा। कुछ साधकों के अनुसार महामुद्रा की दूसरी विधि यह है—

बांये पैर की एड़ी से योनिस्थान को दबाना चाहिये। दांयां पैर सामने फैलाकर दोनों हाथों से इस पैर का अंगूठा पकड़ना चाहिये और माथा दांये पैर के घुटने पर लगाना चाहिये। यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिये। थोड़ी देर बाद माथा ऊपर कर श्वास धीरे-धीरे निकाल देना चाहिये। इसी प्रकार दांये पैर की एड़ी से सीवनी को दबाकर और बांया पैर फैलाकर, घुटने पर माथा लगाकर कुम्भक करना चाहिये।

प्रणव-अभ्यास

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोंकारमव्ययम्।।७१।।

एकान्त स्थान में पद्मासन लगाकर, शरीर, सिर और गर्दन सीधी रखनी चाहिये। नाक के अगले सिरे पर दृष्टि जमा देनी चाहिये और अविनाशी परब्रह्म के नाम ओ३म् का जाप करना चाहिये।

प्रणवार्थरूप ब्रह्म

ओ३म् नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरञ्जनं निराख्यातमनादिनिधनमेकं तुरीयं यद् भूतं भविष्यत् परिवर्तमानम् सर्वदाऽनवच्छिन्नं परं ब्रह्म। तस्माज्जाता परा शक्तिः स्वयं ज्योतिरात्मिका।

परब्रह्म; नित्य, शुद्ध, बुद्ध या चैतन्य, निर्विकल्प अर्थात् तरह-तरह के विचारों या वृत्तियों से रहित, निरञ्जन अर्थात् शोक, मोह आदि से रहित, निराख्यातम् या अवर्णनीय, अनादि-निधन अर्थात् जिसका आरम्भ और समाप्ति न हो, एकमात्र, तुरीय या सहज अवस्था युक्त है। वह ब्रह्म, भूत,

भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों में विद्यमान है। वह ब्रह्म सदा सीमा से रहित या सीमातीत है। इसी ब्रह्म से जो परा शक्ति या सर्वश्रेष्ठ शक्ति उत्पन्न हुई है वह स्वयं ज्योतिर्मय या स्वयं प्रकाशस्वरूप है।

आत्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भयः पृथिवी। तेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्र विष्णुब्रह्माणश्चेति।

परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी। इन पाँच महाभूतों के स्वामी सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा ये पाँच देवता हैं।

तेषां ब्रह्माविष्णुरुद्राश्चोत्पत्तिस्थितिलय कर्तारः।

इन पाँच में से ब्रह्मा सृष्टि उत्पन्न करने वाले, विष्णु इस जगत् का पालन करने वाले और रुद्र या शिव इस संसार का लय या विनाश करने वाले हैं।

राजसो ब्रह्मा सात्विको विष्णुस्तामसो रुद्र इति।
एते त्रयो गुणयुक्ताः।

ब्रह्मा रजो गुण युक्त हैं। विष्णु सत्व गुण वाले हैं और रुद्र या शिव तमोगुण वाले हैं। अर्थात् इनमें ये गुण प्रधान हैं।

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव। धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्रः प्रथमजा बभूवुः।

इन देवताओं में ब्रह्मा सबसे पहिले उत्पन्न हुए। ब्रह्मा सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। विष्णु इसका पालन-पोषण करते हैं, शिव इसका संहार करते हैं। इन्द्र इस सृष्टि का भोग करते हैं।

एतेषां ब्रह्मणो लोका देवतिर्यङ्नरस्थावराश्च जायन्ते।

ब्रह्मा के लोकों में देवता, पशु-पक्षी, मनुष्य और वृक्ष, पर्वत आदि स्थावर पदार्थ जो चल-फिर नहीं सकते उत्पन्न होते हैं।

तेषां मनुष्यादीनां पञ्चभूतसमवायः शरीरम्।

इन मनुष्यों, पशु-पक्षियों आदि के शरीर पाँच महाभूतों के आपस में मिलने से बनते हैं।

ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायु मनोबुद्धिचित्ताहंकारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिः उच्यते।

पंच महाभूतों से बने मनुष्यादि के शरीरों में ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, अपान, व्यान आदि पाँच प्राणवायु और मन बुद्धि, चित्त, अहंकार ये स्थूल रूप में रहते हैं, इसलिये शरीर स्थूल प्रकृति वाले कहलाते हैं।

ज्ञानकर्मेन्द्रियैज्ञानिविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्गमेवेत्युच्यते।

ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों, प्राण-अपान आदि पाँच प्राण वायु और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की सूक्ष्म अवस्था भी है जिसे लिंग अर्थात् अपने-अपने कारण में लीन होने से और अपने कारण प्रधान प्रकृति का बोध कराने से लिंग कहते हैं। स्थूल भूत, इन्द्रियाँ, सूक्ष्मभूत, तन्मात्राएँ, अहंकार और महत्तत्व लिंग मात्र हैं।

गुणत्रययुक्तं कारणम्। सर्वेषामेव त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते।

सभी प्राणियों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर होते हैं। कारण शरीर भी सत्व, रज, तम इन गुणों से युक्त है।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति तुरीयाश्चेत्यवस्थाश्चतस्त्रः।

प्राणियों के शरीरों की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये चार अवस्थाएँ होती हैं।

तासामवस्थानामधिपतयश्चत्वारः पुरुषा विश्वतैजसप्राज्ञात्मानश्चेति।

शरीर की इन चार अवस्थाओं के अधिपति या अध्यक्ष ये चार पुरुष हैं विश्व, तैजस, प्राज्ञ और आत्मा।

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक् तथा प्राज्ञः सर्वसाक्षीत्यतः परः।।७२।।

विश्व या वैश्वानर अर्थात् सभी नरों (प्राणियों) में रहने वाला स्थूल पदार्थों का भोक्ता (ज्ञाता) है। तैजस या तेजप्रधान अधिपति, प्रविविक्तभुक् है अर्थात् विवेकपूर्वक सूक्ष्म वासनामय ज्ञान का भोक्ता है। प्राज्ञ अधिपति अत्यधिक चेतना वाला आनन्द का भोग करने वाला है। सारे संसार का साक्षीस्वरूप परब्रह्म है।

उपरोक्त विवरण शरीर और ब्रह्माण्ड की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओं का संक्षिप्त विवरण है। इसका विस्तार माण्डूक्य उपनिषद् में देखिये।

प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत् सर्वजीवेषु भोगतः।
अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः।।७३।।

प्रणव अर्थात् ओंकार स्वरूप ब्रह्म; जीव की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में स्थूल भुक्, प्रविविक्त भुक् और आनन्द भुक् के भोग से युक्त सभी प्राणियों में आत्मा के रूप में सदा रहता है। सभी ओर से ज्योतिर्मय तुरीयस्वरूप ब्रह्म जीव और सृष्टि की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं के प्रति अधोमुख अर्थात् उदासीन रहता है।

अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णा
स्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयो गुणास्त्रीण्यक्षराणि
त्रयः स्वरा एवं प्रणवः प्रकाशते।
अकारो जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्तुषु।
उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुप्तितः।।७४।।

अ, उ और म इन तीन वर्णों या अक्षरों से ओ३म् शब्द बनता है। ओ३म् नाम में ऋग्, यजुः और साम ये तीनों वेद; पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु ये तीनों लोक; सत्व, रज और तम ये तीनों गुण, अ, उ, म् ये तीनों अक्षर और उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ये तीनों स्वर विद्यमान हैं।

अभिप्राय यह है कि ओ३म् का उच्चारण या जप करने पर हम परमात्मा का स्मरण करके उनके बनाये हुए लोकों का, वेद के रूप में दिये गये ज्ञान का, वेदमन्त्रों का ठीक तरह पाठ करने के लिये आवश्यक उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन मुख्य स्वरों का तथा प्रकृति के सत्व, रज, तम इन तीन गुणों का भी स्मरण करते हैं।

प्राणी की जाग्रत अवस्था में ओ३म् का 'अ' अक्षर सभी प्राणियों की आँखों में रहता है। स्वप्नावस्था में 'उ' अक्षर कण्ठ में रहता और सुषुप्ति अवस्था में 'म्' अक्षर हृदय में रहता है।

विराड्विश्वः स्थूलश्चाकारः। हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः। कारणाव्याकृत प्राज्ञश्च मकारः।

ओ३म् का 'अ' अक्षर शरीर और सृष्टि के विराट्, वैश्वानर और स्थूल स्वरूप का प्रतीक है। 'उ' अक्षर पिण्ड और ब्रह्माण्ड के हिरण्यगर्भ, तैजस और सूक्ष्म स्वरूप का प्रतीक है। 'म्' अक्षर पिण्ड और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से पूर्व की अस्पष्ट, प्राज्ञ और कारण अवस्था का प्रतीक है।

अकारो राजसो रक्तो ब्रह्मा चेतन उच्यते।
उकारः सात्त्विकः शुक्लो विष्णुरित्यभिधीयते।।७५।।

ओ३म् का 'अ' अक्षर राजसिक गुण वाला, लाल रंग का चेतन ब्रह्मा कहलाता है। 'उ' अक्षर सात्विक गुण वाला, सफेद वर्ण का विष्णु का प्रतीक है।

मकारस्तामसः कृष्णो रुद्रश्चेति तथोच्यते।
प्रणवात् प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात् प्रभवो हरिः।।७६।।

'म' अक्षर तामसिक गुण वाला, काले रंग का रुद्र या शिव का प्रतीक है।

प्रणव से ब्रह्मा और विष्णु उत्पन्न हुए हैं।

प्रणवात् प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत्।
अकारे लीयते ब्रह्मा ह्युकारे लीयते हरिः।।७७।।

प्रणव अर्थात् परमात्मा से ही शिव उत्पन्न हुए हैं। परमात्मा निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

प्रणव के 'अ' में ब्रह्मा समाये हुए हैं और 'उ' में विष्णु विद्यमान हैं।

मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते।

ओ३म् के 'म्' में शिव समाये हुए हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव के रूप में प्रणव ब्रह्म ही प्रकाशित हैं।

ज्ञानिनामूर्ध्वगो भूयादज्ञाने स्यादधोमुखः।।७८।।

ज्ञानी पुरुषों के लिये प्रणवस्वरूप ब्रह्म सहस्रार में प्रकाशित होता है किन्तु अज्ञानी लोग ब्रह्म के प्रति उदासीन रहते हैं।

एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं वेद स वेदवित्।

प्रणव के इस सम्पूर्ण व्यापक स्वरूप को जो जान लेता है वही ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को जानता है।

अनाहतस्वरूपेण ज्ञानिनामूर्ध्वगो भवेत्।।७९।।
तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
प्रणवस्य ध्वनिस्तद्वत् तदग्रं ब्रह्म चोच्यते।।८०।।

अनाहत नाद के स्वरूप में ब्रह्मज्ञानी के अन्त:करण में प्रणवध्वनि सुनाई देती है। अनाहत नाद की यह ध्वनि तेल की धारा के समान निरन्तर और अटूट तथा घण्टे की आवाज की लम्बे समय तक सुनाई देने वाली झंकार की भांति होती है। अनाहत नाद की ध्वनि में लीन मन शीघ्र ही ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

ज्योतिर्मयं तदग्रं स्यादवाच्यं बुद्धिसूक्ष्मतः।
ददृशुर्ये महात्मानो यस्तं वेद स वेदवित्।।८१।।

अनाहत नाद की सूक्ष्म ध्वनि और प्रणव जप में लीन मन से महात्माओं ने ज्योतिर्मय और अवर्णनीय ब्रह्म के अपनी सूक्ष्म बुद्धि से दर्शन किये हैं। समाधि की इस स्थिति को जानने वाला ब्रह्मज्ञानी होता है।

जाग्रन्नेत्रद्वयोर्मध्ये हंस एव प्रकाशते।
सकारः खेचरी प्रोक्तस्त्वंपदं चेति निश्चितम्।।८२।।

जाग्रत अवस्था में दोनों आँखों के बीच में हंस अर्थात् परमात्मा ही प्रकाशित होते हैं। हंस शब्द का स अक्षर सभी प्राणियों के 'ख' अर्थात् हृदयरूपी आकाश में प्रत्यक् चैतन्य को प्रकाशित करता है और ह अक्षर परमात्मा चैतन्य को।

हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम्।
सकारो ध्यायते जन्तुर्हकारो हि भवेद् ध्रुवम्।।८३।।

हंस का 'ह' अक्षर निश्चितरूप से परमेश परमात्मपद है। हंस का स अक्षर जीव का प्रतीक है और ह अक्षर परमेश्वर का प्रतीक है। जब जीव अपना जीवत्व भाव त्याग कर 'सोऽहम्' का जप करते-करते ध्यान मग्न हो जाता है तब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि मैं ही परमात्मा का अंश हूँ।

इन्द्रियैर्बध्यते जीव आत्मा चैव न बध्यते।
ममत्वेन भवेज्जीवो निर्ममत्वेन केवलः।।८४।।

जीव या प्राणी अपनी इन्द्रियों के विषयों रूप, रस गन्ध आदि में फंसकर संसार के बन्धन में पड़ जाता है किन्तु हमारी आत्मा बन्धन में नहीं पड़ती। प्राणी के मन में ममत्व की या यह वस्तु मेरी है भावना आती है तो वह जीव ही रहता है। ममत्व की यह भावना त्याग देने पर जीव केवल ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति।।८५।।

इस प्रणव अर्थात् ओ३म् के अ, उ, म् इन तीन वर्णों मे भूः (पृथिवी), भुवः (अन्तरिक्ष) और स्वः (द्यु) लोक तथा चन्द्र, सूर्य और अग्नि देवता रहते हैं। इस ओ३म् की इन तीन मात्राओं में संसार को बनाने वाली सर्वोत्कृष्ट शक्ति अर्थात् परमात्मशक्ति रहती है। भावार्थ यह है कि ओ३म् के अ, उ, म् इन तीन अक्षरों से पृथिवी अन्तरिक्ष, द्युलोकों और इन लोकों के देवता (शक्तियाँ) अग्नि, चन्द्र, सूर्य का स्मरण करने के साथ ही इन तीनों लोकों और शक्तियों को बनाने वाले परमात्मा का भी स्मरण और ध्यान किया जाता है इसलिये प्रणवजप सर्वश्रेष्ठ जप है।

क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधा मात्रास्थितिर्यत्र तत्परं ज्योतिरोमति।।८६।।

इस प्रणव अर्थात् ओ३म् अक्षर में परमात्म शक्ति की क्रिया, इच्छा और ज्ञान की शक्तियाँ समायी हुई हैं और उत्पत्ति (ब्राह्मी) पालनं (वैष्णवी) तथा संहारक (रौद्री) ये तीन शक्तियाँ भी समायी हुई हैं।

सबसे पहिले परमात्मा सृष्टि बनाने की इच्छा, कामना या संकल्प करते हैं। फिर सृष्टि का निर्माण करते हैं और सृष्टि चलाने के लिये मनुष्य को वेदों का ज्ञान प्रदान करते हैं।

वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत् समभ्यसेत्।
मनसा तज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति।।८७।।

हमें इस परम प्रकाशमान ज्योतिस्वरूप परमात्मा के ओ३म् नाम का अपनी वाणी से सदा जप करना चाहिये। शरीर से प्राणायाम आदि योगाभ्यास

और शरीर से काम करते हुए परमात्मा का ध्यान सदा करना चाहिये। परमात्मा का स्मरण करने के लिये मन ही मन ओ३म् जपते रहना चाहिये।

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत् प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।८८।।

हमारा शरीर और मन चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, हमें प्रणव जप सदा करते रहना चाहिये। प्रणव जप करते रहने से हम पापों से उसी प्रकार छूट जायेंगे जैसे पानी में रहता हुआ कमल का पत्ता पानी से अलग रहता है या कमल पत्र पर पानी ठहरने नहीं पाता है। अभिप्राय यही है कि प्रणव जप का निरन्तर अभ्यास करने से हमारे मन में सत्वगुण या सात्विक विचार स्वयं बढ़ने लगेंगे। सात्विक विचारों से हमारा जीवन स्वयंमेव पवित्र और अन्तःकरण शुद्ध होने लगेगा और हम दुनिया के छल-कपट आदि व्यर्थ के प्रपंचों, झण्झटों और बुरी बातों से अपने को उसी प्रकार दूर रखने लगेंगे जैसे पानी में रहते हुए भी कमल का पत्ता पानी से अलग रहता है।

प्राणायाम

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्।।८९।।

हमारे श्वास लेने और श्वास छोड़ने से हमारा वीर्य भी अस्थिर रहता है, किन्तु प्राणायाम का अभ्यास करके प्राणवायु को वश में कर लेने पर हमारा वीर्य भी हमारे वश में हो जाता है। वीर्य रक्षा होने पर हमारी आयु बढ़ जाती है। प्राणायाम के अभ्यास से प्राणवायु को वश में करके तथा वीर्यरक्षा से उर्ध्वरेता बनकर योगी में ईश्वरीय शक्ति (स्थाणुत्व) या साधारण मनुष्यों से कहीं अधिक शक्ति आ जाती है। इसलिये हमें प्राणायाम का अभ्यास नियमित रूप से करना चाहिये।

यावद् वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुञ्चति।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरुन्धयेत्।।९०।।

जब तक प्राणवायु हमारे शरीर में रहता है तब तक जीव या आत्मा हमारा शरीर नहीं छोड़ता है। जब प्राणवायु शरीर से निकल जाता है तब

शरीर को जीवात्मा छोड़ देता है और देहान्त हो जाता है। इसलिये जीवित रहने के लिये आवश्यक है कि हम प्राणायाम का नियमित अभ्यास करें।

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुञ्चति।
यावद् दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत् कालभयं कुतः।।९१।।

जबतक हमारे शरीर में प्राणवायु रहता है तबतक जीवात्मा शरीर को नहीं छोड़ता है। जबतक हम भौंहों के बीच में दृष्टि लगाकर परमात्मा का ध्यान करते रहते हैं तबतक हम मृत्यु के भय से दूर रहते हैं। प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से, विषय भोगों से दूर रहकर और परमात्म-चिन्तन करके हम मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

अतः कालभयात् ब्रह्मा प्राणायामपरायणः।
योगिनो मुनयश्चैव ततो वायुं निरोधयत्।।९२।।

मृत्यु के डर से ब्रह्मा आदि देवता, मुनि और योगी प्राणायाम का अभ्यास करते हैं। इसलिये दीर्घ जीवन पाने के लिये हमें प्राणायाम करना चाहिये।

नाड़ी शुद्धि से प्राणायाम सिद्धि

षड् विंशद् अंगुलिः हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।
वामदक्षिण मार्गेण प्राणायामो विधीयते।।९३।।

हमारा प्राणवायु नाक के बांये और दांये सुरों से छब्बीस अंगुल तक बाहर जाता है। प्राण के अन्दर और बाहर जाते हुए हंस शब्द का उच्चारण होता रहता है इसलिये प्राणवायु को हंस कहा जाता है। मृत्यु होने पर प्राणवायु शरीर को छोड़कर हंस पक्षी की तरह उड़कर चला जाता है इसलिये भी प्राणवायु को हंस कहते हैं। प्राणवायु शरीर से बाहर जाता है इसलिये बाहर जाने या प्रयाण करने के कारण श्वास-प्रश्वास को प्राण कहते हैं।

''बहिः प्रयाणं कुरुते इति प्राणः।''

गोरक्षपद्धति के अनुसार प्राणवायु छत्तीस अंगुलि तक बाहर जाता है।

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणक्षमः।।९४।।

शरीर की नस-नाड़ियों में वर्षों से गन्दगी जमा होती रहती है जब षट्कर्म आदि योग की क्रियाओं से शरीर की गन्दगी निकल जाती है तब योगी प्राणवायु को अन्दर रोक सकता है।

नाड़ीशोधन प्राणायाम की विधि

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
धारयेद् वा यथाशक्त्या भूयःसूर्येण रेचयेत्।।९५।।

पद्मासन में बैठकर योगी को चन्द्र स्वर या नाक के बांये सुर से श्वास भरना चाहिये। भरे हुए श्वास को अपनी सामर्थ्य के अनुसार रोककर सूर्य स्वर या दांये स्वर से निकाल देना चाहिये। यह नाड़ीशोधन प्राणायाम करने की विधि है। यह चन्द्रांग या वामांग नाड़ी शोधन प्राणायाम है।

अमृतोदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम्।
ध्यात्वा चन्द्रमसं बिम्बं प्राणायामे सुखी भवेत्।।९६।।

बांये स्वर या चन्द्रस्वर से नाड़ी शोधन प्राणायाम करते हुए साधक को गाय के दूध-दही जैसे सफेद और अमृत समुद्र या क्षीर सागर के समान शुभ्र चन्द्र बिम्ब का ध्यान करने से सुख मिलता है।

स्फुरत्प्रज्वलं संज्वालापूज्यमादित्यमण्डलम्।
ध्यात्वा हृदि स्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत्।।९७।।

सूर्यस्वर से नाड़ीशोधन प्राणायाम करते समय जाज्वल्यमान अग्निपुंज सूर्यमण्डल का ध्यान करने से योगी को आनन्द होता है। शरीर में सूर्य का स्थान नाभि है।

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत्।
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्धवा त्यजेद् वामया।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतां।
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासद्वयादूर्ध्वतः।।९८।।

पहिले इडा नाड़ी या बांये स्वर से श्वास भरकर, कुछ देर तक श्वास अन्दर रोककर पिंगला नाड़ी या दांये स्वर से श्वास निकाल देना चाहिये। एक प्राणायाम करने के बाद पिंगला नाड़ी या दांये स्वर से श्वास भरकर

और कुछ देर तक रोककर बांये स्वर से श्वास निकाल देना चाहिये। नाक के दांये- बांये स्वरों से श्वास भरते समय सूर्य और चन्द्र बिम्ब का ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार चन्द्र स्वर और सूर्य स्वर से नाड़ी शोधन प्राणायाम का अभ्यास करने से योगी के शरीर की सभी नस-नाड़ियाँ दो महीने बाद साफ हो जाती हैं।

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्।।९९।।

नाड़ी शोधन प्राणायाम में काफी देर तक कुम्भक का अभ्यास हो जाने पर भूख बढ़ जाती है या जठराग्नि अर्थात् पाचन शक्ति ठीक हो जाती है। शरीर स्वस्थ हो जाता है और कानों में अनाहत नाद सुनाई देने लगता है।

प्राणायाम में पूरक, कुम्भक और रेचक के बीच समय का अनुपात १:४:२ होता है। कुछ के अनुसार यह अनुपात १२:१६:१० होना चाहिये। किन्तु हठयोग के अधिकांश ग्रन्थों में १:४:२ का अनुपात लिखा है।

मात्रा के नियम से प्राणायाम

प्राणो देहस्थितो यावदपानं तु निरुन्धयेत्।
एकश्वासमयी मात्रा ऊर्ध्वाधो गगने गतिः।।१००।।

जब तक प्राणवायु शरीर में रुकी रहे तब तक अपान वायु को भी रोकना चाहिये। मनुष्य जितने समय में स्वाभाविक रूप से एक बार श्वास-प्रश्वास करता है वह समय एक मात्रा का समय होता है। आकाश में ऊपर-नीचे जाने की गति का अभिप्राय श्वास-प्रश्वास है।

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः।
प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुतः।।१०१।।

ओ३म् के जप के साथ रेचक, पूरक और कुम्भक से युक्त साधारण प्राणायाम तीन तरह का होता है। प्राणायाम १२ मात्रा की अवधि के साथ किया जाता है।

मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकर निशाकरौ।
दोषजालमबध्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा।।१०२।।

योगियों को पता होना चाहिये कि सूर्य और चन्द्र बिना रुके रात-दिन हमारी सूर्य और चन्द्र इन दो नाड़ियों के रास्ते अर्थात् पिंगला और इडा नाड़ी के द्वारा हमारे शरीर में आते जाते रहते हैं।

चन्द्र-सूर्य के इस आलंकारिक वर्णन का अभिप्राय यही है कि सामान्य अवस्था में हमारे नाक के दोनों सुरों में से एक ही स्वर से श्वास-प्रश्वास होता है। दो घण्टे चौबीस मिनट बाद श्वास प्रश्वास दूसरे स्वर से होने लगता है। इसलिये योगी को प्राणायाम का अभ्यास शुरु करने पर पूरक उस स्वर से करना चाहिये जो चल रहा हो। कुम्भक करने के बाद दूसरे स्वर से रेचक करना चाहिये। ऐसा करने पर प्राण दोनों नाड़ियों में समान गति से चलने लगता है और प्राणायाम सरलता से होने लगता है।

पूरकं द्वादशं कुर्यात् कुम्भकं षोडशं भवेत्।
रेचकं दश चोंकारः प्राणायामः स उच्यते।।१०३।।

ओ३म् का बारह बार जप करते हुए पूरक करना चाहिये या श्वास भरना चाहिये। १६ मात्राओं तक अर्थात् १६ बार तक प्रणव जप होने तक कुम्भक करना चाहिये या प्राणवायु रोकनी चाहिये। इसके बाद दस बार तक प्रणव जाप करते हुए श्वास निकालना या रेचक करना चाहिये।

अधमे द्वादशमात्रा मध्यमे द्विगुणा मता।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः।।१०४।।

अधम प्राणायाम में १२ मात्राओं से पूरक किया जाता है। मध्यम प्राणायाम में २४ मात्राओं से और उत्तम प्राणायान में ३६ मात्राओं से पूरक किया जाता है।

अधमे स्वेदजननं कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्।।१०५।।

अधम प्राणायाम में शरीर में पसीना आता है। मध्यम प्राणायाम में शरीर में कभी-कभी कंपकपी आती है। उत्तम प्राणायाम में **'स्थानमाप्नोति'** से क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट नहीं है। किन्तु घेरण्डसंहिता के अनुसार उत्तम प्राणायाम में योगी का शरीर भूमि से ऊपर उठ जाता है **''उत्तमाच्च भूमित्यागः।''** ५/५५।।

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम्।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत्।।१०६।।

योगी पद्मासन में बैठकर अपने गुरुदेव और शिव को नमस्कार करके और नाक के अगले भाग पर दृष्टि जमाकर एकान्त स्थान में प्राणायाम का अभ्यास करे।

द्वाराणां नव संनिरुध्य मरुतं बध्वा दृढां धारणां
नीत्वा कालमपानवह्निसहितं शक्त्या समं चालितम्।
आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि स्थिरम्-
यावत्तिष्ठति तावदेव महतां सङ्गो न संस्तूयते।।१०७।।

योगी पद्मासन लगाकर शरीर के नौ द्वारों अर्थात् दो आँखों, दो कानों, दो नास्त्ररन्ध्रों, मुख, गुदा और उपस्थ को बन्द करके परमात्मा का ध्यान करे। अपान वायु को अग्नि के साथ प्राणायाम और शक्तिचालन मुद्रा से कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्ना में प्रविष्ट कराये। फिर कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार आदि छह चक्रों में क्रमशः ले जाकर सहस्त्रार चक्र में पहुँचा दे। और सहस्त्रार चक्र में तुरीय तत्त्व का साक्षात् करे। इस साक्षात्कार के समय योगी को किसी महात्मा के साथ की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये। योगी जब तक सहस्त्रार में आत्मसाक्षात्कार नहीं करता तब तक उसे महात्माओं का साथ करना चाहिये।

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा।।१०८।।

प्राणायाम पाप की लकड़ियों को जला डालता है। योगी भवसागर पार करने के लिये प्राणायाम को पुल बताते हैं।

आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति।।१०९।।

आसनों के अभ्यास से रोग नष्ट हो जाते हैं। प्राणायाम से पाप दूर हो जाते हैं। योगी प्रत्याहार का अभ्यास करके अपने मन के विकार दूर कर देता है।

धारणाभिर्मनोधैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्।।११०।।

धारणा के अभ्यास से मन का धैर्य आश्चर्यजनक चैतन्य शक्ति से भर

जाता है। योगी अपने शुभ और अशुभ कर्म त्याग कर समाधि से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः।
प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा।।१११।।
धारणाद्वादश प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते।।११२।।

बारह प्राणायाम करने से प्रत्याहार होने लगता है। अर्थात् मन और इन्द्रियाँ संसार के विषय-भोगों से दूर होने लगती हैं। प्राणायाम का अभ्यास बढ़ाकर अर्थात् १२ बार प्रत्याहार का अभ्यास करने पर मन में धारणा की वृत्ति उदय होने लगती है। तात्पर्य यह है कि प्राणायाम का अभ्यास बढ़ाकर १४४ प्राणायाम करने पर मन में कोई विषय या विचार धारण करने की शक्ति अर्थात् धारणा शक्ति बढ़ने लगती है। धारणा की वृत्ति को दृढ़ या स्थायी करने के लिये प्राणायाम का अभ्यास और अधिक बढ़ाने पर अर्थात् धारणा लाने वाला प्राणायाम बारह बार करने पर ध्यान लगने लगता है और ध्यान लगाने वाला प्राणायाम बारह बार करने से समाधि लगने लगती है।

इन श्लोकों का भावार्थ यही है कि साधक प्राणायाम का अभ्यास जितना अधिक बढ़ाता जाता है उतना ही अधिक उसका मन एकाग्र होने लगता है। मन एकाग्र करने के लिये प्राणायाम सर्वोत्तम साधन है।

इन श्लोकों के अनुसार प्रतिदिन बारह प्राणायाम करने से मन विषयों से उदासीन होने लगता है अर्थात् मन और इन्द्रियों में प्रत्याहार की भावना बढ़ने लगती है। भोग-विषयों की ओर जाने वाली इन्द्रियाँ और मन सांसारिक विषय-भोगों से हटकर अन्तर्मुख होने लगता है। प्रत्याहार का अर्थ है पीछे हटना अर्थात् विषयों की ओर न जाकर उनसे दूर रहना। इन्द्रियाँ, सांसारिक विषय-भोगों से हटकर अन्तर्मुख अर्थात् अपने हृदय या अन्तःकरण में देखने लगती हैं। प्रत्याहार का अभ्यास बढ़ने पर धारणा होने लगती है अर्थात् मन एक ही स्थान पर ठहरने लगता है। धारणा के अभ्यास के समय मन कभी-कभी भटक जाता है किन्तु ध्यान में मन की एकाग्रता

बढ़ जाती है। धारणा में होने वाला ज्ञान पानी की टपकती हुई एक-एक बूंद के समान है किन्तु ध्यान में यह ज्ञान मधु या तेल की धारा की तरह एकतार या एकतान हो जाता है।

समाधि में चित्त पूरी तरह स्थिर हो जाता है। समाधि में योगी अपने को भूले हुए की तरह इच्छित विषय पर मन को स्थिर रखता है। जैसे नमक पानी में घुल जाता है वैसे ही योगाभ्यास के द्वारा जब मन, आत्मा में लीन हो जाता है उस अवस्था को समाधि कहा जाता है। योगाभ्यास से प्राणवायु क्षीण होकर मन के साथ समरस हो जाता है वह भी समाधि की अवस्था होती है।

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्।
तस्मिन् दृष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते।।११३।।

समाधि लगने पर सारे संसार को व्याप्त करने वाले अनन्त और उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर योगी सांसारिक कर्मों के बन्धन से छूट जाता है। वह जन्म-मरण के चक्र से भी छूटकर मुक्त हो जाता है।

षण्मुखी मुद्रा

सम्बद्धासन मेढ्रमंघ्रि युगलं कर्णाक्षिनासापुटाद्
द्वाराण्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम्।
बध्वा वक्षसि वह्न्यपानसहितं मूर्ध्नि स्थिरं धारये
देवं यान्ति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरास्तन्मनः।।११४।।

मेढ्र अर्थात् लिंगमूल के ऊपर-नीचे दोनों जांघें रखकर अर्थात् सिद्धासन में बैठकर, हाथों के अंगूठों से कानों, तर्जनी अंगुलियों से आँखों, मध्यमा अंगुलियों से नाक के दोनों स्वरों, और अनामिका तथा कनिष्ठिका अंगुलियों से मुख बन्द करके मुख से श्वास भरे अर्थात् षण्मुखी मुद्रा करे। अब मूलाधार की अग्नि और अपान वायु को प्राणवायु में मिलाकर इसे सुषुम्ना के रास्ते सहस्रार में ले जाना चाहिये। इस प्रकार परमात्मा का ध्यान करके योगी परमात्मा के ध्यान में तन्मय हो जाता है और परमात्मतत्त्व के समान बन जाता है। अर्थात् परमात्मतत्त्व से मिल जाता है।

अनाहत नाद

गगने पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां नादसिद्धिरुदीरिता।।११५।।

उपरोक्त श्लोक के अनुसार षण्मुखी मुद्रा में प्राणायाम का अभ्यास करने से जब प्राणवायु सहस्रार चक्र में पहुँच जाता है तब घण्टे, घड़ियाल आदि बाजों जैसा शब्द कानों में सुनाई देने लगता है। अनाहत नाद सुनाई देने पर नाद सिद्धि होती है।

प्राणायाम का फल

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः।।११६।।

उचित रीति से प्राणायाम का अभ्यास करने पर शरीर के सारे रोग दूर हो जाते हैं। प्राणायाम न करने से शरीर में तरह-तरह के रोग हो जाते हैं।

गोरक्षपद्धति के श्लोक २/१८ की दूसरी पंक्ति में **'प्राणायामवियुक्तेभ्यः'** के स्थान पर **'अयुक्ताभ्यासयोगेन'** शब्द है जिसका अर्थ है गलत ढंग से प्राणायाम करने से सभी रोग शरीर में आ जाते हैं। प्रसंग के अनुसार गोरक्षपद्धति के शब्द उपयुक्त लगते हैं।

हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदना।
भवन्ति विविधा रोगा पवनव्यत्ययक्रमात्।।११७।।

गलत ढंग से प्राणायाम करने से शरीर में प्राणवायु कुपित हो जाता है और हिचकी, खाँसी, श्वास चलना, सिर, कानों और आँखों में दर्द आदि अनेक रोग शरीर में पैदा हो जाते हैं।

यथासिंहो गजो व्याघ्रो भवेद् वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्।।११८।।

जैसे शेर, हाथी, चीते आदि जंगली पशुओं को धीरे-धीरे वश में किया जाता है। जंगली पशुओं को वश में किये बिना ही उनके पास जाने पर वे मार डालते हैं वैसे ही प्राणवायु को उचित विधि द्वारा वश में न करने पर साधक का शरीर नष्ट हो जाता है।

युक्तं युक्तं त्यजेद् वायुं युक्तं युक्तं प्रपूरयेत्।
युक्तं युक्तं प्रबध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात्।।११९।।

प्राणायाम करते समय श्वास धीरे-धीरे छोड़ना चाहिये और धीरे-धीरे ही भरना चाहिये। श्वास रोकने का समय भी धीरे-धीरे और उचित रीति से बढ़ाना चाहिये। ऐसा करने से ही सफलता मिलती है।

प्रत्याहार

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते।।१२०।।
यथा तृतीयकाले तु रविः प्रत्याहरेत् प्रभाम्।
तृतीयांगस्थितो योगी विकारं मानसं हरेदि त्युपनिषत्।।१२१।।

हमारे आँख कान आदि देखने सुनने का काम करते हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों को देखने-सुनने आदि से हटाने का अभ्यास प्रत्याहार कहलाता है। जैसे सूर्य तीसरे पहर में अपनी गर्मी और चमक वापस ले लेता है वैसे ही आसन और प्राणायाम का अभ्यास करने के बाद योगी तीसरे अंग प्रत्याहार के अभ्यास से मन के दोष दूर करता है।

।।योगचूडामण्युपनिषद्समाप्ता।।

१६

योगतत्त्वोपनिषद्

ओ३म् सहनाववत्विति शान्तिः!

योगैश्वर्यं च कैवल्यं जायते यत् प्रसादतः।
तद् वैष्णवं योगतत्त्वं रामचन्द्रपदं भजे।।

योगतत्त्वोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें मन्त्र योग, लययोग, राजयोग, आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था, निष्पत्ति अवस्था, उन्मनी अवस्था के वर्णन के साथ-साथ यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि और इनके उपाय महामुद्रा, तीन बन्ध और खेचरी विद्या की विधि भी बताई गई है।

अष्टांगयोग जिज्ञासा

योगतत्त्वं प्रवक्ष्यामि योगिनां हितकाम्यया।
यच्छुत्वा च पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्चते।।१।।

मैं योगियों का भला करने के लिये योगतत्त्व का उपदेश दे रहा हूँ। इसे सुनकर और पढ़कर साधक सभी पापों से छुटकारा पा जाता है।

विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः।
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः।।२।।

विष्णु नाम के महायोगी महान तपस्वी, महापुरुष और पुरुषोत्तम हैं। वे तत्त्वमार्ग के दीपक या प्रकाशक हैं।

तमाराध्य जगन्नाथं प्रणिपत्य पितामह।
पप्रच्छ योगतत्त्वं मे ब्रूहि चाष्टांगसंयुतम्।।३।।

ब्रह्मा जी ने उनकी उपासना की और उनके चरणों में प्रणाम कर निवेदन किया कि आप अष्टांग सहित योगतत्त्व का उपदेश मुझे देने की कृपा कीजिये।

तमुवाच हृषीकेशो वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः।
सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः।।४।।

इन्द्रियजयी विष्णु ने ब्रह्मा से कहा तुम मेरा यह उपदेश ध्यानपूर्वक सुनो। संसार के सभी प्राणी सुख-दुख और माया-मोह के बन्धन पड़े हुए हैं।

तेषां मुक्तिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधि नाशनं मृत्युतारकम्।।५।।

जीवों की मुक्ति का उपाय माया-मोह के जाल को काट डालना ही है। योगाभ्यास जन्म-मरण, बुढ़ापे और बीमारियों को नष्ट करता है और मृत्यु से पीछा छुड़ाता है।

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम्।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया स्वेन मोहिताः।।६।।

कैवल्य या मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ पद अनेक प्रकार के उपायों से प्राप्त करना कठिन है। मनुष्य शास्त्रज्ञान के झण्झट में और अपनी बुद्धिमत्ता में फंसे हुए हैं।

अनिर्वाच्यं पदं वक्तुं न शक्यं तं सुरैरपि।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते।।७।।

देवता भी उस अवर्णनीय मोक्षपद का वर्णन नहीं कर सकते। यह मोक्षपद अपनी आत्मा का स्वरूप बताता है इसे क्या शास्त्रों द्वारा बताया जा सकता है?

निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम्।
तदेव जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्युतम्।।८।।
परमात्मपदं नित्यं तत् कथं जीवतां गतम्।
सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम्।।९।।

यह परमात्मपद; सभी अंगों-प्रत्यंगों से रहित है, निर्लेप और क्लेश रहित है। नीरोग है और सभी प्रकार के दोषों से दूर है। शान्त, निर्मल और नित्य है। ज्ञान स्वरूप है और संसार के सभी पदार्थों से परे है। यह पद सभी भावों अर्थात् प्रकृति के सत्व, रज, तम इन तीन गुणों के परिणामों और भावों से परे है। यह परमात्मपद; जीवात्मा कैसे बन गया, क्योंकि जीवात्मा पाप और पुण्य के फलों से बंधा है?

वारिवत् स्फुरितं तस्मिंस्तत्राहंकृतिरुत्थिता।
पञ्चात्मकमभूतपिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम्।।१०।।

परमात्मपद में अहंकार या अहम्भाव उसी प्रकार स्फुरित हुआ जैसे हल्की वायु के झोंके से पानी में लहरें उठने लगती हैं। एकत्व, बहुत्व, व्यष्टि, समष्टि आदि सभी तरह की भिन्नता पैदा करने वाले महत्तत्व का विषम परिणाम अहंकार है। प्रकृति के सत्व गुण में रजस् और तमस् गुणों का प्रथम विषम परिणाम महत्तत्व कहलाता है। महत्तत्व ही चित्त या बुद्धि है। प्रकृति के सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था (प्रकृति) में परिवर्तन विषम परिणाम कहलाता है।

अहंकार के बाद पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत अत्यन्त सूक्ष्म रूप में या तन्मात्र रूप में प्रकट हुए। इन पञ्चतन्मात्राओं से पृथिवी, जल आदि पाँच महाभूत उत्पन्न हुए। इसके बाद पाँच महाभूतों से शरीर -को बनाने वाले सात मूलतत्त्वों रस (अन्नरस), रक्त, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात धातुओं से बंधे हुए सत्व, रज, तम इन तीन गुणों वाले या त्रिगुणात्मक और पंचभूतात्मक पिण्ड या शरीर उत्पन्न हुए।

सुखदुःखैः समायुक्तं जीवभावनया कुरु।
तेन जीवाभिधा प्रोक्ता विशुद्धैः परमात्मनि।।११।।

इन पिण्डों या शरीरों में सुख-दुख वाला जो चैतन्य है वही जीवात्मा है। यह जीवात्मा, विशुद्ध परमात्मा का अंश ही है। प्रकृति के स्वाभाविक गुणों से अर्थात् सत्व, रज, तम से रहित जीव ही परमात्मा है।

कामक्रोधभयं चापि मोहलोभमदो रजः।
जन्ममृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृषा।।१२।।

तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः केवलो मतः।।१३।।

काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, घमण्ड, चंचलता, जन्म, मृत्यु, कायरता, शोक, आलस्य, भूख, प्यास, तृष्णा, लज्जा, भय, दुख, हर्ष, विषाद या अवसाद इन सब दोषों से रहित जीव केवल ब्रह्म ही है।

ज्ञान और योग का एक साथ अभ्यास

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते।
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।।१४।।

इसलिये इन दोषों को दूर करने के उपाय बतलाता हूँ क्योंकि योगाभ्यास न करने वाले को केवल शास्त्रों का ज्ञान मोक्ष नहीं दिला सकता।

योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्।।१५।।

ज्ञानहीन व्यक्ति योगाभ्यास के द्वारा मोक्ष नहीं पा सकता। इसलिये मोक्ष चाहने वाले को शास्त्रों का ज्ञान और योगाभ्यास ये दोनों ही उपाय करने चाहियें।

ज्ञान का स्वरूप

अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञानं ज्ञेयैकसाधनम्।।१६।।

अज्ञान के कारण ही संसार की भ्रान्ति हो रही है। यह भ्रम शास्त्र-ज्ञान से नष्ट हो जाता है। सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही था। इस जानने योग्य ब्रह्म का ज्ञान केवल शास्त्रों से ही होता है।

ज्ञातं येन निजं रूपं कैवल्यं परमं पदम्।
निष्कलं निर्मलं साक्षात् सच्चिदानन्दरूपकम्।।१७।।
उत्पत्ति स्थिति संहार स्फूर्ति ज्ञान विवर्जितम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमथ योगं ब्रवीमि ते।।१८।।

जिस योगी ने अपना स्वरूप जान लिया है यह स्वरूप कैवल्यावस्था का परम पद है। ब्रह्म; निष्कल, निर्मल और साक्षात् सच्चिदानन्द स्वरूप है। यह सृष्टि; प्रकृति के स्वाभाविक नियम से उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इन तीन अवस्थाओं में आती है यह सविशेष ब्रह्म का ज्ञान है। इस ज्ञान से रहित ज्ञान ही निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान है।

सविशेष और निर्विशेष ब्रह्म के इस ज्ञान के बाद योग का ज्ञान बतलाता हूँ।

मन्त्रयोगादि से युक्त चार प्रकार का योग

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः।।१९।।

अलग-अलग उपाय अपनाने के कारण योग के अनेक प्रकार हो जाते हैं जैसे मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग।

योग की आरम्भादि अवस्थाएँ

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः स्मृतः।
निष्पत्तिश्चेत्यवस्था च सर्वत्र परिकीर्तिता।।२०।।

चित्तवृत्ति निरोध के उपायों में अनाहत नाद की चार अवस्थाएँ होती हैं– आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था।

मन्त्रयोग का लक्षण

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन् वक्ष्ये शृणु समासतः।
मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्।।२१।।
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्।
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः।।२२।।

इनके लक्षण संक्षेप में बताता हूँ।

मातृक अर्थात् अक्षरों या वर्णों से बने मन्त्रों का जो व्यक्ति १२ वर्षों तक जप करता है उसे धीरे-धीरे अणिमा आदि सिद्धियों का ज्ञान हो जाता है। मन्त्रयोग का सहारा कम बुद्धि वाले साधक लेते हैं।

लययोग का लक्षण

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन् ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम्।।२३।।

लययोग का अभिप्राय चित्त लय अर्थात् विवेकख्याति है। विवेक-ख्याति की अवस्था में बुद्धि और पुरुषस्वरूप का भेद पता चलने पर चित्त का अधिकार समाप्त हो जाता है। चित्तलय की अत्यधिक सराहना की जाती है इसलिये उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते सदा निष्कल ईश्वर का ध्यान करना चाहिये। यही लय योग है।

हठयोग

स एव लययोगः स्याद्हठयोगमतः शृणु।
यमश्च नियमश्चैव आसनं प्राणसंयमः।।२४।।
प्रत्याहारो धारणा ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम्।
समाधिः समतावस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते।।२५।।

अब हठयोग को सुनो। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, भ्रूमध्य में परमेश्वर का ध्यान और समाधि हठयोग के ये आठ अंग हैं। जीवात्मा और परमात्मा के बीच समतावस्था आ जाना ही समाधि होती है।

हठयोग के अंग

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरोड्डियाणश्च मूलबन्धस्तथैव च।।२६।।

महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध और खेचरी ये मुद्राएँ तथा जालन्धर, उड्डियान और मूलबन्ध ये तीन बन्ध हठयोग के प्रधान अंग हैं।

दीर्घप्रणवसन्धानं सिद्धान्तश्रवणं परम्।
वज्रोली चामरोली च सहजोली त्रिधा मता।।२७।।

प्रणव का या ओ३म् का लम्बी अवधि तक जप, शास्त्रों का स्वाध्याय और उनके सिद्धान्तों पर चर्चा, वज्रोली, अमरोली और सहजोली ये तीन भी हठयोग के अंग हैं। इनमें से अन्तिम तीन वज्रोली आदि का अभ्यास तान्त्रिक करते हैं। ये क्रियाएँ वाममार्गियों की हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में इन्हें अपनाया नहीं जाता क्योंकि वज्रोली आदि के अभ्यास में युवती स्त्री का साथ आवश्यक होता है इसलिये इसमें प्रतिक्षण पथ भ्रष्ट होने की आशंका बनी रहती है।

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन् प्रत्येकं शृणु तत्त्वतः।
लध्वाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतरः।।२८।।
अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन।

ब्रह्मा जी! इनमें से प्रत्येक अंग के लक्षण सुनिये। पाँच यमों में लघु आहार या नपा-तुला भोजन मुख्य है। नियमों में अहिंसा मुख्य है।

मुख्य आसन

सिद्धं पद्मं तथा सिंह भद्रं चेति चतुष्टयम्।।२९।।

आसनों में सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन ये चार आसन ध्यान करने के लिये उपयोगी हैं।

योगाभ्यास के विघ्नों का त्याग

प्रथमाभ्यासकाले तु विघ्नाः स्युश्चतुरानन।
आलस्यं कत्थनं धूर्तगोष्ठी मन्त्रादिसाधनम्।।३०।।
धातुस्त्रीलौल्यकादीनि मृगतृष्णामयानि वै।
ज्ञात्वा सुधीस्त्यजेत् सर्वान् विघ्नान् पुण्यप्रभावतः।।३१।।

योगाभ्यास के प्रारम्भ में अनेक विघ्न-बाधाएँ आती हैं। इनमें आलस्य, आत्मप्रशंसा, धूर्त लोगों के साथ उठना-बैठना, मन्त्र आदि सिद्ध करना इन्द्रियों का शब्द, स्पर्श आदि रूप, रस, गन्ध, विषय-भोगों की ओर खिंचना और स्त्री का साथ करने की इच्छा आदि ये सब विघ्न मृगतृष्णा के

समान भ्रम में डालने वाले हैं यह बात समझकर, समझदार साधक को अपने पुण्य कर्मों के प्रभाव से इन विघ्नों को छोड़ देना चाहिये।

प्राणायाम के योग्य मठ और आसन

प्राणायामं ततः कुर्यात् पद्मासनगतः स्वयम्।
सुशोभनं मठं कुर्यात् सूक्ष्मद्वारं तु निर्व्रणम्।।३२।।

योगी को पद्मासन में बैठकर प्राणायाम करना चाहिये। योगाभ्यास के लिये योगी का सुन्दर मठ या छोटा कमरा होना चाहिये। कमरे का दरवाजा छोटा हो और इसकी दीवारों में छेद न हों।

सुष्ठु लिप्तं गोमयेन सुधया वा प्रयत्नतः।
मत्कुणैर्मशकैर्लूतैर्वर्जितं च प्रयत्नतः।।३३।।

इस कमरे को गाय के गोबर से लीपना चाहिये या चूने से इसकी पुताई करनी चाहिये। कमरे में खटमलों, मच्छरों और मकड़ियों को अच्छी तरह भगा देना चाहिये।

दिने-दिने च संमृष्टं सम्मार्जन्या विशेषतः।
वासितं च सुगन्धेन धूपितं गुग्गुलादिभिः।।३४।।

इस कमरे को प्रतिदिन झाडू से साफ करना चाहिये और गुग्गुल आदि से सुगन्धित रखना चाहिये।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।
तत्रोपविश्य मेधावी पद्मासनसमन्वितः।।३५।।

योगी का आसन बहुत ऊँचा या बहुत नीचा नहीं होना चाहिये। कुशा के आसन पर मृगचर्म बिछाकर और इसके ऊपर कपड़ा बिछाकर पद्मासन लगाना चाहिये।

ऋजुकायः प्राञ्जलिश्च प्रणमेदिष्टदेवताम्।
ततो दक्षिणहस्तस्य अङ्गुष्ठेनैव पिङ्गलाम्।।३६।।

सिर गर्दन और कमर सीधी करके बैठना चाहिये। हाथ जोड़कर

इष्टदेवता को प्रणाम करना चाहिये। दांये हाथ के अंगूठे से पिंगला या दांये स्वर की सूर्य नाड़ी को

प्राणायाम की विधि

निरुध्य पूरयेद्वायुमिडया तु शनैः शनैः।
यथाशक्त्याविरोधेने ततः कुर्याच्च कुम्भकम्।।३७।।

बन्द करके इडा या बांये स्वर से धीर-धीरे प्राणवायु को फेफड़ों में भरना चाहिये या पूरक करना चाहिये। यथाशक्ति और जोर लगाये बिना श्वास को अन्दर रोकना चाहिये अर्थात् कुम्भक करना चाहिये।

पुनस्त्यजेत् पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः।
पुनः पिङ्गलयापूर्य पूरयेदुदरं शनैः।।३८।।

फिर पिंगला से या दांये स्वर से धीरे-धीरे झटका दिये बिना श्वास निकाल देना चाहिये।

फिर पिंगला से श्वास धीरे-धीरे भरना चाहिये।

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदिडया शनैः।
यया त्यजेत् तयापूर्य धारयेदविरोधतः।।३९।।

श्वास को यथाशक्ति रोककर इडा या बांये स्वर से श्वास धीरे-धीरे निकालना चाहिये। जिस स्वर से श्वास निकाला जाय उसी स्वर से श्वास भरकर श्वास को यथाशक्ति रोकना चाहिये।

मात्रा

जानुप्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्।
अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात् सा मात्रा परिगीयते।।४०।।

घुटने पर न धीरे और न ही जल्दी हथेली घुमाकर चुटकी बजाने में जितना समय लगता है वह समय एक मात्रा कहलाता है।

इडया वायुमारोप्य शनैः षोडशमात्रया।
कुम्भयेत् पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया।।४१।।

इडा नाड़ी से सोलह मात्रा के समय में प्राणवायु भर कर इसे चौंसठ मात्राओं तक अन्दर रोकना चाहिये।

रेचयेत् पिङ्गलानाड्या द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः।
पुनः पिङ्गलयापूर्य पूर्ववत् सुसमाहितः।।४२।।

कुम्भक करने के बाद पिंगला नाड़ी से या दांये स्वर से ३२ मात्रा की अवधि में श्वास निकाल दे। फिर ध्यानपूर्वक पिंगला से श्वास भरे।

प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्।।४३।।

सवेरे, दोपहर, शाम और आधी रात में चार बार कुम्भक प्राणायाम करना चाहिये और कुम्भक प्राणायामों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ाकर अस्सी तक कर देनी चाहिये।

एवं मासत्रयाभ्यासान्नाडीशुद्धिस्ततो भवेत्।
यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तदा चिन्हानि बाह्यतः।।४४।।
जायन्ते योगिनो देहे तानि वक्ष्याम्यशेषतः।
शरीरलघुता दीप्तिठराग्निविवर्धनम्।।४५।।
कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत निश्चितम्।

तीन महीने तक यह नाड़ी शोधन प्राणायाम करने से शरीर की सभी नस-नाड़ियों में भरा मैल निकल जाता है। शरीर की नाड़ी शुद्धि हो जाने पर योगी के शरीर में हल्कापन अनुभव होने लगता है। उसके मुख पर तेज चमकता है। पाचन शक्ति बढ़ जाती है और शरीर निश्चय ही छरहरा हो जाता है।

योगविघ्नकराहारं वर्जयेत् योगवित्तमः।।४६।।
लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम्।
शाकजातं रामठादि वह्नि स्त्री पथसेवनम्।।४७।।

योगाभ्यास में बाधा डालने वाले भोजन को योगी छोड़ दे। नमक, सरसों, खट्टा, गर्म, रूखा, तीखा, शाक-सब्जी, हींग आदि मसालों वाला भोजन योगी को नहीं करना चाहिये। उसे अग्नि सेवन, स्त्रीसंग और यात्रा भी नहीं करनी चाहिये।

प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशांश्च वर्जयेत्।
अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम्।।४८।।

योगाभ्यास के प्रारम्भ में सवेरे नहाना, उपवास रखना आदि शरीर को कष्ट देने वाले काम न करे। योगाभ्यास के प्रारम्भ में दूध-घी वाला भोजन अच्छा होता है।

गोधूम मुद्ग शाल्यन्नं योगवृद्धिकरं विदुः।
ततः परं यथेष्टं तु शक्तः स्याद्वायु धारणे।।४९।।

गेहूँ, मूंग, चावल आदि का भोजन योगाभ्यास को बढ़ाता है। इस भोजन से योगी काफी देर तक कुम्भक प्राणायाम करने लगता है।

यथेष्टधारणाद्वायोः सिध्येत् केवलकुम्भकः।
केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरविवर्जिते।।५०।।

काफी समय तक वायु रोके रखने का अभ्यास हो जाने पर केवल कुम्भक प्राणायाम सिद्ध हो जाता है। केवल कुम्भक प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर रेचक और पूरक की आवश्यकता नहीं रहती।

न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
प्रस्वेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कारयेत्।।५१।।

केवल कुम्भक सिद्ध योगी के लिये तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता।

प्राणायाम शुरू करने पर पहिले शरीर में पसीना आता है। इस पसीने से शरीर की मालिश करनी चाहिये।

ततोऽपि धारणाद् वायोः क्रमेण शनैः शनैः।
कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः।।५२।।

प्राणायाम का अभ्यास बढ़ने पर धीरे-धीरे वायु को रोकने की अवधि बढ़ानी चाहिये। कुम्भक की अवधि बढ़ने पर आसन पर बैठे-बैठे शरीर कभी-कभी कांप उठता है।

ततोऽधिकतराभ्यासाद् दार्दुरीस्वेन जायते।
यथा च दर्दुरोभाव उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छति।।५३।।

कुम्भक का अभ्यास तथा समय और अधिक बढ़ने पर योगी का शरीर मेंढ़क की तरह आसन से स्वयं ही उछलने लगता है।

पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले।
ततोऽधिकतराभ्यासाद् भूमित्यागश्च जायते।।५४।।

पद्मासन में बैठा योगी जमीन पर मेंढ़क की तरह उछल-उछल कर चलने लगता है। प्राणायाम का अभ्यास और बढ़ने पर योगी का शरीर जमीन छोड़ देता है।

पद्मासनस्थ एवासौ भूमिमुत्सृज्य वर्तते।
अतिमानुषचेष्टादि तथा सामर्थ्यमुद्भवेत्।।५५।।

पद्मासन में ही योगी भूमि से उठकर आकाश में लटका रहता है। उसमें मनुष्यों से अधिक शक्ति और सामर्थ्य आ जाती है।

न दर्शयेच्च सामर्थ्यं दर्शनं वीर्यवत्तरम्।
स्वल्पं वा बहुधा दुःखं योगी न व्यथते तदा।।५६।।

योगी को अपनी बलशाली शक्तियों का प्रदर्शन नहीं करना चाहिये। योगी को छोटे-बड़े दुखों से कोई व्यथा या पीड़ा नहीं होती।

अल्पमूत्रपुरीषं च स्वल्पनिद्रश्च जायते।
कीलवो दूषिका लाला स्वेददुर्गन्धितानने।।५७।।
एतानि सर्वथा तस्य न जायन्ते ततः परम्।

योगी का मल-मूत्र कम हो जाता है। उसे थोड़े समय तक नींद आती है। बदबूदार लार नहीं बहती। पसीने से उसके शरीर में दुर्गन्ध आदि नहीं रहती और उसके मुख से दुर्गन्ध भी नहीं आती।

ततोऽधिकतराभ्यासाद् बलमुत्पद्यते बहुः।।५८।।
येन भूचरसिद्धिः स्यात् भूचराणां जये क्षमः।
व्याघ्रो वा शरभो वापि गजो गवय एव वा।।५९।।
सिंहो वा योगिना तेन म्रियन्ते हस्तताडिताः।

प्राणायाम का और अधिक अभ्यास करने पर योगी का शरीर बहुत बलवान हो जाता है और उसे भूचर सिद्धि हो जाती है। इस सिद्धि के द्वारा वह पृथ्वी के प्राणियों को अपने वश में कर सकता है। शेर, बाघ, शरभ, हाथी, गवय ये सभी जंगली जन्तु योगी के हाथ मारने से मर जाते हैं।

कन्दर्पस्य यथा रूपं तथा स्यादपि योगिनः।।६०।।
तद्रूपवशगा नार्यः काङ्क्षन्ते तस्य सङ्गमम्।
यदि संगं करोत्येष तस्य बिन्दुक्षयो भवेत्।।६१।।

योगी के शरीर का रूप कामदेव जैसा हो जाता है। उसके रूप पर मोहित होकर स्त्रियाँ उसके साथ समागम करना चाहती हैं। यदि योगी स्त्रियों के साथ समागम करता है तो उसका वीर्य नष्ट हो जाता है।

वर्जयित्वा स्त्रियाः संगं कुर्यादभ्यासमादरात्।
योगिनोऽङ्गे सुगन्धश्च जायते बिन्दु धारणात्।।६२।।

योगी को स्त्री समागम त्यागकर प्राणायाम का अभ्यास आदर के साथ करते रहना चाहिये। इसके कारण शरीर में वीर्य रुका रहता है और योगी के शरीर में सुगन्ध आने लगती है।

ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया।
जपेत् पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे।।६३।।

प्राणायाम के अभ्यास के बाद योगी को एकान्त में बैठकर प्रणव जप ऊँची आवाज से करना चाहिये। प्रणवजप से उसके पिछले जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं।

सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा।
एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसम्भवा।।६४।।

प्रणव मन्त्र के जप से सारी विघ्न-बाधाएँ और सारी बुराइयाँ दूर हो जाती हैं और योगी के शरीर में सिद्धियाँ आरम्भ हो जाती हैं।

हठावस्था

ततो भवेद् हठावस्था पवनाभ्यासतत्परा।
प्राणोऽपानो मनोबुद्धिर्जीवात्मपरमात्मनोः।।६५।।
अन्योन्यस्याविरोधेन एकता घटते यदा।
हठावस्थेति सा प्रोक्ता तच्चिह्नानि ब्रवीम्यहम्।।६६।।

प्राणायाम का अभ्यास करते रहने से हठावस्था आ जाती है। जब प्राण-अपान, मन-बुद्धि और आत्मा-परमात्मा के बीच किसी विरोध या

रुकावट के बिना एकता स्थापित हो जाती है तब हठावस्था कहलाती है जिसके लक्षण बताता हूँ।

पूर्वं यः कथितोऽभ्यासश्चतुर्थांशं परिग्रहेत्।
दिवा वा यदि वा सायं याममात्रं समभ्यसेत्।।६७।।
एकवारं प्रतिदिनं कुर्यात् केवलकुम्भकम्।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत् प्रत्याहरणं स्फुटम्।।६८।।
योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते।

पहिले प्राणायाम का जो अभ्यास बताया गया था अब उस अभ्यास को चौथाई भाग ही करे अर्थात् दिन, रात, दोपहर और शाम को चार बार अभ्यास करने की जगह प्रतिदिन एक बार ही केवल-कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करे।

आँख, कान आदि इन्द्रियों को उनके रूप, रस आदि विषयों से हटाना प्रत्याहार होता है। योगी को प्रत्याहार के अभ्यास में केवल कुम्भक करना चाहिये।

यद्यत् पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्।।६९।।
यद्यत् शृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्।
लभते नासया यद्यतत्तदात्मेति भावयेत्।।७०।।
जिह्वया यद् रसं हि अत्ति तत्तदात्मेति भावयेत्।
त्वचया यद्यत् स्पृशेत् योगी तत्तदात्मेति भावयेत्।।७१।।

योगी; आँखों से जो कुछ देखे, कानों से जो सुने, नाक से जो सुगन्ध-दुर्गन्ध ग्रहण करे, जीभ से जिस भोजन का स्वाद ले और त्वचा से जो वस्तु छुए उन सबमें आत्म भाव को या अपनेपन की भावना अनुभव करे।

एवं ज्ञानेन्द्रियाणां तु तत्तत् सौख्यं सुसाधयेत्।
याममात्रं प्रतिदिनं योगी यत्नाद् अतन्द्रितः।।७२।।

इस प्रकार योगी को प्रतिदिन एक घड़ी तक यत्न पूर्वक और सावधान मन से अपनी ज्ञानेन्द्रियों और भोग्य वस्तुओं के बीच मैत्री की भावना दृढ़ करनी चाहिये।

यथा वा चित्तसामर्थ्यं जायते योगिनो ध्रुवम्।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः क्षणाद्दूरागमस्तथा।।७३।।
वाक्सिद्धिः कामरूपत्वमदृश्यकरणी तथा।
मलमूत्रप्रलेपेन लोहादेः स्वर्णता भवेत्।।७४।।
खे गतिस्तस्य जायेत संतताभ्यासयोगतः।
सदा बुद्धिमता भाव्यं योगिना योगासिद्धये।।७५।।

जब योगी के मन की शक्ति स्थायी रूप से बहुत बढ़ जाती है तब उसे दूर का शब्द सुनने, दूर की वस्तु देखने, क्षण में बहुत दूर चले जाने, वाणी की सिद्धि, अपना रूप बदल लेने की और अदृश्य हो जाने की सिद्धियाँ हो जाती हैं। वह अपने मल-मूत्र का लेप करके लोहे आदि को सोने में भी बदल सकता है। योग के निरन्तर अभ्यास से वह आकाश में भी चल-फिर सकता है। इसलिये योग की सिद्धियों के बारे में बुद्धिमान योगी को गम्भीरता से सोचना चाहिये।

एते विघ्ना महासिद्धेर्न रमेत् तेषु बुद्धिमान्।
न दर्शयेत् स्वसामर्थ्यं यस्यकस्यापि योगिराट्।।७६।।

ये सिद्धियाँ; महासिद्धि अर्थात् मोक्षप्राप्ति में विघ्न-बाधाएँ उत्पन्न करती हैं इसलिये बुद्धिमान योगी को इन सिद्धियों में नहीं फंसना चाहिये। उसे अपनी इस शक्ति का किसी के सामने भी प्रदर्शन नहीं करना चाहिये।

यथा मूढो यथा ह्यन्धो यथा बधिर एव वा।
तथा वर्तेत लोकस्य स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये।।७७।।

योगी को अपनी इस शक्ति को छिपाये रखने के लिये संसार में मूर्ख; और अन्धे-बहरे की तरह आचरण करना चाहिये।

शिष्याश्च स्व स्वकार्येषु प्रार्थयन्ति न संशयः।
तत्तत् कर्मकरव्यग्रः स्वाभ्यासेऽविस्मृतो भवेत्।।७८।।

उसके शिष्य अपने-अपने कार्यों के लिये योगी का समय चाहते ही हैं इसलिये शिष्यों के काम में व्यस्त रहकर उसे अपना अभ्यास नहीं भूलना चाहिये।

अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमभ्यसेत्तदहर्निशम्।
एवं भवेद् हठावस्था संततााभ्यासयोगतः।।७९।।

अपने गुरु की बात न भूलकर योगी को दिन-रात योगाभ्यास करते रहना चाहिये। निरन्तर योगाभ्यास करने से हठावस्था उत्पन्न हो जाती है।

अनभ्यासवतश्चैव वृथागोष्ठ्या न सिद्ध्यति।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन योगमेव सदाभ्यसेत्।।८०।।

योगाभ्यास न करके व्यर्थ की बातें करने से योग सिद्धि नहीं होती इसलिये योगी को सभी तरह से प्रयत्न करके सदा योगाभ्यास करते रहना चाहिये।

परिचयावस्था

ततः परिचयावस्था जायतेऽभ्यासयोगतः।
वायुः परिचितो यत्नादग्निना सह कुण्डलीम्।।८१।।

योगाभ्यास जारी रखने से हठावस्था के बाद परिचयावस्था आती है। इस अवस्था में प्राणवायु और अपान वायु को एक करके इन्हें मूलाधार की कालाग्नि के साथ यत्न पूर्वक मिलाकर और कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर प्राणवायु को कुण्डलिनी शक्ति के साथ सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट कराया जाता है।

भावयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः।
वायुना सह चित्तं च प्रविशेच्च महापथम्।।८२।।

इस अवस्था में प्राणवायु कुण्डलिनी को साथ लेकर किसी रुकावट के बिना सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है और प्राणवायु के साथ चित्त भी सुषुम्ना या महापथ में प्रवेश कर जाता है।

यस्य चित्तं स्वपवनं सुषुम्नां प्रविशेदिह।
भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पञ्चकः।।८३।।
येषु पञ्चसु देवानां धारणा पञ्चधोच्यते।

जिस योगी की प्राणवायु चित्त के साथ सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है, वह पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पाँच भूतों की शक्तियों या देवों में किस प्रकार धारणा करे यह बताया जाता है।

पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते।।८४।।

पैरों से लेकर घुटनों तक पृथिवी स्थान है।

पृथिवी चतुरस्रं च पीतवर्णं ल वर्णकम्।
पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम्।।८५।।
ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरण्मयम्।
धारयेत् पञ्चघटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात्।।८६।।
पृथिवी योगतो मृत्युर्न भवेदस्य योगिनः।

पृथिवी का रूप चार कोशों वाला और पीले रंग का है। पृथिवी तत्त्व का बीजाक्षर 'लं' है। 'लं' बीज मन्त्र के साथ पार्थिव तत्त्व में या पृथिवी तत्त्व में प्राणवायु को मिलाकर चतुर्भुज और चार मुखों वाले तेजोमय ब्रह्मा जी का पाँच घड़ी तक ध्यान करते रहने से योगी पृथिवी तत्त्व पर अधिकार प्राप्त कर लेता है।

पृथिवी तत्त्व को वश में कर लेने वाले योगी की मृत्यु नहीं होती।

आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम्।।८७।।
आपोऽर्धचन्द्रं शुक्लं च वं बीजं परिकीर्तितम्।
वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितन्।।८८।।
स्मरन्नारायणं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनम्।
शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम्।।८९।।
धारयेत् पञ्चघटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते।
ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते।।९०।।

घुटनों से लेकर गुदा तक जल महाभूत का स्थान है। जल तत्त्व अर्धचन्द्राकार, सफेद है। जल का बीजमन्त्र 'वं' है। वारुण या जल तत्त्व में 'वं' बीजमन्त्र के साथ प्राणवायु को मिलाकर विष्णु देव का पाँच घड़ी तक ध्यान करना चाहिये। विष्णु का स्वरूप चतुर्भुज, मुकुट मण्डित, शुद्धस्फटिक के समान है। विष्णु पीले रंग के वस्त्र धारण करते हैं। जलतत्त्व में ध्यान करने से योगी को जल से कोई भय नहीं रहता और उसकी पानी में डूबने से मृत्यु नहीं होती।

आपायोर्हृदयान्तं च वह्निस्थानं प्रकीर्तितम्।
वह्निस्त्रिकोणं रक्तं च रेफाक्षरसमुद्भवम्।।९१।।
वह्नौचानिलमारोप्य रेफाक्षरसमुज्ज्वलम्।
त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसंनिभम्।।९२।।
भस्मोद्धूलित सर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन्।
धारयेत् पञ्चघटिका वह्निनासौ न दाह्यते।।९३।।
न दह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्निमण्डले।

गुदा से लेकर हृदय तक अग्नि तत्त्व का स्थान है। अग्नि तत्त्व का आकार त्रिकोण या त्रिभुज वाला है। इसका रंग लाल है और बीजमन्त्र 'रं' है। 'रं' बीज मन्त्र के साथ प्राणवायु को मिलाकर रुद्र या शिव जी का पाँच घड़ी तक नियमपूर्वक ध्यान करने वाले योगी को अग्नि नहीं जला सकती। प्रज्वलित अग्नि में भी उसका शरीर नहीं जलता। शिव के साथ तीन यक्ष रहते हैं। शिवजी भक्त को वरदान देते हैं। वे प्रदीप्त सूर्य के समान तेजोमय हैं। उनके शरीर पर भस्म लगी रहती है और उनके मुख पर प्रसन्नता छाई रहती है। इस स्वरूप वाले शिवजी का ध्यान करना चाहिये।

आहृदयाद् भ्रुवोर्मध्यं वायुस्थानं प्रकीर्तितम्।।९४।।
वायुः षट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षर भासुरम्।
मारुतं मरुतां स्थाने यकाराक्षर भासुरम्।।९५।।
धारयेत् तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वतोमुखम्।
धारयेत् पञ्चघटिका वायुवद् व्योमगो भवेत्।।९६।।
मरणं न तु वायोश्च भयं भवति योगिनः।

हृदय से लेकर भ्रूमध्य तक वायु तत्त्व का स्थान है। वायु की आकृति छह कोणों की और कृष्ण वर्ण की है। इसका बीजमन्त्र 'यं' है।

मरुत देवता इस वायु तत्त्व के अधिपति हैं। वे सर्वज्ञ, ईश्वर और चारों ओर व्याप्त है। जो योगी 'यं' बीजमन्त्र के साथ मरुत देव का पाँच घड़ी तक ध्यान करता है वह वायु की तरह आकाश में जा सकता है। उसकी मृत्यु वायु से नहीं होती और न ही उसे वायु का भय सताता है।

आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशस्थान मुच्यते।।९७।।
व्योम वृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षरभासुरम्।
आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शंकरम्।।९८।।
बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम्।
शुद्धस्फटिकसंकाशं धृतवालेन्दुमौलिनम्।।९९।।
पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम्।
सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषणभूषितम्।।१००।।
उमार्धदेवं वरदं सर्वकारणकारणम्।
आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद् ध्रुवम्।।१०१।।
यत्र कुत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्नुते।
एवं च धारणाः पञ्च कुर्यात् योगी विचक्षणः।।१०२।।

भ्रूमध्य से लेकर सिर तक आकाश का स्थान है। आकाश का आकार गोल है और रंग धुएँ जैसा है। आकाश तत्त्व का बीजमंत्र 'हं' है। इस तत्त्व के देवता शंकर हैं। शंकर बिन्दुरूप अर्थात् वीर्य स्वरूप हैं। महादेव हैं और आकाश की भांति व्यापक हैं। वे सदा कल्याण करते हैं। उनका रंग शुद्ध स्फटिक जैसा है। उनके मस्तक पर चन्द्रकला विराजमान है। उनके सौम्य या शान्त पाँच मुख, दस भुजाएँ और तीन नेत्र हैं। वे सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र धारण करते हैं और सभी आभूषण भी पहिनते हैं। उनके आधे शरीर में उमा या पार्वती विराजमान हैं। वे वर प्रदान करते हैं और सभी कारणों के भी कारण है। जो योगी प्राणवायु में 'हं' बीजमन्त्र के साथ शंकर का ध्यान करता है तो इस आकाश धारणा के कारण वह आकाश में गति कर सकता है। उसे हर स्थान पर सुख मिलता है। बुद्धिमान योगी को इन पाँच महाभूतों में धारणा करनी चाहिये।

ततो दृढशरीरः स्यान्मृत्युस्तस्य न विद्यते।
ब्रह्मणः प्रलयेनापि न सीदति महामतिः।।१०३।।
समभ्यसेत्तथा ध्यानं घटिका षष्टिमेव च।
वायुं निरुध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति।।१०४।।

सगुणं ध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम्।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत्।।१०५।।

पंचभूत धारणा करने वाले योगी का शरीर वज्र के समान दृढ़ हो जाता है। उसकी मृत्यु नहीं होती। ब्रह्मा के प्रलय करने पर भी वह कष्ट नहीं पाता। योगी को छह घड़ी तक ध्यान करना चाहिये। वह प्राणवायु को रोककर आकाश में इष्ट प्रदान करने वाले देवता का ध्यान करे। इस प्रकार के ध्यान से उसे अणिमादि सिद्धियाँ मिल जाती हैं। निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करने से समाधि लगती है।

दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात्।
वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवत्ययम्।।१०६।।

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।।

निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करने से लगभग बारह दिनों में समाधि लगने लगती है। बुद्धिमान योगी प्राण रोककर जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवात्मा का परमात्मा के साथ मिल जाना समाधि कहलाती है।

सिद्धयोगी द्वारा अपनी इच्छा से देह छोड़ना या न छोड़ना

यदि स्वदेहमुत्स्रष्टुमिच्छा चेदुत्सृजेत् स्वयम्।।१०७।।
परब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्क्रान्तिरिष्यते।
अथ नो चेत्समुत्स्रष्टुं स्वशरीरं प्रियं यदि।।१०८।।
सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादि गुणान्वितः।
कदाचित् स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गे महीयते।।१०९।।
मनुष्यो वापि यक्षो वा स्वेच्छयाऽपि क्षणाद्भवेत्।
सिंहो व्याघ्रो गजो वाऽश्वः स्वेच्छया बहुतामियात्।।११०।।
यथेष्टमेव वर्तेत योगी यद्वा महेश्वरः।
अभ्यासभेदतो भेदः फलं तु सममेव हि।।१११।।

यदि योगी अपनी इच्छा से अपना शरीर त्यागना चाहता है तो वह परब्रह्म में लीन हो जाता है। उसके प्राणों की उत्क्रान्ति अर्थात् ऊर्ध्वगति में कोई बाधा नहीं आती है।

यदि योगी अपना प्रिय शरीर नहीं छोड़ना चाहता है तब वह अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों की सामर्थ्य से सभी लोकों में आता-जाता रहता है। कभी वह अपनी इच्छा से देवता बनकर स्वर्ग लोक में सुख से रहता है। वह क्षण भर में अपनी इच्छा से मनुष्य, यक्ष, शेर, बाघ, हाथी या घोड़ा भी बन सकता है अथवा अनेक शरीर धारण कर सकता है। वह महेश्वर या योगी के रूप में अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करता है। योगी का अलग-अलग योनियों में आना-जाना आदि उसके योगाभ्यास के भेद के कारण होता है किन्तु योगाभ्यास का मुख्य फल कैवल्य-प्राप्ति सभी योगियों को मिलती है। सिद्धयोगी प्रलय काल तक इस लोक में भी रह सकता है।

उत्क्रान्ति

उदान वायु के जय से योगी अपनी इच्छा से प्राण को शरीर से अर्चिरादि मार्ग से निकाल सकता है। कठ उपनिषद के ६/२/१६ और छान्दोग्य उपनिषद् के ८/६/६ में प्राणों की उत्क्रान्ति का यह वर्णन है:-

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति।।

इसके अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद् के ४/१५॥४-५/१/५/१०/१-२/१, बृहदारण्यक उपनिषद् के ६/२/१५ और कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के १/३ स्थलों पर भी शरीर से प्राणों की उत्क्रान्ति अर्थात् प्राणों के निकलने के बाद आत्मा की कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों का वर्णन है।

महाबन्ध का लक्षण

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद् दृढम्।।११२।।

चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद् वायुना पुनः।
कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेत्।।११३।।

बांये पैर की एड़ी को योनिस्थान अर्थात् सीवनी पर लगाना चाहिये। दांया पैर सामने फैला कर इसे दोनों हाथों से कसकर पकड़ना चाहिये। अब

श्वास भरकर ठोडी को कण्ठ कूप में लगाकर या जालन्धर बन्ध लगाकर श्वास को अपनी सामर्थ्य के अनुसार अन्दर रोककर धीरे-धीरे निकाल देना चाहिये।

वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन समभ्यसेत्।
प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि नामयेत्।।११४।।
अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत्।

बांयी ओर से अभ्यास करने के बाद दांये पैर की एड़ी को सीवनी पर लगाकर महाबन्ध का अभ्यास करना चाहिये। आगे फैले हुए बांये पैर की जांघ पर दूसरा पैर रखना चाहिये। महाबन्ध का अभ्यास दोनों ओर से करना चाहिये।

महावेध का लक्षण

महाबन्ध स्थितो योगी कृत्वा पूरकमेक धीः।।११५।।
वायुना गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम्।।११६।।
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम्।

महाबन्ध लगाकर योगी को पूरक करके जालन्धर बन्ध लगाकर प्राणवायु को अन्दर रोकना चाहिये।

महाबन्ध का अभ्यास करने से प्राणवायु इडा-पिंगला को अर्थात् नाक के दोनों सुरों को छोड़ कर जल्दी ही सुषुम्ना नाड़ी में चलने लगती है। सिद्ध योगी महावेध का अभ्यास निरन्तर करते हैं।

हठयोग प्रदीपिका के मुद्राविधान (तृतीय उपदेश) प्रकरण में महाबन्ध का जो वर्णन है उसके अनुसार बांये पैर की एड़ी से योनिस्थान को दबाना चाहिये और दांया पैर बांये पैर की जांघ पर रखना चाहिये।

प्रस्तुत प्रकरण में दांया पैर सामने फैलाकर इसे दोनों हाथों से पकड़ने का निर्देश है। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार महामुद्रा में न कि महाबन्ध में बांये पैर की एड़ी को योनिस्थान पर लगाकर दांया पैर फैलाकर इसे दोनों हाथों से पकड़ना होता है।

लगता है कि यहाँ पर महाबन्ध के वर्णन में महामुद्रा और महाबन्ध की विधि मिला दी गई है क्योंकि श्लोक ११४ की दूसरी पंक्ति में कहा गया है कि आगे फैले हुए पैर की जांघ पर दूसरा पैर रखना चाहिये।

सम्पूर्ण प्रसंग पर विचार करने के बाद हठयोग प्रदीपिका का वर्णन अधिक उपयुक्त लगता है क्योंकि महावेध का अभ्यास महाबन्ध लगाकर किया जाता है न कि महामुद्रा लगाकर, जिसमें एक पैर आगे फैलाकर इसे हाथों से पकड़ना होता है।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार कुछ लोगों का विचार है कि महाबन्ध में जालन्धर बन्ध नहीं लगाना चाहिये क्योंकि दाढ़ों से ऊपर तालु में जीभ सटाकर महाबन्ध लगाना जालन्धर बन्ध की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है। तालु पर जीभ लगाकर महाबन्ध लगाने से सुषुम्ना के अतिरिक्त सभी नाड़ियों में प्राणवायु की ऊपर की ओर गति रुक जाती है।

शरीर की सभी नाड़ियों में प्राणवायु की ऊपर की ओर गति जालन्धर बन्ध से भी रुक जाती है।

महाबन्ध के अभ्यास से भ्रूमध्य में इडा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीनों नाड़ियाँ मिल जाती हैं और मन भ्रूमध्य में एकाग्र हो जाता है।

खेचरी मुद्रा

अन्तः कपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत्।।११७।।
भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी।

सिर के छेद में अर्थात् नाक के सुरों के अन्त में जीभ को उलट कर भ्रूमध्य में लगाने से खेचरी मुद्रा होती है। खेचरी मुद्रा में आँखें; भौंहों के बीच में लगी रहती हैं।

हमारे काग या छोटी जीभ के पीछे कुछ ऊपर नाक के दोनों सुरों के अन्तिम सिरे हैं। जीभ को काग के पीछे ले जाकर और इस छेद में पहुँचा कर खेचरी मुद्रा लगाई जाती है। इस छेद में गई हुई जीभ धीरे-धीरे ऊपर बढ़ती जाती है और दोनों भौंहों के बीच तक पहुँच जाती है।

जीभ की जड़ में नीचे का तन्तु (नस) काट कर, जीभ को हाथ की अंगुलियों से खींच कर और गाय के थन से दूध निकालने की तरह दुहकर धीरे-धीरे इतना लम्बा कर लिया जाता है कि वह उलटकर नाक के सिरों में पहुँच कर भौंहों के बीच तक जाने लगती है। नीचे के दाँतों और जीभ की जड़ में जिस पतली नस से जीभ जुड़ी हुई है उसे पहिले दिन थोड़ा सा काटा जाता है। खून का बहना रोकने के लिये सेंधा नमक, हरड़ और कत्थे का चूरा लगाया जाता है। दो-तीन दिन बाद जीभ का तन्तु फिर काटा जाता है और सेंधा नमक, हरड़ तथा कत्थे का चूरा जीभ पर लगाकर दोनों अंगूठों और अंगुलियों से जीभ खींची जाती है। यह अभ्यास प्रतिदिन तब तक करना चाहिये जब तक जीभ उलट कर काग के पीछे जाकर नाक के सिरे में नहीं जाने लगती।

जीभ की नस काटने का काम किसी अनुभवी और योग्य व्यक्ति से ही कराना चाहिये।

जो योगी खेचरी मुद्रा लगाता है उसे रोग, मृत्यु, आलस्य, निद्रा, भूख-प्यास और बेहोशी नहीं सताती। खेचरी मुद्रा लगाने से चित्त आकाश अर्थात् भौंहों के बीच खाली स्थान पर एकाग्र हो जाता है और जीभ इसी स्थान पर लग जाती है इसलिये योगी इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं। जो योगी किसी एक आसन पर निश्चल बैठकर और खेचरी मुद्रा लगाकर सहस्रार चक्र से झरने वाले अमृत-रस को पीता है वह मृत्यु पर विजय पा लेता है। जैसे अग्नि; लकड़ियों को और दीपक, तेल में भीगी हुई बत्ती को नहीं छोड़ता वैसे ही अमृत रस से परिपूर्ण शरीर को जीवात्मा नहीं छोड़ता। कोमल तालु के ऊपर छेद में जीभ को ले जाने से तालु और भ्रूमध्य का भाग गर्म हो जाता है। इस गर्मी के कारण सहस्रार चक्र की पीयूष ग्रन्थि (Pituitary gland) से अमृत रस झरने लगता है। इस रस का स्वाद कसैला, नमकीन, खट्टा, दूध, शहद और घी के स्वाद जैसा होता है।

सुषुम्ना नाड़ी के ऊपरी भाग में अमृत रस भरा हुआ है। सुषुम्ना नाड़ी में ही आत्मा विराजमान है ऐसा विद्वान कहते हैं। आत्मा, विभु है अर्थात् वह सभी स्थानों पर उपस्थित रहता है। खेचरी मुद्रा के अभ्यास से आत्मा के दर्शन होते हैं। सुषुम्ना के ऊपरी भाग से ही गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नाम वाली इडा, पिंगला,

गान्धारी आदि नाड़ियाँ निकलती हैं। चन्द्रमा या सहस्त्रार की पीयूष ग्रन्थि से शरीर का सार (अमृत रस) टपक कर जठराग्नि में पहुँच कर नष्ट हो जाता है और मनुष्य धीरे-धीरे मृत्यु के निकट पहुँचने लगता है। इस अमृतरस को नष्ट न होने देने के लिये खेचरी मुद्रा लगानी चाहिये। जो योगी इस अमृत रस को प्रतिदिन पीता है उसका शरीर रोग रहित और कमल नाल जैसा मुलायम हो जाता है। ऐसा योगी दीर्घकाल तक जीवित रहता है।

जालन्धर बन्ध

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढया धिया।।११८।।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी।

कण्ठ (गले) को सिकोड़कर ठोडी को कण्ठकूप में कसकर लगाना चाहिये। इसके नियमित अभ्यास से मृत्यु दूर रहती है। यह जालन्धर बन्ध कहलाता है।

जालन्धर बन्ध लगाने से नाड़ियों का जाल गले में बंध जाता है। गले में नाड़ियों का मार्ग रुक जाने के कारण सहस्त्रार से टपकने वाला अमृत रस नीचे नहीं जा पाता। नाड़ियों के जाल (समूह) को एक जगह बाँध देने के कारण यह बन्ध जालन्धर बन्ध कहलाता है। इस बन्ध का अभ्यास करने से गले के और थायराइड ग्रन्थि के सभी तरह के रोग नष्ट हो जाते हैं। यह बन्ध लगाने से प्राणवायु में भी कोई विकार नहीं आता। जालन्धर बन्ध लगाने का स्थान विशुद्ध-चक्र है। यह बन्ध लगाने से शरीर के जिन सोलह स्थानों पर मन एकाग्र किया जाता है वे भी बंध जाते हैं।

मन लगाने के सोलह स्थान निम्नलिखित है:-

पैर का अंगूठा, टखना और एड़ी, घुटना, जांघ, सीवनी, मूलाधार या योनिस्थान, लिंग (स्वाधिष्ठान), नाभि (मणिपूर), हृदय (अनाहत), कण्ठ (विशुद्ध), छोटी जीभ (लम्बिका, काग), नाक का अग्र भाग, भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र), माथा, सिर, ब्रह्मरन्ध्र। कुछ के मत में जिह्वाग्र, नेत्र और तालु (ऊर्ध्वदन्ताधार) भी इनमें सम्मिलित हैं।

तान्त्रिकों के अनुसार मूलाधार आदि सात चक्र तथा बिन्दु, अर्द्धेन्दु, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समनी और ध्रुवमण्डल ये षोडशाधार हैं।

उड्डीयान बन्ध

बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।।११८।।
उड्याणाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः।

उड्डीयान बन्ध लगाने से इडा और पिंगला नाड़ियों में बंधा हुआ प्राणवायु उड़कर सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है इसीलिये योगी इस बन्ध को उड्डीयान बन्ध कहते हैं।

शरीर के खाली स्थानों में सदा गतिशील प्राणवायु (महाखग) उड्डीयान बन्ध लगाने से सुषुम्ना नाड़ी में निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। पेट में नाभि से ऊपर और नीचे का भाग पीठ से सटाकर उड्डीयान बन्ध लगाया जाता है। पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर श्वास बाहर निकाल कर और श्वास को बाहर ही रोककर पेट को पीठ से सटाकर उड्डीयान बन्ध किया जाता है। उड्डीयान बन्ध के अभ्यास से मृत्यु दूर रहती है।

मूलबन्ध

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम्।।१२०।।
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।।१२१।।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।

एड़ी से योनिस्थान (सीवनी) को दबाकर गुदा को सिकोड़ना चाहिये और अपान वायु को ऊपर उठाना चाहिये।

मूलाधार चक्र को सिकोड़ने से नीचे जाने वाला अपान वायु मूलबन्ध की शक्ति से ऊपर उठने लगता है। प्राण और अपानवायु, अनाहतध्वनि (नाद) और बिन्दु ये चारों, मूलबन्ध के अभ्यास से आपस में मिल जाते हैं। यह स्थिति आने पर योगाभ्यास निस्सन्देह सफल हो जाता है।

योगबीज में मूलबन्ध लगाने की जो विधि है उसके अनुसार गुदा को एड़ी से दबाकर बार-बार सिकोड़ कर अपान वायु को बलपूर्वक ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जाता है जिससे अपान वायु सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो सके।

विपरीतकरणी

करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी।।१२२।।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी।
आहारो बहवस्तस्य संपाद्याः साधकस्य च।।१२३।।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात्।

विपरीतकरणी मुद्रा का नियमित अभ्यास करने से सारे रोग नष्ट हो जाते हैं और भूख बढ़ जाती है। विपरीतकरणी का अभ्यास करने वाले साधक को काफी भोजन करना चाहिये। यदि वह थोड़ा भोजन करेगा तो जठराग्नि उसके शरीर को कुछ ही दिनों में जला डालेगी अर्थात् साधक का शरीर सूख जायेगा।

अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने।।१२४।।
क्षणात्तु किंचिदधिकमभ्यसेत्तु दिने दिने।
वली च पलितं चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते।।१२५।।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स स तु कालजित्।

विपरीतकरणी मुद्रा में सिर नीचा करके और पैर ऊपर उठाकर पहिले दिन थोड़ी देर तक रुकना चाहिये। विपरीत करणी मुद्रा का अभ्यास प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा बढ़ाना चाहिये। छह महीने तक विपरीतकरणी का अभ्यास करने के बाद शरीर की झुर्रियाँ और सफेद बाल दिखाई नहीं देते। जो साधक प्रतिदिन एक पहर तक विपरीत करणी करता है वह मृत्यु को भगा देता है।

यहाँ पर विपरीत करणी मुद्रा की जो विधि बताई गई है वह शीर्षासन की विधि ही है। कुछ लोग शीर्षासन को विपरीत करणी मानते हैं। कुछ के अनुसार अर्धसर्वाङ्गासन विपरीतकरणी मुद्रा है।

वज्रोली मुद्रा

वज्रोलिमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धि भाजनम्।।१२६।।
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्।।१२७।।

जो योगी वज्रोलि मुद्रा का अभ्यास करता है उसे सिद्धियाँ मिल जाती हैं। वह भूतकाल की और भविष्य में होने वाली घटनाओं को जान लेता है और उसे खेचरी भी सिद्ध हो जाती है।

वज्रोलि मुद्रा के अभ्यास में लिंग या उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) से सबसे पहिले न्यौलीक्रिया के द्वारा वायु खींची जाती है। इसके बाद पानी और इसके बाद दूध खींचा जाता है। दूध खींचने का अभ्यास हो जाने के बाद दूध से घनी तरल वस्तु तेल को लिंग से ही खींचा जाता है। तेल के बाद शहद जैसे घने और भारी पदार्थ को खींचा जाता है और फिर पारे को।

ये सभी वस्तुएँ न्यौली घुमाकर और शिश्न (मूत्रेन्द्रिय) में शुरू में रबर का पतला कैथेटर डालकर और अभ्यास बढ़ने पर धातु का मोटा कैथेटर डालकर खींची जाती हैं। थोड़ी देर बाद ही इन्हें शरीर से निकाल दिया जाता है। वज्रोलि का अभ्यास करने के बाद मयूरासन में कुछ देर तक रहने से अन्दर रुका हुआ पानी, दूध आदि निकल जाता है। इस मुद्रा के अभ्यास में तनिक सी भी गलती या असावधानी होने से स्वास्थ्य सदा के लिये नष्ट हो जाता है। वैसे भी वज्रोलि मुद्रा के अभ्यास में पथ-भ्रष्ट होने आशंका प्रतिक्षण बनी रहती है।

वज्रोलि, सहजौली और अमरौली मुद्राएँ वाममार्गियों और तान्त्रिकों में प्रचलित हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में इन्हें नहीं अपनाया जाता।

अमरौली

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यमरोलीति कथ्यते।।१२८।।

जो साधक अमरी को प्रतिदिन पीता है और नाक में डालता है तथा वज्रोलि का नियमित अभ्यास करता है। उसकी ये सारी क्रियाएँ अमरोली कहलाती हैं।

हठयोग प्रदीपिका के पित्तोल्वणत्वात्......।।३/९६।।

श्लोक के अनुसार अमरोली में वीर्यपान किया जाता है। पित्त अधिक होने के कारण वीर्य की पहली धारा को और कोई सार न रह जाने के कारण वीर्य की अन्तिम धारा को छोड़कर बीच की ठण्डी धारा को खण्ड-कापालिक सम्प्रदाय वाले पीते हैं।

राजयोग की निष्पत्ति

ततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम्।
यदा तु राजयोगेन निष्पन्ना योगिभिः क्रिया।।१२९।।
तदा विवेक वैराग्यं जायते योगिनो ध्रुवम्।
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः।।१३०।।
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः।

हठयोग के अभ्यास के विना राजयोग सिद्ध नहीं होता। जब राजयोग के धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का अभ्यास हो जाता है तब योगी के मन में विवेकज्ञान और वैराग्य का भाव निश्चय ही उत्पन्न हो जाता है।

विष्णु नाम के महायोगी महात्मा और महान तपस्वी हैं। वे पुरुषोत्तम अध्यात्म मार्ग में साधकों के लिये दीपक के समान हैं।

वैराग्य का कारण

यः स्तनः पूर्वपीतस्तं निष्पीड्य मुदमश्नुते।।१३१।।
यस्माज्जातो भगात् पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन्।
या माता सा पुनर्भार्या या भार्या मातरेव हि।।१३२।।
यःपिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता।
एवं संसारचक्रे कूपचक्रेण घटा इव।।१३३।।
भ्रमन्तो योनिजन्मानि श्रुत्वा लोकान् समश्नुते।

पूर्वजन्म में जिस स्तन का दूध शैशव अवस्था में पीया था अगले जन्म में उसी स्तन को दबाकर मनुष्य आनन्दित होता है।

मनुष्य ने पूर्वजन्म में जिस योनि से जन्म लिया था अगले जन्म में उसी योनि में सम्भोग करके प्रसन्न होता है। पहिले जन्म में हमारी जो माता थी वह अगले जन्म में पत्नी के रूप में मिल जाती है। जो स्त्री पहिले कभी हमारी पत्नी थी वही माता के रूप में मिलती है। जो पहिले पिता था वह अगले जन्म में हमारा पुत्र होता है और जो पुत्र था वह अब पिता होता है। इस प्रकार जीव इस संसार के जन्म-मरण के चक्र में कुएँ में चलने वाले रहट के डिब्बों की तरह ऊपर-नीचे घूमता रहता है।

जीवात्मा अनेक योनियों में जन्म लेकर मनुष्य जन्म में सद्गुरु के मुख से अध्यात्म ज्ञान प्राप्त करके जीवन-मरण के चक्र से छूट जाता है और ब्रह्म साक्षात्कार करता है। अनेक दिव्य लोकों का सुख भोगने के बाद वह कैवल्य प्राप्त कर लेता है।

हृत्पद्म में प्रणव उपासना

त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्रः संध्यास्त्रयः स्वराः।।१३४।।
त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे।
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेप्यर्धमक्षरम्।।१३५।।
तेन सर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम्।

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु लोक ये तीन लोक, ऋग्, यजुः और साम ये तीन वेद, प्रातः, सायम् और मध्याह्न की तीन संध्याएँ, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन स्वर, गार्हपत्य, आहवनीय और वैश्वानर ये तीन अग्नियाँ, सत्व, रज और तम ये तीन गुण ये सब पदार्थ प्रणव या ओ३म् के अ, उ, म् तीन इन अक्षरों में समाये हुए हैं। प्रणव के इन तीन अक्षरों में से जो ज्ञानवान पुरुष प्रणव अर्थात् ईश्वर के आधे अक्षर को अथवा उसके विराट् रूप में से एक अंश को भी देख लेता है तो वह भली भांति समझ लेता है कि उसी ब्रह्म में यह सारी सृष्टि, लोक-लोकान्तर सभी कुछ समाया हुआ है। वह ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। संसार के धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य-भोग सभी कुछ झूठे हैं, अस्थायी हैं और मोह में डालने वाले हैं। वह ब्रह्म ही परम पद है अर्थात् आत्मा का चरम लक्ष्य है। उस ब्रह्म का साक्षात् करके प्राणी मुक्त हो जाता है।

पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम्।।१३६।।
तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्चनम्।
हृदि स्थाने स्थितं पद्मं तस्य वक्त्रमधोमुखम्।।१३७।।

जैसे फूल में गन्ध, दूध में घी, तिलों में तेल और पत्थरों में सोना रहता है वैसे ही हमारे हृदय में कमल है। इस हृत्पद्म का मुख केले के फूल की तरह नीचे झुका हुआ है।

ऊर्ध्वनालमधोबिन्दुस्तस्य मध्ये स्थितं मनः।
अकारे रेचितं पद्ममुकारेणैव भिद्यते।।१३८।।
मकारे लभते नादमर्धमात्रा तु निश्चला।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम्।।१३९।।
लभते योगयुक्तात्मा पुरुषस्तत्परं पदम्।

हृदयकमल के निचले भाग में बिन्दु से युक्त आकाश है। बिन्दु का अर्थ है शब्द का विस्तारहीन मानसिक भाव मात्र। शब्द में चित्त स्थिर हो जाने पर दैशिक विस्तारज्ञान का लोप हो जाता है, वही बिन्दु है। बिन्दु से युक्त इस आकाश या खाली स्थान में मन से युक्त सूक्ष्म शरीर है। इसी स्थान पर प्रत्यक् चैतन्य या आत्मा विराजमान है। ओ३म् के 'अ' अक्षर में चैतन्य स्वरूप का साक्षात् कर लेने पर हृदय कमल का मुख ऊपर हो जाता है। ओ३म् के 'उ' अक्षर में चैतन्य ब्रह्म के तैजस स्वरूप का साक्षात् कर लेने पर हृदय कमल खिल उठता है। ओ३म् के 'म्' अक्षर में प्राज्ञस्वरूप एकरस चैतन्य ब्रह्म का साक्षात् होने पर ईश्वर तत्त्व से युक्त प्रणवनाद सुनाई देता है। ब्रह्म साक्षात्कार की इस अवस्था में ओ३म् की अ, उ, म् मात्राओं का लोप हो जाने से मन एकाग्र हो जाता है। इस अवस्था में पुण्य-पाप की भावना नष्ट हो जाती है और शुद्ध स्फटिक के समान ब्रह्ममात्र शेष रह जाता है। योगयुक्त पुरुष इस परम पद को प्राप्त कर कृतकृत्य या धन्य हो जाता है।

ओ३म् की व्याख्या

माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार पहिले तीन पादों वाला परमात्मा; अक्षर ओङ्कार की तीन मात्राओं में समाया हुआ है। ओ३म् में 'अ, उ, म्' ये तीन मात्राएँ हैं। पाद मात्राएँ है और मात्राएँ पाद हैं। ये एक दूसरे के साथ मिली हुई हैं। ओ३म् की एक-एक मात्रा से परमात्मा का एक-एक पाद या अंश क्रमशः सूचित होता है।

'अ' मात्रा में वैश्वानर पाद

जागरित स्थान वाला परमात्मा का प्रथम पाद 'वैश्वानर' ओ३म् की पहली मात्रा में समाया हुआ है अर्थात् 'अ' से प्रकट होता है।

प्रश्न है कि परमात्मा के प्रथम पाद और ओ३म् की पहली मात्रा 'अ' में क्या समानता है?

इनमें पहली समानता 'आप्ति' या व्याप्ति की है। 'अ' अक्षर सब वर्णों, स्वरों और व्यंजनों में व्याप्त या समाया रहता है। क, ख, ग आदि व्यंजन अक्षरों का उच्चारण 'अ' के बिना होता ही नहीं। स्वरों में ए, ऐ, ओ, औ में भी 'अ' मिला रहता है जैसे- अ+इ=ए, अ+ए=ऐ, अ+उ=ओ, अ+ओ=औ। इ, उ, ऋ और लृ इन एकल स्वरों में भी 'अ' की ध्वनि सूक्ष्म रूप से मिली होती है।

इसी प्रकार जागरित स्थान वाले वैश्वानर पाद में परमात्मा भी सृष्टि के सब उत्पन्न पदार्थों में समाया रहता है।

वैश्वानर पाद और ओ३म् की 'अ' मात्रा में दूसरी समानता है आदिमत्व की अर्थात् सबसे पहिले की। जैसे ओ३म् में 'अ' सबसे पहिली (आदि) मात्रा है ऐसे ही पादों में परमात्मा का वैश्वानर पाद सबसे पहिला (आदि) पाद है।

'उ' मात्रा में तैजस पाद

परमात्मा का स्वप्न स्थान वाला द्वितीय तैजस पाद ओ३म् की द्वितीय मात्रा 'उ' में समाया हुआ है। इस दोनों की पहली समानता उत्कर्ष की है। 'उ' बोलते हुए ओंठ आगे की ओर बढ़ते हैं अर्थात् ओठों का उत्कर्ष (उन्नति) होता है। जाग्रदवस्था की तुलना में स्वप्नावस्था सूक्ष्म होती है। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म में अधिक उत्कर्ष होता है। परमात्मा की स्वप्नावस्था में प्रकृति के गर्भ से सृष्टि निकल रही होती है। अत: वहाँ भी उत्कर्ष होता है। दूसरी समानता है 'उभयत्व' की या बीच की। ओ३म् में 'उ'; अक्षर 'अ' और 'म्' के बीच में है तथा 'अ' और 'म्' दोनों के साथ 'उ' का सम्बन्ध है। इसी प्रकार तैजस नाम का दूसरा पाद; वैश्वानर पाद और प्राज्ञपाद दोनों के बीच में होने के कारण दोनों से सम्बद्ध है। परमात्मा की सृष्टि उत्पत्ति रूप स्वप्नावस्था का उससे पहली सुषुप्ति रूप प्रलयावस्था से और जाग्रदवस्था रूप सृष्टि अवस्था से इन दोनों से सम्बन्ध रहता है, क्योंकि प्रलय के गर्भ से सृष्टि निकलती है और उत्पन्न होने के बाद बहुत समय तक बनी रहती है।

'म्' मात्रा में प्राज्ञ पाद

परमात्मा का सुषुप्ति स्थान वाला तीसरा पाद 'प्राज्ञ'; ओ३म् की तीसरी मात्रा 'म्' में समाया हुआ है। प्राज्ञ पाद और 'म्' मात्रा में पहली समानता 'मिति' या माप की है। 'म्' अक्षर क, ख, ग से लेकर प, फ, ब आदि अक्षरों का अन्तिम अक्षर है। क से लेकर बीच के च, ट, ठ, त, द, प आदि सारे अक्षर 'म्' के द्वारा माप लिये जाते हैं। इसी प्रकार परमात्मा की स्वप्नावस्था से लेकर सुषुप्ति अवस्था (प्रलय) तक का सारा घटना चक्र प्राज्ञ पाद द्वारा माप लिया जाता है।

इन दोनों में दूसरी समानता है 'अपीति' अर्थात् लय की। जब हम ओ३म् बोलते हैं तब सबसे पहिले मुख खुलता है, फिर ओंठ आगे बढ़ते हैं और अन्त में 'म्' बोलते समय मुख बन्द हो जाता है। मानो सब कुछ मुख में समा गया। इसी प्रकार जाग्रद्वस्था और स्वप्नावस्था का सब कुछ सूक्ष्म जगत् प्रलयावस्था में लीन हो जाता है। इन दो समानताओं के कारण 'म्' मात्रा से प्राज्ञ पाद लिया जाता है।

ब्रह्म का चतुर्थ पाद अमात्र है।

ओ३म् में तीन ही मात्राएँ अ, उ, म् हैं। इन तीनों मात्राओं में परमात्मा के पहिले तीन पाद आ गये। प्रश्न है कि परमात्मा का चौथा पाद किसमें आता है?

ओ३म् के उच्चारण में 'म्' बोलने के बाद हृदय में एक गूंज या झंकार सी अनुभव होती है। यह गूंज कोई अलग मात्रा नहीं है। इसी गूंज को चतुर्थ पाद को बताने वाला माना जा सकता है।

परमात्मा का चतुर्थ पाद अमात्र है, अव्यवहार्य है, प्रपञ्चोपशम है, शिव है। इसे समझ कर जीवात्मा; परमात्मा से अपना अद्वैत या एकता अनुभव करने लगता है। जैसे पिता के प्रेम से विह्वल होकर पुत्र अपने को एकाकार हुआ अनुभव करता है।

इस तुरीयावस्था को प्राप्त परमार्थदर्शी ब्रह्मवित् उपासक जन्म-मरण के कारणों या बीज को नष्ट करके फिर जन्म नहीं लेता।

कूर्मः स्वपाणिपादादि शिरश्चात्मनि धारयेत्।।१४०।।
एवं द्वारेषु सर्वेषु वायुपूरितरेचितः।
निषिद्धं तु नवद्वारे ऊर्ध्वं प्राङ्निश्वसंस्तथा।।१४१।।
घटमध्ये यथा दीपो निवातं कुम्भकं विदुः।
निषिद्धैर्नवभिद्वारैर्निर्जने निरुपद्रवे।।१४२।।
निश्चितं त्वात्ममात्रेणावशिष्टं योग सेवयेत् इत्युपनिषत्।।

जैसे कछुआ अपने हाथ-पैर और सिर अपने अन्दर समेट लेता है वैसे ही योगी को आँख, कान, नाक, मुख, मूत्रेन्द्रिय और गुदा (मलद्वार) शरीर के इन नौ द्वारों से प्राणवायु को भरने और निकालने का काम बन्द कर देना चाहिये। प्राणवायु को सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से ऊपर सहस्रार की ओर ले जाना चाहिये। शरीर के नौ द्वारों को बन्द करके सुषुम्ना के पहिले द्वार मूलाधार को भेद कर प्राणवायु को सुषुम्ना में कुम्भक के द्वारा रोकना चाहिये। निर्जन और उपद्रव रहित स्थान में सिद्धासन या पद्मासन आदि किसी आसन में बैठकर योगी को केवल कुम्भक प्राणायाम के द्वारा आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

इस प्रकरण में निर्विकल्प समाधि की अवस्था का उल्लेख है। निर्विकल्प समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के भान से रहित अन्तःकरण की वृत्ति अखण्ड ब्रह्माकार वाली हो जाती है। अन्तःकरण की अद्वैत ब्रह्माकार अज्ञात वृत्ति सहित अद्वैत भावनारूप समाधि के अधिक अभ्यास से जब अन्तःकरण की वृत्ति शान्त हो जाती है तब वृत्तिरहित अद्वैत अवस्थानरूप निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है। जैसे तपे हुए लोहे पर गिरी हुई पानी की बूंद गरम लोहे में प्रविष्ट हो जाती है वैसे ही अद्वैत भावनारूप समाधि के अभ्यास से वृत्ति; अत्यन्त आलोकमय ब्रह्म में लीन हो जाती है।

।।ओ३म् सहनाववत्विति शान्तिः।।

।।योग तत्त्वोपनिषद्समाप्त।।

१७

योगशिखोपनिषद्

ओ३म् सहनाववत्विति.......शान्तिः!!

योगज्ञाने यत् पदाप्तिसाधनत्वेन विश्रुते।
तत्रैपदं ब्रह्मतत्त्वं स्वमात्रमवशिष्यते।।

योगशिखोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् के अनुसार योग साधना और ब्रह्मज्ञान ये दोनों साथ मिलकर ही मोक्ष प्राप्ति करा सकते हैं, केवल योगाभ्यास या केवल ज्ञान से मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

प्रथम अध्याय

मुक्तिमार्ग की जिज्ञासा

सर्वे जीवा सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः।
तेषां मुक्ति कथं देव कृपया वद शंकर।।१।।
सर्वसिद्धिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं सुखदं वद।।२।।
इति हिरण्यगर्भः पप्रच्छ स होवाच महेश्वरः।

हिरण्यगर्भ ने शंकर से पूछा कि सभी प्राणी सुख-दुख और मायाजाल में फंसे हुए हैं। प्राणियों की मुक्ति कैसे हो सकती है इस बारे में आप कृपा कर बताइये। आप ऐसा उपाय बताइये जो सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करता है और मायाजाल का नाश करता है। जन्म-मरण, रोग और बुढ़ापा नष्ट करता है और सुख प्रदान करता है।

दुर्लभ मुक्तिमार्ग

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम्।।३।।
सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसम्भव।

कैवल्य प्राप्ति का परम पद अनेक प्रकार के उपायों से प्राप्त करना बहुत कठिन है। कैवल्य, सिद्धि मार्ग से ही प्राप्त किया जा सकता है।

केवल शास्त्रज्ञान से ब्रह्म प्राप्त नहीं होता

पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः।।४।।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते।
निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम्।।५।।
तदेवजीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम्।
परमात्मपदं नित्यं तत् कथं जीवतां गतम्।।६।।
तत्त्वातीतं महादेव प्रसादात् कथयेश्वर।

लोगों की बुद्धि शास्त्रों के शब्द जाल में फंसी हुई है। ब्रह्म का स्वरूप अपनी आत्मा में ही प्रकट होता है। ब्रह्म का स्वरूप निष्कल अर्थात् प्राण आदि कलाओं से रहित, निर्मल, शान्त, सर्वातीत अर्थात् प्रकृति के सत्व, रज, तम इन तीन गुणों के परिणामों से रहित और निरामय अर्थात् दोष रहित है।

ब्रह्म का यह स्वरूप जीव रूप कैसे बन गया? जीव या जीवात्मा पुण्य और पाप के फलों से घिरा हुआ है किन्तु परमात्मपद नित्य और तत्त्वातीत है। हे शंकर! आप मेरी इस शंका का समाधान कर दीजिये।

ब्रह्म का जीव भाव

सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम्।।७।।
वायुवत् स्फुरितं स्वस्मिंस्तत्राहंकृतिरुत्थिता।
पञ्चात्मकमभूत् पिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम्।।८।।
सुखदुःखैः समायुक्तं जीव भावनया कुरु।
तेन जीवाभिधा प्रोक्ता विशुद्धे परमात्मनि।।९।।

ब्रह्म का स्वरूप प्रकृति के तीनों गुणों के सभी परिणामों और भावों से परे है। ज्ञानमय है और निरञ्जन अर्थात् शोक, मोह आदि से रहित है तथा माया के आवरण से भी रहित है।

जब ब्रह्म में वायु की तरह कामना उत्पन्न हुई तब अहंकार उत्पन्न हो गया। अहंकार में पाँच महाभूतों से बना पिण्ड या शरीर संयुक्त हो जाता है। जीवात्मा का यह शरीर धातुबद्ध अर्थात् इन्द्रियों से युक्त है। शरीर को धारण करने के कारण इन्द्रियों को धातु कहा जाता है यह शरीर प्रकृति के सत्व, रज, तम गुणों वाला है। जीवात्मा इस शरीर में सुख-दुख अनुभव करता है। इस प्रकार विशुद्ध परमात्मा; जीवात्मा के रूप में आ जाता है।

काम क्रोधादि से रहित जीव में शिवत्व

कामक्रोधभयं चापि मोहलोभमथो रजः।
जन्म मृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृषा।।१०।।
तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः शिव उच्यते।।११।।

काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, चंचलता, जन्म, मृत्यु, कायरता, शोक, आलस्य, भूख-प्यास, तृष्णा, लज्जा, हर्ष, विषाद आदि दोषों से रहित जीव, शिव कहलाता है।

ज्ञान और योग से दोषों का नाश

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते।
ज्ञानं केचिद् वदन्त्यत्र केवलं तन्न सिद्धये।।१२।।

इसलिये मैं इन दोषों को नष्ट करने का उपाय तुम्हें बताता हूँ। कुछ लोगों का कहना है कि शास्त्र ज्ञान से ये दोष नष्ट हो जाते हैं किन्तु मोक्ष प्राप्त करने के लिये केवल शास्त्र ज्ञान काफी नहीं है।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भो।
योगोऽपि ज्ञान हीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।।१३।।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्।

योगाभ्यास के बिना शास्त्रज्ञान मोक्ष कैसे दिला सकता है? इसी तरह शास्त्रज्ञान के बिना योगाभ्यास भी मुक्ति नहीं दिला सकता। इसलिये मोक्ष चाहने वाले व्यक्ति को शास्त्र ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ योगाभ्यास भी करना चाहिये।

ज्ञान का स्वरूप और उसका फल

ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञेयं ज्ञानैकसाधनम्।।१४।।
अज्ञानं कीदृशं चेति प्रविचार्यं मुमुक्षुणा।
ज्ञातं येन निजं रूपं कैवल्यं परमं पदम्।।१५।।
असौ दोषैर्विनिर्मुक्तः कामक्रोधभयादिभिः।

सबसे पहिले यह जानना चाहिये कि ज्ञान का स्वरूप कैसा है? मोक्ष चाहने वाले को इस पर भी विचार करना चाहिये कि अज्ञान किसे कहते हैं? इन दोनों बातों को जान लेना ज्ञान प्राप्त करने का पहिला उपाय है। जिस साधक ने अपने को जान लिया वह कैवल्य का परम पद भी जान जाता है और काम, क्रोध भय आदि दोषों से छुटकारा पा जाता है।

सर्वदोषैर्वृतो जीवः कथं ज्ञानेन मुच्यते।।१६।।
स्वात्मरूपं यथा ज्ञानं पूर्णं तद् व्यापकं तथा।
कामक्रोधादि दोषाणां स्वरूपान्नास्ति भिन्नता।।१७।।

सभी प्रकार के दोषों से घिरा जीव केवल ज्ञान से कैसे मोक्ष प्राप्त कर सकता है क्योंकि काम, क्रोध आदि दोष भी उसके वास्तविक रूप से या स्वरूप से भिन्न नहीं हैं। स्वात्मरूप का ज्ञान अपने आप में पूर्ण और व्यापक है।

पश्चात्तस्य विधिः किं नु निषेधोऽपि कथं भवेत्।
विवेकी सर्वदा मुक्तः संसार भ्रमवर्जितः।।१८।।

हे शंकर! मोक्ष प्राप्त करने का उपाय क्या है? संसार के और जन्म-मरण के बन्धन से छूटने का उपाय क्या है? विवेकशील पुरुष संसार के मोहजाल से छूटकर सदा मुक्त कैसे रह सकता है?

परिपूर्णस्वरूपं तत् सत्यं कमलसम्भव।
सकलं निष्कलं चैव पूर्णत्वाच्च तदेव हि।।१९।।

कमल से उत्पन्न हे हिरण्यगर्भ! वह ब्रह्म निश्चय ही परिपूर्ण स्वरूप है। ब्रह्म के सकल और निष्कल ये दोनों ही स्वरूप उसकी पूर्णता के कारण ही हैं। सकल का अर्थ है शरीर के अंगों वाला। सकल ब्रह्म को सगुण ब्रह्म कहते हैं क्योंकि ब्रह्म से सभी प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है। निष्कल या निर्गुण ब्रह्म प्रकृति के सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से परे हैं इसीलिये निष्कल ब्रह्म प्राण और शरीर के अंगों आदि से रहित हैं।

कलिना स्फूर्तिरूपेण संसार भ्रमतां गतम्।
निष्कलं निर्मलं साक्षात् सकलं गगनोपमम्।।२०।।
उत्पत्ति स्थिति संहार स्फूर्ति ज्ञानविवर्जितम्।

सकल ब्रह्म या सगुण ब्रह्म की स्फूर्ति या कामना ही संसार के भ्रम के रूप में दिखाई देती है वस्तुतः ब्रह्म निष्कल और निर्मल है। वह सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय से तथा अपनी स्फूर्ति या कामना से सर्वथा परे हैं। सगुण ब्रह्म का स्वरूप आकाश की भांति व्यापक, असीम और अनन्त है।

एतद्रूपं समायातः स कथं मोहसागरे।।२१।।
निमज्जति महाबाहो त्यक्त्वा विद्यां पुनः पुनः।
सुखदुःखादिमोहेषु यथा संसारिणां स्थितिः।।२२।।
तथा ज्ञानी यदा तिष्ठेत् वासनावासितस्तदा।
तयोर्नास्ति विशेषोऽत्र समा संसार भावना।।२३।।
ज्ञानं चेदीदृशं ज्ञातम् अज्ञानं कीदृशं पुनः।

हिरण्यगर्भ ने पूछा-यदि ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण है तो वह संसार के मोह सागर में कैसे पड़ गया? यदि जीवात्मा विद्या को या वास्तविक आध्यात्मिक ज्ञान को बार-बार छोड़कर सुख-दुख, मोह-ममता से भरे इस संसार सागर में साधारण व्यक्तियों की तरह डूब जाता है और ज्ञानी पुरुष भी पूर्वजन्म की वासनाओं के प्रभाव से साधारण संसारी की तरह ही व्यवहार करता है तो ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषों के बीच कोई अन्तर या भेद नहीं है। यदि ज्ञानी पुरुष भी अपनी वासनाओं के कारण साधारण पुरुष की तरह ही है तो अज्ञानी और ज्ञानी पुरुषों के बीच या ज्ञान और अज्ञान के बीच क्या भेद है?

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।।२४।।
विना देहेन योगेन न मोक्षं लभते विधे।

हे ब्रह्मा! ज्ञानी, वैराग्य भावना से युक्त, धर्म का पालन करने वाला और इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने वाला व्यक्ति भी शरीर से योगाभ्यास के बिना मोक्ष नहीं पाता।

अपक्वाः पक्वाश्च देहिनो द्विविधाः स्मृताः।।२५।।
अपक्वाः योगहीनास्तु पक्वा योगेन देहिनः।
सर्वो योगाग्निना देहो ह्यजडः शोकवर्जितः।।२६।।
जडस्तु पार्थिवो ज्ञेयो ह्यपक्वो दुःखदो भवेत्।

मनुष्यों के शरीर दो तरह के होते हैं— पक्के और कच्चे। जो योगाभ्यास नहीं करते उनके शरीर कच्चे होते हैं किन्तु योगाभ्यास की अग्नि से शरीर कच्चे घड़े की तरह आग से पककर मजबूत हो जाता है। योग की अग्नि से तपा शरीर चेतना युक्त और दुखों, रोगों आदि से रहित होता है किन्तु साधारण लोगों के शरीर जड़ और रोगादि दुखों से भरे होते हैं।

ध्यानस्थोऽसौ तथाप्येवमिन्द्रियैर्विवशो भवेत्।।२७।।
तानि गाढं नियम्यापि तथाप्यन्यैः प्रबाध्यते।

साधक ध्यान मग्न होने पर भी इन्द्रियों के वश में पड़ ही जाता है। साधक चाहे जितना इन्द्रियों को वश में रखने का प्रयत्न करे फिर भी वह काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषों के वश में आ ही जाता है।

शीतोष्णसुखदुःखाद्यैर्व्याधिभिर्मानसै स्तथा।।२८।।
अन्यैर्नानाविधै र्जीवै शस्त्राग्निजलमारुतैः।
शरीरं पीड्यते तैस्तैश्चित्तं संक्षुभ्यते ततः।।२९।।

गर्मी-सर्दी, सुख-दुख, शारीरिक और मानसिक रोगों से, तरह-तरह के जीव-जन्तुओं से, हथियारों, अग्नि, जल और वायु के प्रकोपों आदि से शरीर को दुख पहुँचता है और इन दुखों के कारण मन विचलित हो जाता है।

तथा प्राणविपत्तौ तु क्षोभमायाति मारुतः।
ततो दुःखशतैर्व्याप्तं चित्तं क्षुब्धं भवेन्नृणाम्।।३०।।

प्राणों पर संकट आने पर प्राणवायु क्षुब्ध हो उठता है। इसी प्रकार सैंकड़ों दुखों के कारण मनुष्यों के मन व्यथित हो जाते हैं।

देहावसानसमये चित्ते यद् यद् विभावयेत्।
तत्तदेव भवेज्जीवः इत्येवं जन्मकारणम्।।३१।।

देहान्त के समय मनुष्य के मन में जो विचार आते हैं उन्हीं के अनुसार उसे अगला जन्म मिलता है।

देहान्ते किं भवेज्जन्म तन्न जानन्ति मानवाः।
तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जीवस्य केवलं श्रमः।।३२।।

देहान्त के बाद हम अगले जन्म में क्या होंगे यह बात मनुष्य नहीं जानते इसलिये इस जन्म में ज्ञान प्राप्त करना और वैराग्य अपनाना व्यर्थ का परिश्रम ही है।

पिपीलिका यदा लग्ना देहे ध्यानाद् विमुच्यते।
असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहान्ते वा कथं सुखी।।३३।।

तस्मान्मूढा न जानन्ति मिथ्यातर्केण वेष्टिताः।

चींटी के काटने पर भी ध्यान टूट जाता है इसलिये बिच्छुओं के काटने पर या देहान्त के समय मनुष्य कैसे सुखी हो सकता है?

इसलिये मूर्ख लोग उपरोक्त गलत युक्तियों में फंसे रहने के कारण मोक्ष का मार्ग नहीं जान पाते।

सब अनर्थों की जड़ अहंकार

अहंकृतिर्यदा यस्य नष्टा भवति तस्य वै।।३४।।
देहस्त्वपि भवेन्नष्टो व्याधयश्चास्य किं पुनः।
जलाग्निशस्त्रखातादि बाधा कस्य भविष्यति।।३५।।

जब योगी का अहंभाव या अहंकार नष्ट हो जाता है तब उसका अपनी देह के प्रति मोह भी समाप्त हो जाता है। साधक के मन की इस स्थिति में उसे रोगों, जल, अग्नि, हथियारों, खाई-खड्डों आदि बाधाओं की चिन्ता नहीं सताती।

यदा यदा परिक्षीणा पुष्टा चाहंकृतिर्भवेत्।
तमनेनास्य नश्यन्ति प्रवर्तन्ते रुगादयः।।३६।।
कारणेन विना कार्यं न कदाचन विद्यते।
अहंकारं विना तद्वत् देहे दुःख कथं भवेत्।।३७।।

कम हुआ अहंकार का भाव जब कभी बढ़ जाता है अर्थात् देह के प्रति मोह बढ़ जाता है तब 'मैं ब्रह्म हूँ' मन की ऐसी ज्ञानमयी वृत्ति नष्ट हो जाती है और शरीर के रोग, चिन्ताएँ आदि बढ़ने लगती हैं। कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता इसी प्रकार अपने शरीर के प्रति अहंभाव न रहने पर शरीर में दुख का अनुभव नहीं होता।

योगसिद्ध का ईश्वरत्व और जीवन्मुक्ति

शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम्।
तत्कथं कुरुते तेषां सुखदुःखादिकं फलम्।।३८।।

सभी लोग अपने शरीर के वश में रहते हैं किन्तु योगी शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेते हैं। अत: ऐसे योगियों को सुख-दुख आदि कष्टों की परवाह कैसे हो सकती है?

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः कामक्रोधादिकं जितम्।
तेनैव विजितं सर्वं नासौ केनापि बाध्यते।।३९।।

जो मनुष्य इन्द्रियों और मन को तथा बुद्धि, काम, क्रोध, लोभ आदि दोषों को अपने वश में कर लेता है वह संसार के सभी प्रकार के आकर्षणों और बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है। ऐसे आत्मसंयमी व्यक्ति को कोई भी शक्ति या बाधा परेशान नहीं कर सकती।

महाभूतानि तत्त्वानि संहृतानि क्रमेण च।
सप्तधातुमयो देहो दग्धो योगाग्निना शनैः।।४०।।

जिस योगी ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश प्रकृति के इन पाँच महाभूतों पर धीरे-धीरे अधिकार कर लिया है और अपने शरीर के रक्त, रस, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य इन सात धातुओं को धीरे-धीरे योग की अग्नि से तपाकर मजबूत बना लिया है।

देवैरपि न लक्ष्येत योगिदेहो महाबलः।
भेदबन्धविनिर्मुक्तो नानाशक्तिधरः परः।।४१।।

ऐसे योगी का शरीर अत्यधिक बलशाली बन जाता है। देवता भी उसकी शक्ति नहीं पहिचान सकते। ऐसा योगी सांसारिक बन्धनों और भेद भावों से छूट जाता है। उसमें अनेक अमानवीय शक्तियाँ आ जाती हैं।

यथाऽऽकाशस्तथा देहः आकाशादपि निर्मलः।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरोऽदृश्यः स्थूलात् स्थूलो जडाज्जडः।।४२।।

ऐसे योगी का शरीर आकाश की भांति हो जाता है और आकाश से भी अधिक निर्मल बन जाता है। उसका शरीर अत्यन्त छोटे पदार्थ से भी कहीं अधिक सूक्ष्म और अदृश्य बन जाता है। योगी अपने शरीर को चाहे जितना विशाल बना सकता है और जड़ से भी जड़ बना सकता है।

इच्छारूपो हि योगीन्द्रः स्वतन्त्रस्त्वजरामरः।
क्रीडते त्रिषु लोकेषु लीलया यत्रकुत्रचित्।।४३।।

योगीन्द्र अपनी इच्छा से कोई भी रूप धारण कर सकता है। वह स्वतन्त्र हो जाता है और अजर-अमर बन जाता है। वह इच्छानुसार तीनों लोकों में जहाँ कहीं जाकर सुख भोगता है।

अचिन्त्यशक्तिमान् योगी नानारूपाणि धारयेत्।
संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रियः।।४४।।

अचिन्त्य अर्थात् हमारी कल्पना में भी न आने वाली शक्तियों से सम्पन्न योगी अनेक शरीर धारण कर सकता है। ऐसा इन्द्रिय संयमी योगी इन शरीरों को अपनी इच्छा से नष्ट भी कर सकता है।

नासौ मरणमाप्नोति पुनर्योगबलेन तु।
हठेन मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः।।४५।।

अपनी यौगिक शक्ति के कारण ऐसे योगी का देहान्त नहीं होता। सम्यक् ज्ञान हो जाने के कारण (हठ) वह पहिले ही मर चुका होता है अतः मरा हुआ व्यक्ति दुबारा कैसे मर सकता है?

मरणं यत्र सर्वेषां तत्रासौ परिजीवति।
यत्र जीवन्ति मूढास्तु तत्रासौ मृत एव वै।।४६।।

संसार के लोगों के लिये जो मरणावस्था है वह योगी के लिये जीवित अवस्था होती है। मूर्ख लोग जिस संसार में जीवित रहते हैं योगी के लिये वह संसार नष्ट हो जाता है।

कर्तव्यं नैव तस्यास्ति कृतेनासौ न लिप्यते।
जीवन्मुक्तः सदा स्वच्छः सर्वदोषविवर्जितः।।४७।।

ऐसे योगी के लिये संसार के प्रति कोई कर्तव्य नहीं रहता। वह जो कुछ करता है उसके कारण वह बन्धन में नहीं पड़ता। वह सदा जीवन्मुक्त रहता है, शुद्ध-पवित्र रहता है और काम क्रोधादि सभी दोषों से मुक्त रहता है।

ज्ञान का अभिमान करने वालों की निन्दा

विरक्ता ज्ञानिनश्चान्ये देहेन विजिताः सदा।
ते कथं योगिभिस्तुल्या मांसपिण्डाः कुदेहिनः।।४८।।

कुछ लोग संसार से विरक्त रहते हैं किन्तु अपने को ज्ञानी मानने वाले लोग अपनी देह के वश में ही रहते हैं। इनकी तुलना योगियों से कैसे की जा सकती है। ये लोग मांस के लोथड़े जैसे अपने कुत्सित शरीर के वश में रहते हैं।

देहान्ते ज्ञानिभिः पुण्यात् पापाच्च फलमाप्यते।
यादृशं तु भवेत् तत्तद् भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत्।।४९।।

देहान्त हो जाने पर ज्ञानियों को उनके पाप-पुण्य के अनुसार फल मिलता है। जिस ज्ञानी को जैसा फल मिलता है उसे भोग कर वह फिर जन्म लेता है।

ज्ञानी की सिद्ध संगति से सद्गति

पश्चात् पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगमम्।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा।।५०।।
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम्।

कई जन्मों के बाद अपने पुण्य के प्रभाव से ज्ञानी को किसी सिद्ध

योगी का संग मिलता है। इस सिद्ध योगी की कृपा से वह योगी बनता है। योगी बन जाने पर उसके लिये यह संसार नष्ट हो जाता है। शिवजी की यह बात झूठी नहीं है।

ज्ञान और योग की महिमा

योगेन रहितं ज्ञानं न मोक्षाय भवेत् विधे।।५१।।
ज्ञानेनैव विना योगो न सिध्यति कदाचन।
जन्मान्तरैश्च विविधैः योगो ज्ञानेन लभ्यते।।५२।।
ज्ञानं तु जन्मनैकेन योगादेव प्रजायते।
तस्मात् योगात् परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः।।५३।।

योगाभ्यास से रहित मनुष्य को ज्ञान से मोक्ष नहीं मिलता। इसी प्रकार ज्ञान के बिना योगाभ्यास में सफलता नहीं मिलती। अनेक जन्मों के बाद ज्ञानी पुरुष को योग ज्ञान मिल पाता है, किन्तु योगाभ्यास के द्वारा एक जन्म में ही तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाता है इसलिये मोक्ष प्राप्ति के लिये योग से श्रेष्ठ और कोई उपाय नहीं है।

प्रविचार्य चिरं ज्ञानं मुक्तोऽहमिति मन्यते।
किमसौ मननादेव मुक्तो भवति तत्क्षणात्।।५४।।

ज्ञानी बहुत समय तक विचार करने के बाद सोचने लगता है कि मैं मुक्त हूँ। किन्तु प्रश्न है कि क्या उसके यह मानने से ही वह एकदम मुक्त हो जाता है?

पश्चाज्जन्मान्तरशतैर्योगादेव विमुच्यते।
न तथा भवतो योगाज्जन्ममृत्यु पुनः पुनः।।५५।।

ज्ञानी पुरुष अनेक जन्मों के बाद योगाभ्यास से ही मोक्ष पाता है। योगाभ्यास के प्रभाव से फिर उसका जन्म-मरण भी नहीं होता।

प्राणापानसमायोगाच्चन्द्रसूर्यैकता भवेत्।
सप्तधातुमयं देहमग्निना रञ्जयेद् ध्रुवम्।।५६।।
व्याधयस्तस्य नश्यन्ति च्छेदखातादिकास्तथा।

योगी के प्राण और अपान वायु के मिलने से चन्द्रमा और सूर्य के

बीच एकता हो जाती है अर्थात् हमारे शरीर की उष्णता और शीतलता के बीच समन्वय स्थापित हो जाता है। नाक के दांये सुर पिंगला नाड़ी में बहने वाला प्राणवायु सूर्य की उष्णता को सूचित करता है और बांये सुर इडा नाड़ी में बहने वाला प्राणवायु चन्द्रमा की शीतलता का सूचक है। शरीर की उष्णता और शीतलता के बीच प्राणायाम के अभ्यास से समन्वय स्थापित हो जाने के परिणामस्वरूप रक्त, रस, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य इन सात धातुओं वाला शरीर योगाग्नि से निश्चय ही कान्तिमान हो जाता है। योगी के शरीर के रोग, दुर्बलता आदि कष्ट भी दूर हो जाते हैं।

तदासौ परमाकाशरूपो देह्यवतिष्ठति।।५७।।
किम्पुनर्बहुनोक्तेन मरणं नास्ति तस्य वै।
देहीव दृश्यते लोके दग्धकर्पूरवत् स्वयम्।।५८।।

इस स्थिति को प्राप्त योगी परम आकाश के रूप में विद्यमान रहता है। उसकी मृत्यु नहीं होती। वह संसार में शरीर धारण किये हुए दिखता है किन्तु वस्तुत: वह कपूर जल जाने के बाद उसकी सुगन्ध के समान आकाश में व्याप्त रहता है।

चित्तं प्राणेन सम्बद्धं सर्वजीवेषु संस्थितम्।
रज्ज्वा यद्वत् सुसम्बद्धः पक्षी तद्वदिदं मनः।।५९।।

सभी प्राणियों का मन प्राण के साथ जुड़ा हुआ है। रस्सी से बंधे हुए पक्षी की तरह मन, प्राण से बंधा है।

नानाविधैर्विचारैस्तु न बाध्यं जायते मनः।
तस्मात्तस्य जयोपायः प्राण एव हि नान्यथा।।६०।।

अनेक प्रकार के विचार-विमर्श करने से मन को वश में नहीं किया जा सकता। इसलिये मन को वश में करने का एकमात्र उपाय प्राणायाम ही है।

तर्कैर्जल्पैः शास्त्रजालैर्युक्तिभिर्मन्त्रभेषजैः।
न वशो जायते प्राणः सिद्धोपायं विना विधे।।६१।।

हे ब्रह्मा! युक्तियों, वाद-विवादों, शास्त्र चर्चाओं, मन्त्रों और ओषधियों

आदि अनेक उपायों से प्राणवायु को वश में नहीं किया जा सकता। प्राणायाम से ही प्राणवायु को वश में किया जा सकता है।

उपायं तमविज्ञाय योगमार्गे प्रवर्तते।
खण्डज्ञानेन सहसा जायते क्लेशवत्तर:।।६२।।

प्राणायाम की उचित विधि जाने बिना जो योगाभ्यास शुरू कर देता है, वह योग का आधा-अधूरा ज्ञान पाकर और अधिक कष्टों में पड़ जाता है।

योऽजित्वा पवनं मोहाद्योगमिच्छति योगिनाम्।
सोऽपक्वं कुम्भमारुह्य सागरं तर्तुमिच्छति।।६३।।

जो व्यक्ति मूर्खतावश प्राणवायु को वश में किये बिना योगियों की तरह योगाभ्यास करना चाहता है वह कच्चे घड़े के सहारे समुद्र पार करना चाहता है।

यस्य प्राणो विलीनोऽन्तः साधके जीविते सति।
पिण्डो न पतितस्तस्य चित्तं दोषैः प्रबाधते।।६४।।

जिस साधक के जीवित रहते हुए ही प्राण हृदय में लीन हो जाते हैं किन्तु देहान्त नहीं होता उस साधक के चित्त में काम-क्रोधादि दोष आते ही रहते हैं।

शुद्धे चेतसि तस्यैव स्वात्मज्ञानं प्रकाशते।
तस्माज्ज्ञानं भवेद्योगाज्जन्मनैकेन पद्मज।।६५।।

हे ब्रह्मा! योगी का चित्त शुद्ध और निर्मल हो जाने पर उसके चित्त में अपने आत्मा का ज्ञान प्रकाशित हो उठता है। इसलिये योगाभ्यास से एक जन्म में ही तत्त्वज्ञान हो जाता है।

तस्माद्योगं तमेवादौ साधको नित्यमभ्यसेत्।
मुमुक्षुभिः प्राणजयः कर्तव्यो मोक्षहेतवे।।६६।।

इसलिये साधक को प्रारम्भ में प्रतिदिन योगाभ्यास करना चाहिये। मुक्ति चाहने वालों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी प्राणवायु को वश में करना चाहिये।

योगात् परतरं पुण्यं योगात् परतरं शिवम्।
योगात् परतरं सूक्ष्मं योगात् परतरं न हि।।६७।।

योग से श्रेष्ठ पुण्य कार्य कोई नहीं है। योग वस्तुतः कल्याणकारी है। योग से अधिक सूक्ष्म विद्या कोई नहीं है। योग से श्रेष्ठ संसार में कुछ भी नहीं है।

योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।।६८।।
एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते।

प्राण और अपान वायु की एकता, अपने रज-वीर्य की एकता, सूर्य और चन्द्रमा की एकता तथा जीवात्मा और परमात्मा की एकता आदि अन्य युग्मों की परस्पर एकता या संयोग को योग कहते हैं।

योगशिखोपदेश

अथ योगशिखां वक्ष्ये सर्वज्ञानेषु चोत्तमाम्।।६९।।
यदाऽनुध्यायते मन्त्रं गात्र कम्पोऽथ जायते।

अब मैं सर्वोष्कृष्ट ज्ञान योग शिखा का उपदेश करता हूँ। योगाभ्यास प्रारम्भ करने पर मन्त्र जाप करते हुए शरीर में कम्पन होने लगता है। इसलिये शरीर का हिलना रोकने के लिये किसी सुखप्रद आसन में बैठना चाहिये।

आसनं पद्मकं बद्धवा यच्चान्यदपि रोचते।।७०।।
नासाग्रे दृष्टिमारोप्य हस्तपादौ च संयतौ।
मनः सर्वत्र संगृह्य ओंकारं तत्र चिन्तयेत्।।७१।।
ध्यायते सततं प्राज्ञो हृत्कृत्वा परमेश्वरम्।

पद्मासन में या अपनी इच्छानुसार किसी भी आसन में बैठकर नाक के अगले भाग पर दृष्टि लगानी चाहिये। मन की सभी चिन्ताओं को छोड़कर और हाथ-पैर न हिला-जुला कर ओंकार का या प्रणव मंत्र ओ३म् का जप करना चाहिये। प्रणवजप के समय हृदय में परमात्मा का चिन्तन निरन्तर करना चाहिये।

एकस्तम्भे नवद्वारे त्रिस्थूणे पञ्चदैवते।।७२।।
ईदृशे तु शरीरे वा मतिमान्नोपलक्षयेत्।

हमारे शरीर में मन ही ऐसा खम्भा है जो शरीर को थामे हुए है अथवा शरीर के मेरुदण्ड या रीढ़ की हड्डी से ही सारा शरीर चलता-फिरता और सारे काम करता है इसलिये शरीर का खम्भा रीढ़ की हड्डी है। हमारा मुख, दो आँखें, दो कान, दो नासा रन्ध्र, गुदा और मूत्रेन्द्रिय (लिंग-उपस्थ) ये नौ दरवाजे या छिद्र हैं। वात, पित्त, कफ रूपी शरीर के तीन सहायक आधार हैं। हमारा शरीर पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और तेज इन पाँच महाभूतों से बना है। प्रकृति के इन पाँच तत्त्वों के अधिदेवता ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव हैं। पाँच महाभूतों के संयोग से बने इस शरीर को बुद्धिमान व्यक्ति अपना न समझे।

आदित्यमण्डलाकारं रश्मिज्वालासमाकुलम्।।७३।।
तस्य मध्यगतं वह्निं प्रज्वलेद्दीपवर्तिवत्।
दीपशिखा तु या मात्रा सा मात्रा परमेश्वरे।।७४।।

प्राणायाम के अभ्यास से मन शान्त और एकाग्र हो जाने पर मूलाधार की अग्नि का ध्यान करना चाहिये। यह अग्नि सूर्य के घेरे की तरह है और अनेक ज्योतियों से संयुक्त है। इस अग्नि के बीच में जो अत्यन्त सूक्ष्म दीपशिखा है उस पर परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये।

भिन्दन्ति योगिनः सूर्यं योगाभ्यासेन वै पुनः।
द्वितीयं सुषुम्नाद्वारं परिशुभ्रं समर्पितम्।।७५।।
कपाल सम्पुटं पीत्वा ततः पश्यति तत्पदम्।

योगाभ्यास से योगी सूर्यद्वार को भेदते हैं। इसके बाद वे कुण्डलिनी शक्ति से सुषुम्ना के दूसरे द्वार को भेद करके सहस्त्रार चक्र में पहुँचते हैं। वहाँ पर पीयूष ग्रन्थि (Pituitary Gland) से झरने वाले अमृतरस का पान करके तुरीय अवस्था या तुरीयातीत अवस्था में "मैं ही ब्रह्म हूँ" यह अनुभव करते हैं और इस अनुभव से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा ब्रह्म को साक्षात् करते हैं।

मुण्डक उपनिषद् में सूर्यद्वार का उल्लेख इस प्रकार किया गया है:–

सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषोह्यव्ययात्मा।।

मुण्डक १/२/११

वे पापों की धूल झाड़कर के सौर प्राण की योग विद्या के द्वारा मोक्ष की उस स्थिति को पा लेते हैं जहाँ अविनाशी अमृतमय परम पुरुष का सत्संग मिलता है।

सूर्यद्वार

पातंजल योगदर्शन के विभूतिपाद के सूत्र छब्बीस में सूर्यद्वार का उल्लेख है:-

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।। विभूतिपाद २६।।

इस सूत्र में सूर्य का अर्थ सूर्यद्वार है, इस पर सभी सहमत हैं। सूर्यद्वार का निश्चय करने के लिये पहिले सुषुम्ना का निश्चय करना चाहिये।

श्रुति कहती है:-

''तत्र श्वेतः सुषुम्ना ब्रह्मयानः।''

अर्थात् हृदय से ऊपर की ओर जाने वाली श्वेत (ज्योतिर्मय) सुषुम्ना नाड़ी है।

आत्मा के सम्बन्ध में मुण्डक में आया है— **''प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय''** (मुण्डक २/२/७)

अर्थात् हृदय; आत्मा तथा शरीर का सन्धि स्थल है। शरीर का सबसे अधिक प्रकाशशील अंश ही हृदय है। वक्षःस्थल ही साधारणतः हमारे अहम्भाव का केन्द्र है अतः वक्षःस्थल में अति प्रकाशशील या सूक्ष्मतम बोधमय अंश ही हृदय है।

हृदय से मस्तिष्क की ओर जाने वाली सूक्ष्म बोधधारा या ज्ञानतन्तु (Nerve) ही सुषुम्ना है। हमारे स्थूल शरीर में सुषुम्ना नहीं ढूंढी जा सकती। किन्तु ध्यान में सुषुम्ना का ज्ञान होता है। आधुनिक शरीर विज्ञान के अनुसार सुषुम्ना; रीढ़ की हड्डी के या मेरुदण्ड के बीच में है, परन्तु प्राचीन श्रुतिशास्त्र के मत में हृदय से ऊपर की ओर जाने वाली नाड़ी सुषुम्ना है। वस्तुतः कशेरुका मज्जा (Spinal cord), Pneumo gastric nerve और Carotid Artery इन तीनों के बीच में स्थित सूक्ष्मतम बोधवहा या

ज्ञानवहा नाड़ी (Nerve) ही सुषुम्ना है। यदि मस्तिष्क में क्षण भर भी रक्त न पहुँचे तो मस्तिष्क का काम रुक जाता है। कशेरुका मज्जा और Pneumogastric Nerve के बिना भी रक्त की गति और शरीर के बोध आदि रुक जाते हैं अत: ये तीन स्रोत ही प्राण धारण के अर्थात् मुण्डक उपनिषद में कहे गये आत्मा के साथ अन्न या शरीर के सम्बन्ध के मूल कारण हैं। अत: इनके बीच में स्थित सबसे सूक्ष्म प्रकाशशील अंश ही सुषुम्ना है।

योगी ज्ञानपूर्वक शारीरिक अभिमान (शारीरिक क्रिया) को त्याग देते हैं और इसके बाद बचे हुए इन सूक्ष्मतम प्रकाशशील अंशों को सबसे बाद में त्याग कर विदेह हो जाते हैं।

यह सुषुम्ना द्वार ही सूर्यद्वार है। सूर्य के साथ इसका कुछ सम्बन्ध रहने के कारण इसे सूर्य द्वार कहते हैं।

मैत्रायणी उपनिषद् के अनुसार

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि।
ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्यमण्डलम्।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन यान्ति परां गतिम्।।६।३०।१

अर्थात् हृदय में दीपक के समान स्थित पदार्थ की जो अनन्त किरणें हैं उनमें से एक ऊपर की ओर है। यह किरण या ज्ञानतन्तु (Nerve) सूर्य मण्डल को भेदकर उठी है। उसी के द्वारा ब्रह्मलोक को पार करके परमा गति प्राप्त होती है।

इसलिये ज्योतिष्मती प्रवृत्ति (सूक्ष्म, अत्यधिक दूर और दिखाई न देने वाले पदार्थ को प्रकाशित करने वाला ज्ञान का प्रकाश) की एक धारा ही सुषम्ना द्वार या सूर्यद्वार होता है। जो योगी ब्रह्मयान पथ से जाते हैं वे किसी कारण सूर्यमण्डल में पहुँच कर वहाँ से ब्रह्मलोक में जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (५/१०/१) के अनुसार—

.....स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते;
यथा लम्बरस्य खं तेन ऊर्ध्व आक्रमते.......

ब्रह्मयान पथ पर जाने वाला वह योगी आदित्य में आता है। अपने अंग सूक्ष्म करके आदित्य छेद करता है जैसे लम्बर नाम के वाद्ययन्त्र के बीच में छेद रहता है। उस छिद्र में से वह ऊर्ध्वगमन करता है। इसीलिये सुषुम्ना को सूर्यद्वार कहते हैं।

अथ न ध्यायते जन्तुरालस्याच्च प्रमादतः।।७६।।
यदि त्रिकालमागच्छेत् स गच्छेत् पुण्यसम्पदम्।
पुण्यमेतत् समासाद्य संक्षिप्य कथितं मया।।७७।।

यदि साधक आलस्य या प्रमाद के कारण ठीक प्रकार ध्यान नहीं करता फिर भी यदि वह प्रतिदिन प्रातः-सायम् और आधी रात में ईश्वर का स्मरण करता है तो उसे पुण्य प्राप्त होता है और इस पुण्य के कारण उसे सुख-ऐश्वर्य मिलता है। संक्षिप्त रूप में पुण्य का फल मैंने बता दिया।

योगाभ्यास की सफलता से आत्मस्वरूप का ज्ञान

लब्धयोगोऽथ बुध्येत प्रसन्नं परमेश्वरम्।
जन्मान्तर सहस्रेषु यदा क्षीणं तु किल्विषम्।।७८।।
तदा पश्यति योगेन संसारोच्छेदनं महत्।

योगाभ्यास में सफलता मिलने पर साधक को आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है। जिन साधकों के पापकर्म अनेक जन्मों में सात्विक कर्म करने के कारण नष्ट हो जाते हैं वे योगाभ्यास के द्वारा इस माया मोह वाले संसार से विरक्त हो जाते हैं। ऐसे साधक योगाभ्यास से संसार का नाश अर्थात् क्षणभंगुरता जान लेते हैं।

प्राणायाम सिद्ध योगी को प्रसन्न करना

अधुना संप्रवक्ष्यामि योगाभ्यासस्य लक्षणम्।।७९।।

अब मैं योगाभ्यास का उपाय बतलाता हूँ।

मरुज्जयो यस्य सिद्धः सेवयेत्तं गुरुं सदा।
गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात् प्राणजयं बुधः।।८०।।

जिस योगी ने अपने प्राणों को वश में कर लिया है उसे साधक अपना गुरु बनाये और गुरु द्वारा बतायी हुई विधि से अपनी प्राणवायु को वश में करे।

सरस्वती चालनम्

वितस्तिप्रमितं दैर्घ्यं चतुरङ्गुलविस्तृतम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनाम्बर लक्षणम्।।८१।।

एक बालिश्त लम्बा और चार अंगुलि चौड़ा सफेद मुलायम और पतला कपड़ा तगड़ी से बांधना चाहिये।

गोरक्षपद्धति, घेरण्ड संहिता और हठयोग प्रदीपिका में शक्ति चालन मुद्रा का विस्तृत वर्णन किया गया है। यह मुद्रा कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिये की जाती है।

गोरक्षपद्धति में शक्तिचालन मुद्रा की विधि इस प्रकार बताई गई है– दोनों हाथों की हथेलियाँ एक दूसरी के ऊपर रखकर, पद्मासन लगाकर और ठोडी को कण्ठकूप में लगाकर अर्थात् जालन्धर बन्ध लगाकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। मूलाधार बन्ध लगाकर अपनावायु को ऊपर प्राणवायु में मिलाकर कुम्भक प्राणायाम करना चाहिये। फिर धीरे-धीरे श्वास निकालना चाहिये।

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार शक्तिचालन मुद्रा में कन्द को भी दबाया जाता है। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार मूलाधार से एक बालिश्त ऊपर कन्द का स्थान है। गोरक्षपद्धति में कन्द का स्थान लिंगमूल से ऊपर और नाभि के नीचे बताया गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार गुदा से दो अंगुलि ऊपर और लिंगमूल से दो अंगुलि नीचे मनुष्यों के शरीर का मध्यभाग होता है। शरीर के मध्यगभाग से नौ अंगुलि ऊपर कन्द का स्थान है। कन्द चार अंगुलि चौड़ा और चार अंगुलि लम्बा होता है। इसकी शक्ल अण्डे जैसी होती है और यह चमड़ी तथा नाड़ियों आदि के गुच्छे जैसा होता है।

गोरक्षपद्धति और हठयोग प्रदीपिका में कन्द का स्थान याज्ञवल्क्य के वर्णन से मिलता-जुलता ही है। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार वज्रासन में बैठकर एड़ियों के पास पैरों को हाथों से पकड़कर कन्द को जोर से दबाना

चाहिये। वज्रासन में बैठकर आगे झुकने से कन्द पर दबाव पड़ता है। शक्तिचालन मुद्रा की यह विधि है। शक्तिचालन मुद्रा के अभ्यास के बाद भस्त्रा कुम्भक प्राणायाम करने से कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है।

कुछ साधकों के अनुसार शक्तिचालन मुद्रा वज्रासन में बैठकर नहीं अपितु पद्मासन या सिद्धासन लगाकर करनी चाहिये। इन आसनों में बैठकर हाथों की दोनों हथेलियाँ जमीन पर जमा देनी चाहियें। फिर हथेलियों के सहारे सारा शरीर उठाकर दोनों नितम्बों को पृथ्वी पर मारना चाहिये। ऐसा २०-२५ बार करके नाक का जो भी स्वर चल रहा हो उससे पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिये। कुम्भक के समय मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध और जालन्धर बन्ध एक साथ लगाने चाहियें। फिर रेचक करना चाहिये।

घेरण्ड संहिता में शक्ति चालन मुद्रा करते समय एक बालिश्त लम्बा और चार अंगुलि चौड़ा पतला मुलायम और सफेद कपड़ा नाभि पर बांधने का विधान है। घेरण्ड संहिता के अनुसार शक्तिचालन मुद्रा के लिये सिद्धासन में बैठकर कुम्भक प्राणायाम करना चाहिये और कुम्भक में अश्विनी मुद्रा से गुदा को सिकोड़ना और खोलना चाहिये।

शक्ति चालन से तीन ग्रन्थियों का भेद

निरुध्य मारुतं गाढं शक्तिचालनयुक्तितः।
अष्टधा कुण्डलीभूतामृज्वीं कुर्यात्तु कुण्डलीम्।।८२।।

शक्तिचालन मुद्रा के अभ्यास से प्राणवायु को काफी देर तक रोककर आठ कुण्डली मारकर सोई हुई कुण्डलिनी को सीधा कर के जगाना चाहिये।

पायोराकुंचनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत् तदा।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः।।८३।।

शक्तिचालन मुद्रा से गुदा को सिकोड़ना और खोलना चाहिये तथा कुण्डली को जगाना चाहिये। यह अभ्यास करने वाला योगी यदि मौत के मुँह में भी पड़ जाये तब भी उसे मृत्यु का भय नहीं सताता।

एतदेव परं गुह्यं कथितं तु मया तव।
वज्रासनगतो नित्यमूर्ध्वमाकुञ्चमभ्यसेत्।।८४।।

मैंने तुम्हें यह अत्यन्त गुप्त विधि बताई है। योगी को वज्रासन में बैठकर प्रतिदिन अश्विनी मुद्रा के द्वारा गुदा को सिकोड़ना और खोलना चाहिये।

वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्।
संतप्ता साग्निना जीवशक्तिः त्रैलोक्यमोहिनी।।८५।।
प्रविशेच्चन्द्रतुण्डे तु सुषुम्नावदनान्तरे।

गुदा को बार-बार सिकोड़ने और खोलने से प्रदीप्त हुई प्राण-वायु की अग्नि से कुण्डली जाग उठती है। जागने के बाद कुण्डली सुषुम्ना के चन्द्र जैसे शीतल स्पर्श से शान्त होकर सुषुम्ना के मुख में प्रविष्ट हो जाती है। योगियों ने अनुभव किया है कि सुषुम्ना नाड़ी चन्द्रमा के समान शीतल है। कुण्डलिनी शक्ति तीनों लोकों के निवासियों को मोहित कर देती है।

वायुना वह्निना सार्धं ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्ति सा।।८६।।
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्त्वा रुद्रग्रन्थौ च तिष्ठति।
ततस्तु कुम्भकैर्गाढं पूरयित्वा पुनः पुनः।।८७।।

सुषुम्ना में प्रविष्ट कुण्डलिनी प्राणवायु की अग्नि के द्वारा ब्रह्मग्रन्थि को भेद देती है। सुषुम्ना में प्रवेश करने का मूलाधार चक्र का द्वार ब्रह्मग्रन्थि से बन्द रहता है। ब्रह्मग्रन्थि को भेदकर कुण्डलिनी शक्ति अनाहत चक्र या हृदय चक्र के द्वार को बन्द रखने वाली विष्णुग्रन्थि को भेद डालती है। सहस्रार चक्र की ओर बढ़ती हुई कुण्डलिनी शक्ति भ्रूमध्य में स्थित आज्ञाचक्र के दरवाजे को बन्द रखने वाली रुद्रग्रन्थि को भेद देती है। रुद्रग्रन्थि को भेदने के लिये प्राण वायु को बार-बार भरकर कुम्भक प्राणायाम करना चाहिये।

चार कुम्भक प्राणायाम

अथाभ्यसेत् सूर्यभेदमुज्जायीं चापि शीतलीम्।
भस्त्रां च सहितो नाम स्याच्चतुष्टयकुम्भकः।।८८।।
बन्धत्रयेण संयुक्तः केवल प्राप्तिकारकः।

योगी को सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली और भस्त्रा ये चार कुम्भक प्राणायाम; मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध और जालन्धर बन्ध ये तीनों बन्ध एक साथ लगाकर करने चाहियें। इन चार कुम्भक प्राणायामों से योगी कैवल्य प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होता है।

सूर्यकुम्भक का लक्षण

अथास्यलक्षणं सम्यक् कथयामि समासतः।।८९।।

अब मैं सूर्यभेदी कुम्भक प्राणायाम का लक्षण संक्षेप से भली भांति बतलाता हूँ।

एकाकिना समुपगम्य विविक्तदेशं
प्राणादिरूपममृतं परमार्थतत्वम्।
लघ्वाशिना धृतिमता परिभावितव्यम्
संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम्।।९०।।

साधक को अकेले निर्जन स्थान में बैठकर परमार्थ तत्व को बताने वाले अमृतस्वरूप प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम के द्वारा संसार का मोह माया जाल रूप रोग निश्चय ही दूर हो जाता है। प्राणायाम का अभ्यास करने वाले को मिताहार या नपा-तुला हल्का भोजन करना चाहिये और धैर्यपूर्वक योगाभ्यास नियमित रूप से करना चाहिये।

सूर्यनाड्या समाकृष्य वायुमभ्यासयोगिना।
विधिवत् कुम्भकं कृत्वा रेचयेत् शीतरश्मिना।।९१।।

सूर्यनाड़ी अर्थात् पिंगला नाड़ी या नाक के दांये सुर से प्राणवायु को फेफड़ों में भरना चाहिये। प्राणवायु को फेफड़ों में विधिवत् रोक कर शीतरश्मि या चन्द्र नाड़ी अर्थात् नाक के बांये सुर से प्राणवायु को निकाल देना चाहिये।

प्राणायाम के तीन अंश है– पूरक, कुम्भक, रेचक अर्थात् प्राणवायु भरना, इसे अन्दर रोकना और निकालना। पूरक, कुम्भक, रेचक के बीच १:४:२ का अनुपात होना चाहिये। यदि एक मिनट में वायु भरी जाती है

या पूरक किया जाता है तो चार मिनट तक वायु फेफड़ों में रोकनी चाहिये या कुम्भक करना चाहिये। इसके बाद दो मिनट में धीरे-धीरे और बिना झटके के प्राणवायु निकालनी चाहिये। प्रारम्भ में प्राणवायु को अन्दर बहुत देर तक नहीं रोका जा सकता अतः धीरे-धीरे समय बढ़ाना चाहिये। मुख से श्वास कभी नहीं छोड़ना या निकालना चाहिये। किन्हीं प्राणायामों में श्वास मुख से भरा जाता है किन्तु किसी भी अवस्था में प्राणायाम के अभ्यास में श्वास मुख से निकाला नहीं जाता।

उदरे बहुरोगघ्नं कृमिदोषं निहन्ति च।
मुर्हुमुहुरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम्।।९२।।

सूर्यभेदी प्राणायाम से पेट के अनेक रोग और कीड़े नष्ट हो जाते हैं। इस प्राणायाम का अभ्यास बार-बार करना चाहिये।

उज्जायी कुम्भक

नाडीभ्यां वायुमाकृष्य कुण्डल्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
धारयेदुदरे पश्चाद्रेचयेदिडया सुधीः।।९३।।

मुख बन्द करके नाक के दांये-बांये दोनों सुरों से धीरे-धीरे वायु भरनी चाहिये। इस प्रकार इडा और पिंगला नाड़ियों से श्वास भरने से बीच की सुषुम्ना नाड़ी प्रभावित होती है। श्वास को नीचे कुण्डली के दोनों ओर भेजने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये हठयोगप्रदीपिका के अनुसार श्वास भरते समय गले को सिकोड़कर शब्द करते हुए वायु को मुँह से गले में और गले से हृदय तक ले जाना चाहिये। वायु को थोड़ी देर तक गले, मुँह और हृदय में रोकना चाहिये। फिर श्वास को इडा नाड़ी या बांये स्वर से निकालना चाहिये।

कण्ठे कफादिदोषघ्नं शरीराग्निविवर्धनम्।
नाडीजलापहं धातुगतदोषविनाशनम्।।९४।।
गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्।

उज्जायी कुम्भक प्राणायाम से गले के कफ आदि रोग नष्ट होते हैं, शरीर की अग्नि बढ़ती है, नाड़ियों में भरा पानी सूख जाता है, रक्त, रस,

मांस आदि शरीर की धातुओं के दोष दूर हो जाते हैं इसलिये चलते-फिरते उज्जायी प्राणायाम करना चाहिये।

शीतली प्राणायाम

मुखेन वायुं संगृह्य घ्राणरन्ध्रेण रेचयेत्।।९५।।
शीतलीकरणं चेदं हन्ति पित्तं क्षुधां तृषाम्।

मुख से वायु भरकर उसे कुछ देर रोककर नाक से निकालना चाहिये। शीतली प्राणायाम पित्त दोषों को, भूख और प्यास को दूर कर देता है।

भस्त्रिका कुम्भक

स्तनयोरथ भस्त्रेव लोहकारस्य वेगतः।।९६।।
रेचयेत्पूरयेत् वायुमाश्रमं देहगं धिया।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत्।।९७।।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्।

जैसे लुहार की धौंकनी से हवा भरी और निकाली जाती है वैसे ही फेफड़ों से जल्दी-जल्दी श्वास भरना और निकालना चाहिये। जब श्वास-प्रश्वास करते-करते थकान अनुभव होने लगे तब श्वास को सूर्य नाड़ी या दांये स्वर से भरना चाहिये। फिर गला बन्द करके बांये स्वर या चन्द्र नाड़ी से श्वास निकाल देना चाहिये।

वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम्।।९८।।
कुण्डली बोधकं वक्त्रदोषघ्नं शुभदं सुखम्।
ब्रह्मनाडीमुखान्तःस्थकफाद्यर्गलनाशनम्।।९९।।
सम्यग्बन्धसमुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदकम्।
विशेषेणै वकर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्।।१००।।

भस्त्रा प्राणायाम से वात, पित्त, कफ से उत्पन्न दोष दूर होते हैं, शरीर की अग्नि बढ़ती है, कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है, मुख के रोग दूर होते हैं। यह प्राणायाम सुखदायी और कल्याणकारी है। ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी के मुख पर पड़ी कफ की रुकावट को हटा देता है। यदि भस्त्रा

प्राणायाम तीनों बन्धों के साथ ठीक प्रकार से किया जाय तो ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि ये तीनों ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। अत: भस्त्रा कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिये।

तीन बन्ध

बन्धत्रयमथेदानीं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम्।
नित्यं कृतेन तेनासौ वायोर्जयमवाप्नुयात्।।१०१।।

अब मैं क्रमश: जालन्धर बन्ध, उड्डीयान बन्ध और मूलबन्ध की विधि बतलाऊँगा। इन बन्धों का नियमित अभ्यास प्राणवायु पर अधिकार प्राप्त करा देता है।

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते।
बन्धत्रयमिदं कार्यं वक्ष्यमाणं मया हि तत्।।१०२।।

चारों कुम्भक प्राणायामों के अभ्यास के साथ इन तीन बन्धों को भी लगाना चाहिये।

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयो ड्डीयाणाभिधः।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम्।।१०३।।

पहिला बन्ध मूलबन्ध है। दूसरा उड्डीयाण बन्ध है और तीसरा जालन्धर बन्ध है। मैं इनके लक्षण बतलाता हूँ।

मूलबन्ध

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।
वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः।।१०४।।

गुदा को एड़ी से दबाकर और गुदा को सिकोड़ कर वायु को ऊपर उठाने का प्रयत्न बार-बार करना चाहिये।

प्राणापानौ नाद बिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।।१०५।।

प्राण और अपानवायु तथा अनाहत नाद और वीर्य मूलबन्ध के

अभ्यास से आपस में मिल जाते हैं। इस स्थल पर उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने नाद तथा बिन्दु का अर्थ बुद्धि और मन किया है। इस बन्ध के अभ्यास से योग में सफलता अवश्य मिलती है।

उड्डीयान बन्ध

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डीयाणकः।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।।१०६।।

कुम्भक के अन्त में और रेचक के प्रारम्भ में उड्डीयान बन्ध लगाना चाहिये। यह बन्ध लगाने से प्राणवायु; सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है इसलिये यह बन्ध उड्डीयान कहलाता है।

तस्मादुड्डीयाणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।
उड्डीयाणं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।।१०७।।

योगी इसीलिये इस बन्ध को उड्डीयान कहते हैं। गुरु यह बन्ध सिखाते हैं।

अभ्यसेत्तदन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत्।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि ताणं कुर्यात् प्रयत्नतः।।१०८।।

उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करने से बूढ़ा व्यक्ति भी युवक हो जाता है। नाभि के ऊपर और नीचे का पेट पीठ की ओर खींचकर उड्डीयान बन्ध लगाया जाता है। उड्डीयान बन्ध का अभ्यास शुरू करने पर प्राणवायु को बाहर निकाल कर पेट अन्दर ले जाना चाहिये। थोड़ी देर बाद श्वास भरकर पेट को ढीला छोड़ देना चाहिये।

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः।

छह महीने तक उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करते रहने से योगी निश्चय ही मृत्यु पर विजय पर लेता है।

जालन्धर बन्ध

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः।।१०९।।

कण्ठ संकोचन रूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया।।११०।।

पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध लगाना चाहिये। जालन्धर बन्ध लगाने के लिये ठोडी को कण्ठ कूप में या गले के गडहे में कसकर लगाना चाहिये।

बन्धोजालन्धराख्योऽयममृताप्यायकारकः।
अधस्तात् कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते।।१११।।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः।

जालन्धर बन्ध अमरत्व अर्थात् दीर्घायु प्रदान करता है। ठोडी को कण्ठकूप में लगाने से और पेट को पीठ से सटाने से अर्थात् उड्डीयान बन्ध लगाने से और मूलबन्ध लगाने से प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में चलने लगता है।

कुण्डली से तीन ग्रन्थियाँ भेदने से निर्विकल्प प्राप्ति

वज्रासन स्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम्।।११२।।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रीं कुण्डलीमाशु बोधयेत्।
भिद्यन्ते ग्रन्थयो वंशे तप्तलोहशलाकया।।११३।।

योगी वज्रासन में बैठकर शक्तिचालन मुद्रा से कुण्डली को चलाने का अभ्यास करे। इसके बाद वह भस्त्रा प्राणायाम करे। ये दो अभ्यास करने से कुण्डली जल्दी ही जाग जाती है और शरीर की तीनों ग्रन्थियाँ उसी तरह खुल जाती हैं जैसे लोहे की गरम सींक बांस में डालने से बांस की गांठे खुल जाती हैं।

तथैव पृष्ठवंशे स्याद् ग्रन्थिभेदस्तु वायुना।
पिपीलिकायां लग्नायां कण्डूस्तत्र प्रवर्तते।।११४।।

इस अभ्यास से रीढ़ की हड्डी की गाँठें भी खुल जाती हैं। ग्रन्थि-भेद की पहिचान यही है कि कमर में चींटी काटने जैसे खुजली होने लगती है।

सुषुम्नायां तथाऽभ्यासात् सततं वायुना भवेत्।
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा ततो याति शिवात्मकम्।।११५।।

भस्त्रा आदि प्राणायामों के अभ्यास से सुषुम्ना नाड़ी में प्राणवायु की गति शुरू होने पर चींटी के चलने या काटने जैसी सरसराहट या खुजली कमर में होने लगती है। इस अवस्था में कुण्डलिनी शक्ति भ्रूमध्य के आज्ञाचक्र का द्वार बन्द रखने वाली रुद्रग्रन्थि को भेदकर योगी को तुरीयावस्था में या शिवात्मक, कल्याणकारी अवस्था में पहुँचा देती है।

चन्द्रसूर्यौ समौ कृत्वा तयोर्योगः प्रवर्तते।
गुणत्रयमतीतं स्यात् ग्रन्थित्रय विभेदनात्।।११६।।
शिवशक्ति समायोगे जायते परमा स्थितिः।

सुषुम्ना में प्राणवायु चलने की यह पहिचान है कि चन्द्र नाड़ी और सूर्य नाड़ी में अर्थात् इडा और पिंगला नाड़ियों में या नाक के बांये-दांये दोनों सुरों में प्राणवायु एक साथ चलने लगता है। सामान्य अवस्था में नाक के एक सुर में लगभग ढाई घण्टे तक (दो घण्टे २४ मिनट तक) प्राणवायु चलती है और दूसरा स्वर बन्द रहता है। कुण्डलिनी शक्ति द्वारा मूलाधार चक्र की ब्रह्मग्रन्थि, अनाहत चक्र की विष्णुग्रन्थि और आज्ञाचक्र की रुद्रग्रन्थि के टूट जाने से योगी पर सत्व, रज और तम प्रकृति के इन तीनों गुणों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस अवस्था में शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का शिव अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र की तुरीयावस्था से मिलन हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप योगी की स्वाभाविक निर्विकल्प अवस्था हो जाती है। निर्विकल्प अवस्था में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के भेद से रहित अन्तःकरण की वृत्ति अखण्ड ब्रह्माकार हो जाती है।

सुषुम्ना से मोक्षमार्ग और काल विजय

यथा करी करेणैव पानीयं प्रपिबेत् सदा।।११७।।
सुषुम्नावज्रनालेन पवमानं ग्रसेत् तथा।

जैसे हाथी अपनी सूंड से ही पानी पीता है वैसे ही सिद्ध योगी सुषुम्ना नाड़ी के वज्रनाल से प्राणवायु लेता है।

वज्रदण्डसमुद्भूता मणयश्चैकविंशतिः।।११८।।
सुषुम्नायां स्थिताः सर्वे सूत्रे मणिगणा इव।

सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर वज्रदण्ड नाम का वीणादण्ड है। इस वज्रदण्ड में २१ मणियाँ या चने के बराबर छोटे-छोटे मांस पिण्ड हैं। सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग का अन्धकार दूर करने के लिये ये मांस पिण्ड मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र के अन्त तक दीपक की भांति प्रकाशित रहते हैं। ये सभी मणियाँ सुषुम्ना के वीणादण्ड या वज्रदण्ड में तागे में पिरोये हुए मनकों की तरह पिरोई रहती हैं। सिद्धयोगी इनको प्रत्यक्ष देखते हैं।

मोक्षमार्गे प्रतिष्ठानात् सुषुम्ना विश्वरूपिणी।।११९।।
यथैव निश्चितः कालश्चन्द्रसूर्य निबन्धनात्।
आपूर्य कुम्भितो वायुर्बहिर्नो याति साधके।।१२०।।

विश्वारूपिणी सुषुम्ना नाड़ी योगी को मोक्षमार्ग में प्रतिष्ठित कर देती है। सुषुम्नानाड़ी; विश्व के आधार ब्रह्म के, आश्रय में है अत: इसे विश्वरूपिणी कहते हैं। जैसे रात-दिन और पल-मुहूर्त आदि का समय चन्द्रमा और सूर्य के साथ बंधा हुआ है उसी प्रकार सुषुम्ना नाड़ी में प्राणवायु चलने पर योगी को समाधि में क्षण भर से लेकर कल्पान्त तक या सृष्टि के अन्त तक के अत्यन्त लम्बे काल का भान नहीं रहता अत: सुषुम्ना को काल भोक्त्री कहा जाता है।

योगी द्वारा सुषुम्नानाड़ी के मार्ग से प्राणवायु भरने पर प्राणवायु सुषुम्ना में रुक जाता है और योगी श्वास-निश्वास नहीं करता। सांस लेने और छोड़ने की गति के आधार पर प्राणायाम के अभ्यास पर ध्यान रखा जाता है किन्तु सुषुम्ना में प्राणवायु के रुक जाने पर योगी को समय का भान नहीं रहता।

पुनः पुनस्तद्वदेव पश्चिमद्वारलक्षणम्।
पूरितस्तु स तद्द्वारैरीषत् कुम्भकतां गतः।।१२१।।
प्रविशेत् सर्वगात्रेषु वायुः पश्चिममार्गतः।
रेचितः क्षीणतां याति पूरितः पोषयेत् ततः।।१२२।।

यदि प्रमादवश प्राणवायु सुषुम्ना से बाहर निकल जाता है तब योगी को पहिले की तरह प्राणवायु को सुषुम्ना में रोकना चाहिये। सुषुम्ना से पूरक करके अर्थात् प्राणवायु को भरकर प्राणवायु को सुषुम्ना में ही रोकना या

कुम्भक करना चाहिये। सुषुम्ना मार्ग से या पश्चिमद्वार से प्राणवायु भरने पर इस प्राणायाम के अभ्यास के प्रारम्भ में प्राणवायु सुषुम्ना में थोड़ी देर तक ही रुक पाता है। इस अवस्था में प्राणवायु सुषुम्ना के मार्ग से ही शरीर के सारे अंगों में प्रविष्ट हो जाता है। यदि किसी कारण सुषुम्ना से निकला वायु दुर्बल पड़ जाता है तब सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु को फिर भरने पर सुषुम्ना में रुका यह प्राणवायु सारे शरीर को पुष्ट करता है।

सुषुम्ना योग से ब्रह्मज्ञानसिद्धि

यत्रैव जातं सकलेवरं मनस्तत्रैव लीनं कुरुते स योगात्।
स एव मुक्तो निरहंकृतिः सुखी मूढा न जानन्ति हि पिण्डपातिनः।।१२३।।
चित्तं विनष्टं यदि भासितं स्यात्तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः।
न चेत् यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः।।१२४।।
जम्बुको रुधिरं यद् बलादाकृष्यति स्वयम्।
ब्रह्मनाडी तथा धातून् संतताभ्यासयोगतः।।१२५।।
अनेनाभ्यासयोगेन नित्यमासनबन्धतः।
चित्तं विलीनतामेति बिन्दुर्नो यात्यधस्तथा।।१२६।।

योगी का शरीर जिस किसी स्थान में होता है वहीं पर योगाभ्यास के द्वारा योगी अपना मन परम तत्व ब्रह्म में लीन कर देता है। इस स्थिति में पहुँचा हुआ अहंकार रहित योगी ही मुक्त और सुखी होता है। अपने शरीर के ही साज-शृंगार में लगे रहने वाले मूर्ख लोग योग की इस अवस्था को नहीं जानते। जब चित्त सुषुम्ना में लीन होकर आत्मज्ञान से प्रकाशित हो उठता है तब प्राणवायु भी सुषुम्ना में लीन हो जाता है। योगी यदि इस अवस्था में नहीं पहुँच पाता तो उसके लिये शास्त्रज्ञान और गुरु का उपदेश व्यर्थ ही होता है। वह आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकता और न ही उसे मोक्ष प्राप्ति होती है।

जैसे गीदड़ पशु के शरीर से रक्त जबर्दस्ती पी जाता है वैसे ही योगाभ्यास से सुषुम्ना नाड़ी सांसारिक पदार्थों और उनके ज्ञान को नष्ट कर देती है।

योगासनों और तीनों बन्धों का नित्य अभ्यास करने से चित्त; सुषुम्ना में लीन हो जाता है और योगी का वीर्यपात नहीं होता। वह ऊर्ध्वरेता बन जाता है।

योगाभ्यास से स्वरूपावस्थिति का क्रम

रेचकं पूरकं मुक्त्वा वायुना स्थीयते स्थिरम्।
नाना नादाः प्रवर्तन्ते संस्रवेच्चन्द्रमण्डलम्।।१२७।।
नश्यन्ति क्षुत्पिपासाद्याः सर्वदोषास्ततस्तदा।
स्वरूपे सच्चिदानन्दे स्थितिमाप्नोति केवलम्।।१२८।।
कथितं तु तव प्रीत्या ह्येतदभ्यासलक्षणम्।

सुषुम्ना में प्राणवायु के ठहर जाने पर योगी श्वास-प्रश्वास करना या रेचक-पूरक करना छोड़ देता है। उसे अनेक प्रकार के अनाहत नाद सुनाई देने लगते हैं और उसके ब्रह्मरन्ध्र की पीयूष ग्रन्थि से (Pituitary gland) से अमृत झरने लगता है। इस अमृतपान से योगी की भूख-प्यास मिट जाती है और शरीर तथा मन के सारे दोष नष्ट हो जाते हैं। योगी सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित हो जाता है। मैंने तुम्हें स्नेह के कारण योगाभ्यास से उत्पन्न इन लक्षणों को बताया है।

मन्त्रो लयो हठो राजयोगोन्त भूर्मिकाः क्रमात्।।१२९।।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।

मन्त्रयोग, लय योग, हठयोग और राजयोग तक ये चारों योग एक ही महायोग की चार प्रकार की भूमिकाएँ हैं।

मन्त्रयोग

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।।१३०।।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैजीवैश्च जप्यते।
गुरुवाक्यात् सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः।।१३१।।
सोऽहं सोऽहमिति यः स्यान्मन्त्रयोगः स उच्यते।

जब हम श्वास छोड़ते हैं तब 'ह' शब्द होता है और श्वास भरते हुए

'स' शब्द होता है। इस तरह हम श्वास भरते और छोड़ते हुए सदा 'हंस' 'हंस' यह शब्द जपते रहते हैं। सद्गुरु की कृपा से 'हंस' 'हंस' का अजपा जप सुषुम्ना में उल्टा होने लगता है। तब योगी 'सोऽहम्' 'सोऽहम्' का जप करने लगता है। यही मन्त्रयोग कहलाता है।

हठयोग

प्रतीतिमन्त्रयोगाच्च जायते पश्चिमे पथे।।१३२।।
हकारेण तु सूर्यः स्यात् सकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते।।१३३।।

मन्त्र योग के अभ्यास से सुषुम्ना नाड़ी में ब्रह्मज्ञान का आभास होने लगता है।

'ह' अक्षर का अर्थ सूर्य है और 'ठ' का अर्थ चन्द्रमा है। सूर्य और चन्द्रमा की एकता अर्थात् नाक के दांये स्वर की सूर्य नाड़ी पिंगला और बांये स्वर की चन्द्र नाड़ी इडा में एकता स्थापित हो जाने को हठयोग कहते हैं। प्राणायाम के नियमित और दीर्घकालीन अभ्यास से प्राणवायु इडा-पिंगला के बीच की नाड़ी सुषुम्ना में चलने लगता है। सुषुम्ना में प्राणवायु के चलने की पहिचान या संकेत यह है कि नाक के दोनों सुरों में श्वास-प्रश्वास एक साथ होने लगता है।

लययोग

हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम्।
क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत्।।१३४।।

हठयोग के अभ्यास से सभी दोषों से उत्पन्न जाड्य या अविद्या नष्ट हो जाती है। जब परमात्मा और जीवात्मा का मिलन या एकता हो जाती है, तब—

तदैक्यं साधिते ब्रह्मं चित्तं याति विलीनताम्।
पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति।।१३५।।
लययोगात् प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दं परं पदम्।

जीवात्मा और परमात्मा के बीच एकता या अभिन्नता स्थापित हो जाने

पर चित्त लीन हो जाता है। लययोग सिद्ध होने पर प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में ठहर जाता है। लययोग से सुखस्वरूप आत्मानन्द रूप परम पद प्राप्त होता है।

राजयोग

योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसन्निभम्।।१३६।।
रजो वसति जन्तूनां देवीतत्त्वं समावृतम्।
रजसो रेतसो योगात् राजयोग इति स्मृतः।।१३७।।
अणिमादिं पदं प्राप्य राजते राजयोगतः।

प्राणियों की योनि में या महाक्षेत्र में जवाकुसुम और बन्धूक पुष्प के समान लाल रंग का रज होता है। इस रज में देवी तत्त्व विराजमान होता है। रज और रेतस अर्थात् वीर्य का संयोग राजयोग कहलाता है। योगी राजयोग के अभ्यास से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त करता है।

योगाभ्यास से मुक्ति

प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम्।।१३८।।
संक्षेपात् कथितं ब्रह्मन्नान्यथा शिव भाषितम्।

प्राण वायु और अपानवायु का संयोग या एकता इन चारों प्रकार के योगों से होती है। हे ब्रह्मन्! मैंने संक्षेप से योग का वर्णन किया है। शिव की बात झूठी नहीं होती।

क्रमेण प्राप्यते प्राप्यमभ्यासादेव नान्यथा।।१३९।।
एकेनैव शरीरेण योगाभ्यासाच्छनैः शनैः।
चिरात् सम्प्राप्यते मुक्ति मर्कटक्रम एव सः।।१४०।।

योगाभ्यास से ही क्रमशः स्वस्थ शरीर, मन की एकाग्रता, सिद्धियाँ और मुक्ति प्राप्त होती है। एक ही शरीर से योगाभ्यास करते रहने से धीरे-धीरे सफलता मिलने लगती है। मोक्ष प्राप्ति बहुत समय बाद मर्कटक्रम से मिलती है। मोक्ष से पहिले अणिमादि सिद्धियाँ क्रम से आती हैं अर्थात् एक सिद्धि अगली सिद्धि का साधन बन जाती है।

योगसिद्धिं विना देहः प्रमादाद्यदि नश्यति।
पूर्ववासनया युक्तः शरीरं चान्यदाप्नुयात्।।१४१।।

योगसिद्धि प्राप्त किये बिना आलस्य में पड़कर यदि शरीर नष्ट हो जाता है तब जीवात्मा को उसकी पूर्वजन्म की वासनाओं के अनुसार अगला शरीर मिलता है।

ततः पुण्यवशात् सिद्धो गुरुणा सह संगतः।
पश्चिमद्वार मार्गेण जायते त्वरितं फलम्।।१४२।।
पूर्वजन्मकृताभ्यासात् सत्वरं फलमश्नुते।

अगले जन्मों में जीवात्मा अपने पुण्य कर्मों से सद्गुरु का साथ प्राप्त करता है। योगाभ्यास से उसे सुषुम्ना द्वार से जल्दी ही फल मिलता है।

पूर्वजन्मों में किये हुए योगाभ्यास से जल्दी ही उसे सफलता मिलती है।

एतदेव हि विज्ञेयं तत् काकमतमुच्यते।।१४३।।
नास्ति काकमतादन्यत् अभ्यासमतः परम्।
तेनैव प्राप्यते मुक्ति र्नान्यथा शिवभाषितम्।।१४४।।

यही बात जान लेनी चाहिये। इसे ही 'काकमत' कहते हैं। काकमत का अर्थ शिवजी का मत है। क या किम् शब्द का अर्थ माया या प्रकृति होता है। यह माया जिसके वश में है वह काक या मायावी महेश्वर शिव है। गीता के अनुसार **'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्'** है।

योगाभ्यास से बढ़कर अन्य कोई ऐसा उपाय नहीं है जिससे मुक्ति मिल सके।

योगी को सिद्धि लाभ

हठयोगक्रमात् काष्ठा सह जीवलयादिकम्।
नाकृतं मोक्षमार्गं स्यात् प्रसिद्धं पश्चिमं विना।।१४५।।

हठयोग के अभ्यास से स्वस्थशरीर, मन की एकाग्रता, समाधि आदि से लेकर जीवलय आदि तक की अवस्थाएँ क्रमशः उत्पन्न होती हैं। यह सहज या स्वाभाविक मोक्षमार्ग है। हठयोग के आसन, प्राणायाम, समाधि आदि सभी अंगों का अभ्यास करने से ही प्राणवायु पश्चिम पथ या सुषुम्ना मार्ग में चलने लगता है। इस महापथ पर चले बिना योगी सिद्धि नहीं पाता।

आदौ रोगाः प्रणश्यन्ति पश्चाज्जाड्यं शरीरजम्।
ततः समरसो भूत्वा चन्द्रो वर्षत्यनारतम्।।१४६।।

योगाभ्यास प्रारम्भ करने पर सबसे पहिले शरीर के रोग नष्ट हो जाते हैं। इसके बाद शरीर की जड़ता या आलस्य आदि नष्ट हो जाता है। प्राणाग्नि, सूर्य, चन्द्र और शिव-शक्ति के संयोग से सहस्रार में स्थित चन्द्रमा से अर्थात् पीयूष ग्रन्थि से निरन्तर अमृत टपकने लगता है।

धातूंश्च संग्रहेद् वह्निः पवनेन समन्ततः।
नाना नादाः प्रवर्तन्ते मार्दवं स्यात् कलेवरे।।१४७।।

इसके बाद मूलाधार में स्थित अग्नि प्राणवायु के साथ मिलकर शरीर की रक्त, रस, भेद, मांस, मज्जा आदि धातुओं को एकत्र कर शरीर का बल बढ़ाती है और वीर्यस्तम्भन करती है। कानों में अनेक प्रकार के अनाहत नाद सुनाई देने लगते हैं और शरीर कोमल हो जाता है।

जित्वा वृष्ट्यादिकं जाड्यं खेचरः स भवेन्नरः।
सर्वज्ञोऽसौ भवेत् कामरूपः पवनवेगवान्।।१४८।।

फिर योगी वर्षा आदि जड़ पदार्थों को वश में करके तेजस्वी बनकर आकाश में गति करने लगता है। वह सर्वज्ञ हो जाता है। अपनी इच्छा से रूप बदल सकता है और वायु के समान वेगयुक्त हो जाता है।

क्रीड़ते त्रिषु लोकेषु जायन्ते सिद्धयोऽखिलाः।
कपूरि लीयमाने किं काठिन्यं तत्र विद्यते।।१४९।।
अहंकार क्षये तद्वत् देहे कठिनता कुतः।

ऐसा योगी तीनों लोकों में विचरण करता है। उसे अणिमादि सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

दीपक की अग्नि के स्पर्श से कपूर में क्या कठिनता रह जाती है? वह तो अग्नि की गर्मी से पिघल जाता है। योगाग्नि से मन का अहंकार नष्ट हो जाने पर योगी के शरीर में कठोरता समाप्त हो जाती है। वह अग्नि की गर्मी से लीन या पिघले हुए कपूर की भांति कोमलदेह या आकाश देह हो जाता है और शरीर हल्का हो जाने के कारण आकाश आदि में कहीं भी जा सकता है।

सर्व कर्ता च योगीन्द्रः स्वतन्त्रोऽनन्तरूपवान्।।१५०।।
जीवन्मुक्तो महायोगी जायते नात्र संशयः।

योगीन्द्र सभी प्रकार के काम कर सकता है। वह सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है और अनन्त सौन्दर्य से युक्त हो जाता है। वह महायोगी निस्सन्देह जीवन्मुक्त हो जाता है।

स्वाभाविक और कृत्रिम सिद्धियाँ

द्विविधाः सिद्धयो लोके कल्पिताऽकल्पितास्तथा।।१५१।।
रसौषधिक्रियाजाल मन्त्राभ्यासादि साधनात्।
सिध्यन्ति सिद्धयो यास्तु कल्पितास्ताः प्रकीर्तिता।।१५२।।
अनित्या अल्पवीर्यास्ताः सिद्धयः साधनोद्भवाः।

संसार में दो प्रकार की सिद्धियाँ हैं कल्पित और अकल्पित। रस, ओषधि, अनेक प्रकार के क्रिया-कलापों, मन्त्र जप आदि अभ्यासों से जो सिद्धियाँ मिलती हैं वे कल्पित सिद्धियाँ होती हैं। ये सिद्धियाँ सदा नहीं रहतीं और इनकी शक्ति कम होती है क्योंकि ये अनेक साधनों से प्राप्त की जाती हैं।

साधनेन विनाप्येवं जायन्ते स्वत एव हि।।१५३।।
स्वात्मयोगैकनिष्ठेषु स्वातन्त्र्यादीश्वरप्रियाः।
प्रभूताः सिद्धयो यास्ताः कल्पनारहिताः स्मृताः।।१५४।।

स्वाभाविक या अकल्पित सिद्धियाँ किसी भी साधन के बिना स्वयं हो जाती हैं। स्वाभाविक सिद्धियाँ निष्ठापूर्वक योगाभ्यास करने वालों को हो जाती हैं। ये योगी स्वतन्त्र स्वभाव के कारण ईश्वर के स्नेहपात्र होते हैं। योगशास्त्र में जिन अनेक सिद्धियों का वर्णन है वे किसी प्रकार की कल्पना नहीं हैं अपितु वास्तविक हैं।

सिद्धा नित्या महावीर्या इच्छारूपाः स्वयोगजाः।
चिरकालात् प्रजायन्ते वासनारहितेषु च।।१५५।।

स्वाभाविक सिद्धियाँ सदा रहती हैं। इनका सामर्थ्य बहुत होता है। योगी के योगाभ्यास के कारण ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। योगी अपनी इच्छा

के अनुसार इनका उपयोग कर सकता है। स्वाभाविक सिद्धियाँ वासना रहित योगियों को लम्बी अवधि तक योगाभ्यास करने के बाद प्राप्त होती हैं।

तास्तु गोप्या महायोगात् परमात्मपदेऽव्यये।
विना कार्यं सदा गुप्तं योगसिद्धस्य लक्षणम्।।१५६।।

इन सिद्धियों गुप्त रखना चाहिये। ये सिद्धियाँ पाकर भी योगी को नित्य परमात्मपद के ध्यान में लीन रहकर योगाभ्यास करते रहना चाहिये। जो योगी किसी प्रयोजन के बिना इन सिद्धियों को गुप्त रखता है वही वास्तव में योगसिद्ध योगी होता है।

यथाऽऽकाशं समुद्दिशय गच्छद्भिः पथिकैः पथि।
नानातीर्थानि दृश्यन्ते नानामार्गास्तु सिद्धयः।।१५७।।

आकाश को लक्ष्य में रखकर रास्ता चलने वाले यात्रियों के मार्ग में अनेक तीर्थ आते हैं उसी प्रकार योगाभ्यास करने वालों को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ स्वयं प्राप्त हो जाती हैं।

स्वयमेव प्रजायन्ते लाभालाभ विवर्जिते।
योगमार्गे तथैवेदं सिद्धिजालं प्रवर्तते।।१५८।।

योगी को सिद्धियाँ बिना किसी प्रयत्न के मिल जाती हैं। इन्हें प्राप्त कर योगी इनसे लाभ उठाने का या किसी को हानि पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करता। योगमार्ग में अनेक सिद्धियाँ मिलती ही रहती हैं।

परीक्षकैः स्वर्णकारैः हेम संप्रोच्यते यथा।
सिद्धिभिर्लक्षयेत् सिद्धं जीवन्मुक्तं तथैव च।।१५९।।
अलौकिकगुणस्तस्य कदाचित् दृश्यते ध्रुवम्।
सिद्धिभिः परिहीनं तु नरं बद्धं तु लक्षयेत्।।१६०।।

जिस प्रकार पारखी और सुनार सोने को परख कर सोने को मिलावट रहित बताते हैं, उसी प्रकार किसी योगी की सिद्धियाँ देखने पर पता चल जाता है कि वह सिद्धयोगी और जीवन्मुक्त है या नहीं। सिद्ध और जीवन्मुक्त योगी के अलौकिक गुण कभी न कभी प्रकट हो ही जाते हैं। सिद्धियों से रहित व्यक्ति बद्ध ही होता है।

शरीर रहने पर भी ज्ञानी की विदेहमुक्ति

अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्त स एव हि।
पशुकुक्कुट कीटाद्या मृतिं सम्प्राप्नुवन्ति वै।।१६१।।
तेषां किं पिण्डपातेन मुक्तिर्भवति पद्मज।

जिस योगी का शरीर अजर-अमर हो जाता है वह निश्चय ही जीवन्मुक्त होता है।

पशु, मुर्गे, कीड़े-मकौड़े आदि मरते रहते हैं। क्या मरने पर इनकी मुक्ति हो जाती है? नहीं।।

न बहिः प्राण आयाति पिण्डस्य पतनं कुतः।।१६२।।
पिण्डपातेन या मुक्तिः सा मुक्तिर्न तु हन्यते।

जिस योगी की प्राणवायु बाहर नहीं आती उसका देहान्त कैसे हो सकता है? देहान्त के कारण जो मुक्ति कही जाती है वह मुक्ति नहीं मानी जाती।

देहे ब्रह्मत्वमायाते जलानां सैन्धवं यथा।।१६३।।
अनन्यतां यदा याति तदा मुक्तः स उच्यते।

जैसे नमक पानी में घुलकर जल का रूप ले लेता है। वैसे ही योगी के शरीर में ब्रह्मभाव उत्पन्न होने पर जब वह ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है तब वह मुक्त कहलाता है।

विमतानि शरीराणि इन्द्रियाणि तथैव च।।१६४।।
ब्रह्मदेहत्वमापन्नं वारि बुदबुदतामिव।

जब योगी को अपने शरीर और इन्द्रियों से कोई लगाव नहीं रहता तब वह अपने शरीर को ब्रह्म का अंश उसी प्रकार समझने लगता है जैसे पानी का बुलबुला पानी को।

शरीर मन्दिर

दशद्वारपुरं देहं दशनाडीमहापथम्।।१६५।।
दशभिर्वायुभिर्व्याप्तं दशेन्द्रियपरिच्छदम्।
षडाधारापवरकं षडन्वयमहावनम्।।१६६।।

चतुःपीठसमाकीर्णं चतुराम्नायदीपकम्।
बिन्दुनादमहालिङ्गं शिवशक्तिनिकेतनम्।।१६७।।
देहं शिवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम्।

हमारा शरीर दस दरवाजों वाले नगर की तरह दो कानों, दो आँखों, नाक के दो सुरों, मुख, गुदा, मूत्रेन्द्रिय और ब्रह्मरन्ध्र इन दस द्वारों से युक्त है। इस शरीर में इडा, पिंगला सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी ये दस नाड़ियाँ मुख्य हैं जो नगर के बड़े रास्तों जैसी हैं। इस शरीर में प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय ये दस वायु व्याप्त हैं। आँख, कान, नाक त्वचा, जिह्वा, हाथ, पैर, वाणी, गुदा और मूत्रेन्द्रिय इन दस इन्द्रियों से शरीर काम लेता है। इस शरीर में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ये छह चक्र हैं। कामरूप पीठ, पूर्ण गिरि पीठ, जालन्धर पीठ, उड्डियान पीठ से चार पीठ हैं। यह चार वेदों के ज्ञान से प्रकाशित है। इसमें बिन्दु अर्थात् मन और नाद या बुद्धि के दो महालिंग हैं। हमारा शरीर शिव अर्थात् जीवात्मा और शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का आधार है। यह शिवालय या मन्दिर सभी शरीर धारियों को मुक्ति प्रदान कराने वाला है।

देह के छह चक्र और चार पीठ

मूलाधार चक्र

गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम्।।१६८।।
शिवस्य जीवरूपस्य स्थानं तद्धि प्रचक्षते।

गुदा और लिंग के बीच में त्रिकोण वाला मूलाधार चक्र है। यह जीवरूप शिव का स्थान कहलाता है।

यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता।।१६९।।
यस्मादुत्पद्यते वायुर्यस्माद् वह्नि प्रवर्तते।
यस्मादुत्पद्यते बिन्दुर्यस्मान्नादः प्रवर्तते।।१७०।।

यस्मादुत्पद्यते हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः।
तदेतत्कामरूपाख्यं पीठं कामफलप्रदम्।।१७१।।

मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी नाम की श्रेष्ठ शक्ति निवास करती है। कुण्डलिनी शक्ति से प्राणवायु, प्राणाग्नि, बिन्दु या वीर्य, अनाहत नाद, हंस या विशुद्ध आत्म तत्त्व, और मन उत्पन्न होते हैं।

मूलाधार चक्र को कामरूप पीठ कहते हैं क्योंकि यह चक्र मनवांछित फल प्रदान करता है।

स्वाधिष्ठान और मणिपूर

स्वाधिष्ठानाह्वयं चक्रं लिंगमूले षडस्त्रके।
नाभिदेशे स्थितं चक्रं दशारं मणिपूरकम्।।१७२।।

स्वाधिष्ठान चक्र लिंगमूल में है। इस चक्र में छह पंखुड़ियाँ होती हैं। नाभि में दस पंखुड़ियों वाला मणिपूर चक्र है।

अनाहत चक्र

द्वादशारं महाचक्रं हृदये चाप्यनाहतम्।
तदेतत्पूर्णगिर्याख्यं पीठं कमलसम्भव।।१७३।।

हृदय में बारह पंखुड़ियों का अनाहत चक्र है। यहाँ पर पूर्णगिरी पीठ है।

विशुद्ध चक्र

कण्ठकूपे विशुद्धाख्यं यच्चक्रं षोडशास्त्रकम्।
पीठं जालन्धरं नाम तिष्ठत्यत्र सुरेश्वर।।१७४।।

कण्ठकूप में सोलह पंखुड़ियों का विशुद्ध चक्र है। यहाँ पर जालन्धर पीठ विद्यमान है।

आज्ञाचक्र

आज्ञा नाम भ्रुवोर्मध्ये द्विदलं चक्रमुत्तमम्।
उड्डयाणाख्यं महापीठमुपरिष्टात् प्रतिष्ठितम्।।१७५।।

भौंहों के बीच में दो पंखुड़ियों वाला आज्ञाचक्र है। यहाँ पर उड्डयाण पीठ प्रतिष्ठित है।

छह मण्डल

चतुरस्त्रं धरण्यादौ ब्रह्मा तत्राधिदेवता।
अर्धचन्द्राकृति जलं विष्णुस्तस्याधिदेवता।।१७६।।

सबसे पहिला चतुष्कोण पृथिवी मण्डल है जिसके अधिदेवता ब्रह्मा हैं। अर्ध चन्द्राकृति वाला जल मण्डल है, जिसके अधिदेवता विष्णु हैं।

त्रिकोणमण्डलं वह्नी रुद्रस्तस्याधिदेवता।
वायोर्बिम्बं तु षट्कोणमीश्वरोऽस्याधिदेवता।।१७७।।

वह्निमण्डल त्रिकोण है जिसके अधिदेवता रुद्र हैं। वायुबिम्ब छह कोणों वाला है जिसके अधिदेवता ईश्वर हैं।

आकाशमण्डलं वृत्तं देवताऽस्य सदाशिवः।
नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः।।१७८।।

आकाशमण्डल गोलाकार है इसके देवता सदाशिव हैं। भौंहो के बीच में मानस मण्डल नादरूप है।

।।प्रथम अध्याय समाप्त।।

द्वितीय अध्याय

ब्रह्मा ने कहा

पुनर्योगस्य माहात्म्यं श्रोतुमिच्छामि शंकर।
येन विज्ञानमात्रेण खेचरीसमतां व्रजेत्।।१।।

हे शंकर! मैं योग की महत्ता फिर सुनना चाहता हूँ। योग का माहात्म्य जानने से वह खेचर अर्थात् सूर्य के समान तेजस्वी हो जाता है।

शृणु ब्रह्मन् प्रवक्ष्यामि गोपनीयं प्रयत्नतः।
द्वादशाब्दं तु शुश्रूषां यः कुर्यादप्रमादत।।२।।

तस्मै वक्ता यथातथ्यं दान्ताय ब्रह्मचारिणे।

हे ब्रह्मन्! मैं आपको योग का माहात्म्य बतलाता हूँ। यह विद्या प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखनी चहिये। सावधानी के साथ बारह वर्ष तक गुरु की सेवा करने वाले जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी को यह विद्या सिखानी चाहिये।

पाण्डित्यादर्थलोभाद् वा प्रमादाद् यःप्रयच्छति।।३।।
तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
मूलमन्त्रं विजानाति यो विद्वान् गुरुदर्शितम्।।४।।

जो व्यक्ति अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिये या धन के लालच में आकर प्रमादवश किसी अनधिकारी को यह योग विद्या सिंखाता है उसकी सारी विद्या व्यर्थ हो जाती है। सीखने योग्य व्यक्ति को बताई गई यह विद्या गुरुमुख से सीखकर वह व्यक्ति धन्य हो जाता है।

प्रणवमन्त्र की महिमा

शिवशक्तिमयं मन्त्रं मूलाधारात् समुत्थितम्।
तस्य मन्त्रस्य वै ब्रह्मञ्छ्रोता वक्ता च दुर्लभः।।५।।

मूलाधार से उठने वाला यह मन्त्र शिव अर्थात् जीवात्मा और शक्ति अथवा कुण्डलिनी शक्ति से सम्पन्न है। इस मन्त्र का उपदेश करने वाला और इसे सुनने वाला कोई-कोई ही होता है।

एतत् पीठमिति प्रोक्तं नादलिङ्गं मदात्मकम्।
तस्य विज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेज्जनः।।६।।
अणिमादिकमैश्वर्यमचिरादेव जायते।

मूलाधार कामरूप पीठ कहलाता है। यहाँ से अनाहत नाद उठता है अतः नाद इसका चिह्न (लिंग) या पहिचान है। मूलाधार से उठने वाला प्रणव मन्त्र मदात्मक है। अर्थात् मेरा ही नाम है या मेरा ही ज्ञान कराने वाला है।

इस मन्त्र को भलीभांति हृदयंगम करके साधक जीवन्मुक्त हो जाता है और उसे अणिमा-महिमा आदि सिद्धियाँ शीघ्र ही प्राप्त हो जाती हैं।

प्रणवमन्त्र का निर्वचन

मननात् प्राणनाच्चैव मद्रूपस्यावबोधनात्।।७।।
मन्त्रमित्युच्यते ब्रह्मन् मदधिष्ठानतोऽपि वा।
मूलत्वात् सर्वमन्त्राणां मूलाधारात् समुद्भवात्।।८।।
मूलस्वरूपलिङ्गत्वान्मूलमन्त्र इति स्मृतः।

प्रणव मन्त्र का मनन करने के कारण, प्रणव मन्त्र के प्राणप्रद होने के कारण, मेरे स्वरूप का ज्ञान कराने के कारण और मुझ में ही प्रतिष्ठित होने के कारण प्रणव को मन्त्र कहते हैं। प्रणव मन्त्र को मूलमन्त्र भी कहते हैं क्योंकि यह सभी मन्त्रों का आधार है अर्थात् कोई भी मन्त्र बोलने से पहिले ओ३म् का उच्चारण किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रणव मन्त्र या ओंकार नाद मूलाधार से उत्पन्न होने के कारण भी मूल मन्त्र कहलाता है। प्रणव मन्त्र या ओंकार मेरे मूल स्वरूप को प्रकट करता है इसलिये भी यह मूल मन्त्र कहलाता है।

''ओंकार एवेदं सर्वम्'', तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णानि एवमोंकारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णा''

यह सम्पूर्ण जगत् ओंकार से व्याप्त है। जैसे सुए से सारे पत्तों में छेद कर दिया जाता है और यह शंकु या सुआ सारे पत्तों में व्याप्त रहता है वैसे ही विश्व की सम्पूर्ण वाणी में ओंकार व्याप्त है।

इन श्रुति वाक्यों के अनुसार भी ओ३म् पद मूलमन्त्र है।

नादलिंग का निर्वचन

सूक्ष्मत्वात् कारणत्वाच्च लयनाद्गमनादपि।।९।।
लक्षणात् परमेशस्य लिङ्गमित्यभिधीयते।

प्रणवनाद सूक्ष्म होने के कारण, अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त कराने का कारण होने से, प्रणव जप में मन लीन हो जाने से, प्रणवनाद मूलाधार से उठकर ऊपर ब्रह्मरन्ध्र के सहस्रार चक्र में जाता है इसलिये तथा परमेश्वर का ज्ञान कराने वाला होने के कारण प्रणव को नादलिंग कहते हैं।

सूत्रत्व का निर्वचन

संनिधानात् समस्तेषु जन्तुष्वपि च संततम्।।१०।।
सूचकत्वाच्च रूपस्य सूत्रमित्यभिधीयते।

प्रणवनाद सृष्टि के सभी प्राणियों में व्याप्त है तथा ओ३म् परमेश्वर के स्वरूप का सूचक होने के कारण ओंकार को सूत्र कहते हैं।

प्रणव की बिन्दुपीठ

महामाया महालक्ष्मीर्महादेवी सरस्वती।।११।।
आधारशक्तिरव्यक्ता यया विश्वं प्रवर्तते।
सूक्ष्माभा बिन्दुरूपेण पीठरूपेण वर्तते।।१२।।

योग साधना का मूलमन्त्र प्रणव या ओंकार है। प्रणव मन्त्र या ओंकार; ब्रह्म का ज्ञापक या चिह्न है और प्रकृति का सूक्ष्म रूप है। श्रुति के अनुसार भी **'प्रणवत्वात् प्रकृतिं वदन्ति ब्रह्मवादिनः'** अर्थात् ब्रह्मज्ञानी प्रणवमन्त्र को प्रकृति का रूप बतलाते हैं। प्रणव मन्त्र और प्रकृति के संयोग से यह सृष्टि चल रही है। दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती आदि नामों से पुकारी जाने वाली सृष्टि की यह आधारशक्ति अव्यक्त है। यह अव्यक्त प्रकृति बिन्दु अर्थात् मनस्तत्व के रूप में सूक्ष्म आभा वाली है। इसका व्यक्त या स्थूलरूप मूलाधार चक्र की कामरूप पीठ में, अनाहत चक्र या हृदय की पूर्णगिरी पीठ के रूप में, कण्ठकूप या विशुद्ध चक्र की जालन्धर पीठ के रूप में और भ्रूमध्य के आज्ञाचक्र की उड्डियान पीठ के रूप में विद्यमान है।

निर्विशेष प्रणव ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय

बिन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिङ्गमुपस्थितम्।
प्राणेनोच्चार्यते ब्रह्मन् षण्मुखीकरणेन च।।१३।।
गुरूपदेशमार्गेण सहसैव प्रकाशते।

स्थूल और सूक्ष्म रूप में विद्यमान यह प्रकृति तत्व सद्गुरु के उपदेश से प्रकाशित होता है।

हे ब्रह्मन्! मनुष्य की प्राण और अपान क्रिया के साथ या श्वास-प्रश्वास

के साथ 'सोऽहम्' मन्त्र का अजपा जप होता रहता है। उसमें व्याप्त बिन्दुपीठ के व्यक्त और अव्यक्त रूप को सद्गुरु के उपदेश से, षण्मुखी मुद्रा के अभ्यास से और ब्रह्मज्ञान से भेदने पर योगी के सामने नादलिंग उपस्थित होता है।

बिन्दुपीठ

बिन्दु का अर्थ है शब्द का विस्तारहीन मानसिक भाव मात्र। शब्द में चित्त स्थिर होने पर दैशिक विस्तारज्ञान का लोप हो जाता है। वही बिन्दु कहलाता है।

नाद

अनाहत ध्वनि जिसे योगी मन एकाग्र होने पर सुनते रहते हैं। कुण्डलिनी शक्ति के व्यक्त होने पर उत्पन्न वेग से पैदा हुआ पहला स्फोट अनाहत नाद है। इस नाद से प्रकाश उत्पन्न होता है। इस प्रकाश का व्यक्त रूप महाबिन्दु कहलाता है। जीवसृष्टि में उत्पन्न नाद ही ओंकार है। इसी को शब्द ब्रह्म कहते हैं।

योगाभ्यास के इस अनुभव को साधारण व्यक्ति को समझ सकना असम्भव है फिर भी उपरोक्त श्लोकों में इस अनुभव का शाब्दिक वर्णन है।

स्थूल, सूक्ष्म और बीज रूप ब्रह्म

स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति त्रिविधं ब्रह्मणो विदुः।।१४।।
पञ्चब्रह्ममयं रूपं स्थूलं वैराजमुच्यते।
हिरण्यगर्भं सूक्ष्मं तु नादं बीजत्रयात्मकम्।।१५।।

ब्रह्म के तीन रूप हैं– स्थूल, सूक्ष्म और पर या बीज रूप। प्रकृति के पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पाँच महाभूतों से बनी यह विराट् सृष्टि ब्रह्म का स्थूल रूप है। ब्रह्म का सूक्ष्म रूप हिरण्यगर्भ है। ब्रह्म के ईक्षण से सत्व, रज, तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था रूप अव्यक्त प्रकृति में उत्पन्न अपूर्व मन्थन से नित्य महाकाश में उत्पन्न परम जाज्वल्यमान

तत्त्व का बहुत बड़ा पिण्ड अगली सृष्टि उत्पन्न करने वाले समस्त दिव्य तत्वों की असीम राशि और सूर्यचन्द्रादि प्रकाशमान लोक-लोकान्तर हिरण्यगर्भ में रहते हैं। शब्द ब्रह्म ही नाद कहलाता है।

परं ब्रह्म परं सत्यं सच्चिदानन्दलक्षणम्।
अप्रमेयमनिर्देश्यमवाङ्मानस गोचरम्।।१६।।
शुद्धं सूक्ष्मं निराकारं निर्विकारं निरञ्जनम्।
अनन्तमपरिच्छेद्यमनूपममनामयम्।।१७।।
आत्ममन्त्र सदाभ्यासात् परतत्त्वं प्रकाशते।

पर ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ सत्यस्वरूप है और सत्, चित्, आनन्द युक्त है। मन में प्रतिबिम्बित चित्तवृत्तियों के विषय घड़े आदि पदार्थ प्रमेय कहलाते हैं किन्तु ब्रह्म का स्वरूप साधारण व्यक्ति की चित्त वृत्ति में प्रकाशित नहीं हो पाता अत: ब्रह्म अप्रमेय है। ब्रह्म के बारे में कुछ कहा या वर्णन नहीं किया जा सकता अत: ब्रह्म अनिर्देश्य है। ब्रह्म अवाङ्मनस गोचर है अर्थात् साधरण व्यक्ति के मन में ब्रह्म का स्वरूप नहीं आ पाता इसलिये ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन से वाणी नहीं किया जा सकता अत: ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर है। ब्रह्म; शुद्ध है। ब्रह्म में किसी भी प्रकार का दोष या विकार नहीं है अत: निर्विकार है। ब्रह्म निरञ्जन है अर्थात् शोक-मोह, राग-द्वेष आदि से अलग और निर्लेप है। ब्रह्म का कोई आदि-अन्त नहीं है। ब्रह्म अपरिच्छेद्य है अर्थात् ब्रह्म सीमित नहीं है। ब्रह्म की कोई उपमा नहीं दी जा सकती अत: वह अनुपमेय है। ब्रह्म रोग, शोक, दुख आदि से रहित है अत: निरामय है। आत्ममन्त्र अर्थात् ओंकार, अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहम् और तत्त्वमसि इन महावाक्यों के जप या अभ्यास से परम तत्व ब्रह्म हमारे हृदय में प्रकाशित होता है! श्रुति के अनुसार **'सुप्तेरुत्थाय सुप्त्यन्तं ब्रह्मैकं प्रविचिन्त्यताम्'** अर्थात् सोकर उठने के बाद से लेकर सोने के समय तक ब्रह्म का ही चिन्तन करना आत्ममन्त्र का सदाभ्यास कहलाता है। साधक को ब्रह्मचर्चा के श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा सदैव ब्रह्म चिन्तन करना चाहिये। इसी उपाय से परम ब्रह्म का साक्षात् होता है।

परब्रह्म की अभिव्यक्ति के चिह्न

तदभिव्यक्तिचिह्नानि सिद्धिद्वाराणि मे शृणु।।१८।।
दीपज्वालेन्दु खद्योत विद्युन्नक्षत्र भास्वराः।
दृश्यन्ते सूक्ष्मरूपेण सदा युक्तस्य योगिनः।।१९।।
अणिमादिकमैश्वर्यमचिरात्तस्य जायते।

ब्रह्म साक्षात्कार के चिह्नों या लक्षणों को मैं बताता हूँ। ध्यानमग्न योगी को दीपक की ज्वाला, चन्द्रमा की ज्योति, जुगनू की चमक, बिजली और नक्षत्रों की आभा आदि समय-समय पर दिखते हैं। ये लक्षण ब्रह्म की अभिव्यक्ति के चिह्न और अणिमादि सिद्धियाँ जल्दी ही प्राप्त होने के लक्षण हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है–

नीहार धूमार्कनिलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकाशनीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे।।२/११।।

कुहरा, धुंआ, सूर्यज्योति, वायु का झोंका, अग्नि की चमक, जुगनू, बिजली, स्फटिक और वज्र की सी आभा योगी को दिखाई देने पर ब्रह्म साक्षात्कार होने लगता है।

नादानुसन्धान की महिमा

नास्ति नादात्परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः परः।।२०।।
नानुसन्धेःपरा पूजा न हि तृप्तेः परं सुखम्।
गोपनीयं प्रयत्नेन सर्वदा सिद्धिमिच्छता।।२१।।

अनाहत नाद के अनुसन्धान से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है। अपनी आत्मा से बढ़कर कोई देव नहीं है। समाधि से श्रेष्ठ कोई पूजा नहीं है और तृप्ति या सन्तोष से बढ़कर कोई सुख नहीं है। सिद्धि चाहने वाले साधक को नादानुसन्धान की विधि सदा गुप्त रखनी चाहिये।

नादानुसन्धान– बद्धजीव श्वास-प्रश्वास के अधीन होकर निरन्तर इडा-पिंगला के मार्ग में चल रहा है। उसका सुषुम्ना पथ प्रायः बन्द है। इसीलिये साधारण मनुष्य की या बद्ध जीव की इन्द्रियाँ और चित्त बहिर्मुख

हैं। जो अखण्ड नाद जगत् के अन्तः स्थल में, आकाश-मण्डल में निरन्तर ध्वनित हो रहा है उसे हम चित्त और प्राणों की विक्षिप्तता के कारण सुन नहीं पाते। परन्तु जिस समय गुरुकृपा से तथा षण्मुखी मुद्रा आदि विशेष क्रियाओं से सुषुम्ना मार्ग खुल जाता है उस समय प्राण; स्थिर और सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होकर सुषुम्ना-पथ में प्रविष्ट होते हैं। इस शून्य पथ (सुषुम्ना-पथ) से मन अनाहत ध्वनि सुनता है। इस अनाहत ध्वनि का निरन्तर अनुसरण करते-करते मन धीरे-धीरे निर्मल और शान्त अवस्था को प्राप्त करता है। जब मन पूर्णरूपेण स्थिर हो जाता है तब फिर नाद ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। उस समय चिदात्मक आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर होकर बाह्य प्रकृति के स्पर्श से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

पातञ्जल योग के "**योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।।**" १/२

"**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।।**" १/३

इन प्रारम्भिक सूत्रों की यही व्याख्या है। नाद मूलतः एक होने पर भी औपाधिक सम्बन्ध के कारण विभिन्न स्तरों में विभक्त है। योगियों ने इस प्रकार के सात स्तरों का उल्लेख किया है। शास्त्र जिसको ओंकार या प्रणव का स्वरूप कहते हैं वही उपाधि-रहित शब्द तत्त्व है। वैयाकरणों ने तथा किसी-किसी प्राचीन साधक सम्प्रदाय ने 'स्फोट' नाम से इसकी व्याख्या की है। यह स्फोट ही अखण्ड सत्तारूप ब्रह्म तत्त्व का वाचक है अर्थात् इसी से ब्रह्मभाव की स्फूर्त्ति होती है।

तस्य वाचकः प्रणवः।। (पा०यो० १/२७)

प्रणव ईश्वर का वाचक है, इस बात का भी यही तात्पर्य है। वाचक स्फोट शब्दब्रह्म के रूप में और वाच्य सत्ता परब्रह्म के रूप में वर्णन की गई है। इसलिये एक प्रकार से ब्रह्म ही ब्रह्म का प्रकाशक है यह कहा जा सकता है। स्वप्रकाश ब्रह्म अपने स्वरूप के अतिरिक्त और किसी पदार्थ के द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता। परन्तु स्फोट का शब्दतत्त्व जब तक जीव के लिये अव्यक्त रहता है तब तक उसके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसलिये योगी यथाविधि ध्वनि और नाद का अवलम्बन करके इसको अभिव्यक्त करते हैं। कुण्डलिनी का उद्बोधन भी कुछ अंशों में इसी कार्य के

समान है। नाद, मूलाधार से उठना आरम्भ होता है और सहस्रार में पहुँच कर लय को प्राप्त हो जाता है। साधक का मन इस नाद के साथ युक्त होने पर अनायास ब्रह्मपद तक उठकर चिन्मय आकार धारण करता है और चैतन्य के अन्दर अपने आप को मिला देता है।

हठयोगप्रदीपिका के अन्तिम उपदेश में अनाहत नाद का विस्तृत विवरण देखा जा सकता है।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय कृतकृत्यः सुखी भवेत्।।२१।।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।२२।।

मेरा भक्त यह ज्ञान पाकर कृतार्थ और सुखी हो जाता है। जिस साधक की परमात्मा में गाढ़ भक्ति है और अपने सद्गुरु में भी इतनी ही गाढ़ भक्ति है उस महात्मा साधक के हृदय में यह वर्णन और इस में निहित गम्भीर अर्थ प्रकाशित हो उठता है।

।।द्वितीय अध्याय समाप्त।।

तृतीय अध्याय

यन्नमस्यं चिदाख्यातं यत् सिद्धीनां च कारणम्।
येन विज्ञातमात्रेण जन्मबन्धात् प्रमुच्यते।।१।।

जो परमेश्वर चैतन्यस्वरूप है। जो सिद्धियों का कारण है। जिसे जानकर साधक जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है। उस परमेश्वर को सदा नमस्कार करना चाहिये।

अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।
मूलाधारगता शक्तिः स्वाधारा बिन्दुरूपिणी।।२।।

उस चैतन्य स्वरूप परमात्म शक्ति को अक्षर, परम नाद और शब्द ब्रह्म भी कहते हैं।

मूलाधार चक्र में विद्यमान पराशक्ति बिन्दुरूप है। यह शक्ति अपने आधार में स्थित है।

तस्यामुत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजवदाङ्कुरः।
तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः।।३।।

इस परा शक्ति में नाद उसी प्रकार प्रकट होता है जैसे छोटे से बीज में से अंकुर उत्पन्न होता है। परा से उत्पन्न नाद को पश्यन्ती कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा योगी समस्त विश्व को देखते हैं।

हृदये व्यज्यते घोषो गर्जत् पर्जन्यसन्निभः।
तत्र स्थिता सुरेशान मध्यमेत्यभिधीयते।।४।।
प्राणेन च स्वराख्येन ग्रथिता वैखरी पुनः।

पश्यन्ती वाणी से हृदय में बादलों की गरज जैसा घोष या गम्भीर ध्वनि उत्पन्न होती है। हे सुरेशान! इस ध्वनि को मध्यमा कहते हैं। स्वररूपी प्राण से युक्त वाणी वैखरी कहलाती है।

वैखरी का स्वरूप

शाखापल्लवरूपेण ताल्वादिस्थानघट्टनात्।।५।।
अकारादिक्षकान्तान्यक्षराणि समीरयेत्।
अक्षरेभ्यः पदानि स्युः पदेभ्यो वाक्यसम्भवः।।६।।

मुख के तालु, कण्ठ, ओंठ, दांतों आदि के आपस में मिलने से पेड़ की शाखा और पत्तों की तरह अ से लेकर क्ष तक के सभी अक्षर वैखरी वाणी से प्रकट होते हैं। इन अक्षरों से पद बनते हैं और पदों से वाक्य बनते हैं।

सर्वे वाक्यात्मका मन्त्रा वेदशास्त्राणि कृत्स्नशः।
पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि।।७।।
सप्ता स्वराश्च गाथाश्च सर्वे नादसमुद्भवाः।
एषा सरस्वती देवी सर्वभूत गुहाश्रया।।८।।
वायुना वह्नियुक्तेन प्रेर्यमाणा शनैः शनैः।
द्वित्रिवर्ण पदैर्वाक्यैरित्येवं वर्तते सदा।।९।।

सारे मन्त्र, वेद-शास्त्र, पुराण, काव्य और अनेक भाषाएँ ये सब वाक्यात्मक हैं अर्थात् वाक्यों के द्वारा लिखे गये हैं या बोले गये हैं। संगीत शास्त्र के सा, रे, गा, मा आदि सात स्वर और सारी गाथाएँ नाद से ही

उत्पन्न होती हैं। वाणी रूपी सरस्वती देवी सभी प्राणियों के हृदयों में विराजमान है। शरीर की अग्निरूपशक्ति और प्राणवायु से धीरे-धीरे प्रेरित होकर दो, तीन, चार आदि वर्ण मिलकर पद बनते हैं और पदों से वाक्य।

मन्त्रयोग और जपयोग

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के अनुसार योगशास्त्र में 'मन्त्रयोग' शब्द यद्यपि विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, फिर भी यदि हम 'मन्त्रयोग' का मुख्य अर्थ मन्त्र के आश्रय से जीवात्मा और परमात्मा का सम्मिलन मान लें, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं होगी। शब्दात्मक मन्त्र, चेतन होने पर उसी की सहायता से जीव क्रमश: ऊपर गमन करते-करते शब्द से अतीत परमानन्द धाम तक पहुँच सकता है।

शब्द की वैखरी अवस्था से क्रमश: मध्यमा अवस्था को भेदकर पश्यन्ती में प्रवेश करना ही मन्त्रयोग का प्रधान उद्देश्य है। पश्यन्ती शब्द स्वप्रकाशमान चिदानन्दमय है – चिदात्मक पुरुष की वही अक्षय और अमर षोडशी कला है। वही आत्मज्ञान, इष्ट देवता के साक्षात्कार अथवा शब्द चैतन्य का प्रकृष्ट फल है। इस अवस्था में पहुंचने तक जीवकृतकृत्य हो सकता है। इसके बाद अव्यक्त भाव अपने आप उदित होता है। वही शब्द की तुरीय या चौथी अवस्था है।

मूलाधार से शब्दस्रोत निरन्तर ऊपर की ओर उठ रहा है। यही शब्द समस्त जगत् के केन्द्र में नित्य विद्यमान है। बहिर्मुखजीव इन्द्रियों के अधीन होकर विषयों की ओर दौड़ रहा है। इसी कारण उसे इस शब्द का पता नहीं चलता। जब किसी क्रिया-कौशल या उपाय विशेष से इन्द्रियों की बहिर्गति रुक जाती है और प्राण तथा मन स्तम्भित हो जाते हैं, तब साधक इस चेतन शब्द को सुनने के अधिकारी होते हैं। षण्मुखी मुद्रा द्वारा इस नाद के अनुसन्धान की चेष्टा की जाती है। नोदन अथवा अभिघात जनित शब्द को अनाहत नाद में लीन न कर सकने पर मन्त्र; अक्षरों का समूह ही रह जाता है। उसका प्रकाश और सामर्थ्य अनुभव नहीं होता। इडा-पिंगला में प्राण वायु की गति रुककर, प्राणवायु और मन के सुषुम्ना के अन्दर प्रविष्ट होने पर यह नित्य सारस्वत स्रोत अनुभूत होता है। यही साधक को क्रमश:

आज्ञाचक्र में ले जाता है और वहाँ से बिन्दुस्थान भेदकर क्रमशः सहस्रार के केन्द्र में महाबिन्दु तक पहुँचा देता है। हंस-मन्त्र जिसका जीव श्वास-प्रश्वास के साथ निरन्तर जप करता है, गुरु कृपा से विपरीत भावापन्न अवस्था में 'सोऽहम्' मन्त्र के रूप में बदल जाता है।

शब्द योग और वाग् योग

व्याकृत शब्द का वैखरी अवस्था से मध्यमा में उत्तीर्ण होकर पश्यन्ती स्वरूप में प्रवेश कर जाना ही इस योग-साधना का प्रधान उद्देश्य है। पश्यन्ती अवस्था से परा अवस्था में - अव्याकृत पद में - गति और स्थिति प्राप्ति स्वाभाविक नियम से आप ही हो जाती है। यह किसी भी साधना का आन्तरिक लक्ष्य नहीं है।

वैखरी या स्थूल इन्द्रियग्राह्य शब्द विशेष मिश्र अवस्था में होने के कारण उसमें असंख्य आगन्तुक मल विद्यमान रहते हैं। गुरूपदिष्ट प्रणाली से साधन कर चुकने पर चाहे जिस शब्द को उसकी स्थूल अवस्था से मुक्त करके विशुद्ध बनाया जा सकता है।

इस शोधन क्रिया का नाम ही शब्द-संस्कार है। जब शब्द सम्यक् प्रकार से शुद्ध या संस्कृत हो जाता है तब वह दिव्यवाणी या संस्कृत भाषा अथवा सृष्किारिणी ब्राह्मी शक्ति के रूप में परिणत हो जाता है। केवल एक शब्द को ही इस प्रणाली से शुद्ध कर लेने पर जीव सदा के लिये कृतकृत्य हो सकता है—

''एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।''

जो एक शब्द भी संस्कार करने में समर्थ हुए हैं, उन्हें किसी प्रकार का अभाव नहीं रह सकता। वह एक ही शोधित शब्द शक्ति के स्वरूप में प्रकाशित होकर उनके समीप कामधेनु के आकार में अविर्भूत हो जाता है। शब्द के मर्म को जानने वाले वसिष्ठ आदि ऋषि इसी उपाय से अलौकिक शक्ति के अधिकारी बन गये थे। आवर्तन अथवा जपयज्ञ इत्यादि के अभ्यास से जब वैखरी शब्द से समस्त आगन्तुक मैल दूर हो जाते हैं तब इडा-पिंगला का अपेक्षाकृत स्तम्भन हो जाता है और सुषुम्ना पथ कुछ खुल

जाता है। फिर प्राणशक्ति की सहायता से वह शोधित शब्दशक्ति सुषुम्ना रूप ब्रह्म पथ का आश्रय लेकर क्रमश: ऊर्ध्वगामिनी होती है। यही शब्द की सूक्ष्म या मध्यमा अवस्था है। इसी अवस्था में अनाहत नाद प्रकट होता है और स्थूल शब्द इस विराट् प्रवाह में निमग्न होकर उससे भर जाता है तथा चेतन भाव धारण कर लेता है। यही मन्त्र-चैतन्य का उन्मेष-भाव है। इस अवस्था में पहुँच जाने पर साधक जीव मात्र की चित्तवृत्ति को अपरोक्ष भाव से शब्दरूप में जान लेता है। देश अथवा काल का व्यवधान शब्द की इस स्फूर्ति को नहीं रोक सकता। इसके बाद प्रात:कालीन बालसूर्य के समान शब्दब्रह्मरूपी आदित्य, साधक के आत्मा में अथवा इष्टदेव के रूप में प्रकाशित होकर अन्तराकाश का अन्धकार दूर कर देते हैं। आगम शास्त्र में इसी को पश्यन्ती-वाक् कहा जाता है।

प्राचीन वैदिक साहित्य में ऋषित्व-प्राप्ति अथवा मन्त्र साक्षात्कार के नाम से जिसका उल्लेख किया गया है, यह वही अवस्था है। आत्मदर्शन, इष्टदेव दर्शन, ज्ञानचक्षु का उन्मीलन, शिवनेत्र का विकास, षोडशीकला का उन्मेष अथवा सांख्यवर्णित द्रष्टा पुरुष का स्वरूपावस्थितिरूप कैवल्य, ये सब इस पश्यन्ती भूमि की विविध अवस्थाएँ हैं। पश्यन्ती की अपेक्षा परा भूमि का पथ अत्यन्त गुप्त है।

वैखरी साक्षात्कार से वाक्सिद्धि

य इमां वैखरीं शक्तिं योगी स्वात्मनि पश्यति।
स वाक्सिद्धिमवाप्नोति सरस्वत्याः प्रसादतः।।१०।।
वेद शास्त्रपुराणानां स्वयं कर्ता भविष्यति।

जो योगी अपने अन्त:करण में इस वैखरी शक्ति का साक्षात्कार कर लेता है वह सरस्वती की कृपा से वाक् सिद्धि प्राप्त कर लेता है। ऐसा योगी वेदों, शास्त्रों और पुराणों का लेखक बन जायेगा।

परमाक्षर का स्वरूप

यत्र बिन्दुश्च नादश्च सोम सूर्याग्निवायवः।।११।।

इन्द्रियाणि च सर्वाणि लयं गच्छन्ति सुव्रत।
वायवो यत्र विलीयन्ते मनो यत्र विलीयते।।१२।।

हे सुव्रत! जिस अवस्था में बिन्दु, नाद, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु, सारी इन्द्रियाँ, प्राण-अपान आदि सभी प्राणवायु और मन लीन हो जाते हैं।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते।।१३।।

जिस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर योगी इस अवस्था से बढ़कर अन्य किसी अवस्था को लाभप्रद नहीं मानता। जिस अवस्था में रहकर वह बड़े से बड़े दुख में भी विचलित नहीं होता।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनोऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।१४।।

जिस अवस्था में योगी का चित्त योगाभ्यास से निरुद्ध या एकाग्र हो जाता है और अपनी आत्मा से अपने अन्तःकरण में आत्म स्वरूप का साक्षात् कर सन्तुष्ट हो जाता है।

सुखप्रात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
एतत् क्षराक्षरातीतमनक्षरमितीर्यते।।१५।।

यह परमश्रेष्ठ सुख इन्द्रियों से अनुभव नहीं किया जा सकता। बुद्धि ही यह सुख अनुभव कर सकती है। यह क्षर अर्थात् नष्ट हो जाने वाले पदार्थों और अक्षर नष्ट न होने वाले तत्वों से भी परे है। इसे अनक्षर कहा जाता है।

क्षरः सर्वाणि भूतानि सूत्रात्माऽक्षरउच्यते।
अक्षरं परमं ब्रह्म निर्विशेषं निरञ्जनम्।।१६।।

सृष्टि के सभी प्राणी क्षर या नष्ट होने वाले हैं किन्तु सूत्रात्मा प्राण अक्षर या अविनाशी है। सूत्रात्मा प्राण में जड़-चेतन सभी कुछ उसी तरह पिरोया हुआ है जैसे माला के तागे में (सूत्र में) मणियाँ या हार के फूल पिरोये रहते हैं। परब्रह्म अक्षर है, निर्गुण है और निरञ्जन अर्थात् निर्लेप और क्लेशरहित है।

अलक्षणमलक्ष्यं तदप्रतर्क्यमनूपमम्।
अपार पारमच्छेद्यमचिन्त्यमतिनिर्मलम्।।१७।।

परब्रह्म का कोई लक्षण या चिह्न आदि नहीं है। वे किसी के लक्ष्य के अधीन भी नहीं हैं। उनका स्वरूप अवर्णनीय, अचिन्त्य और अनुपम है। वे अनन्त से भी कहीं अधिक हैं। उन्हें कोई नष्ट नहीं कर सकता। वे परम निर्मल हैं।

आधारं सर्वभूतानामनाधारमनामयम्।
अप्रमाणमनिर्देश्यमप्रमेयमतीन्द्रियम्।।१८।।

परमब्रह्म सभी प्राणियों के आधार या आश्रय हैं किन्तु उनका कोई आधार नहीं है। वे रोग, शोक रहित है। उनका कोई प्रमाण नहीं है अथवा उनका यथार्थ ज्ञान कराने का कोई उपाय नहीं है। किसी भी पदार्थ से उनके स्वरूप को नहीं बताया जा सकता। इन्द्रियाँ उनका स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकतीं। उनका स्वरूप प्रमेय नहीं है अर्थात् चित्त की वृत्तियों के द्वारा उनका स्वरूप नहीं जाना जा सकता।

अस्थूलमनणु ह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम्।
अशब्दस्पर्शरूपं तदचक्षुः श्रोत्रनामकम्।।१९।।

परब्रह्म न तो स्थूल हैं और न ही सूक्ष्म। वे छोटे-बड़े आकार के भी नहीं हैं। उनका जन्म कभी नहीं होता। उनके स्वरूप में कोई विकार या दोष नहीं आता। वे शब्द, स्पर्श, रूप, आँख और कान के विषय भी नहीं हैं।

सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं सर्वेषां हृदये स्थितम्।
सुसंवेद्यं गुरुमतात् सुदुर्बोधमचेतसाम्।।२०।।

वे सर्वज्ञ हैं, सब कहीं जा सकते हैं, शान्त स्वरूप हैं और सभी प्राणियों के हृदयों में विराजमान हैं। सद्गुरु के उपदेश से उन्हें भली भांति जाना जा सकता है किन्तु अज्ञानी व्यक्ति उनका स्वरूप नहीं समझ सकते।

निष्कलं निर्गुणं शान्तं निर्विकारं निराश्रयम्।
निर्लेपकं निरापायं कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।२१।।

वे निष्कल हैं अर्थात् शरीर के सभी अंगों-प्रत्यंगों से रहित हैं। सत्व,

रज, तम प्रकृति के इन तीन गुणों से परे हैं। शान्त हैं, विकार या दोष रहित हैं, उन्हें किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं है। वे निर्लेप है या शोक-मोह, राग-द्वेष से सर्वथा अलग हैं। वे रोग, शोक से रहित हैं। वे अचल, ध्रुव और कूटस्थ या सर्वोपरि हैं।

ज्योतिषामपितज्ज्योतिस्तमःपारे प्रतिष्ठितम्।
भावाभाव विनिर्मुक्तं भावनामात्रगोचरम्।।२२।।

परब्रह्म ज्योतियों की भी ज्योति हैं। वे अज्ञान और अविद्या के अन्धकार से परे हैं। भाव और अभाव से रहित हैं। उनके स्वरूप की चित्त में भावना या बार-बार चिन्तन ही किया जा सकता है।

भक्तिगम्यं परं तत्त्वमन्तर्लीनेन चेतसा।
भावनामात्रमेवात्र कारणं पद्मसम्भव।।२३।।

हे ब्रह्मन्! परब्रह्म तत्व को भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है। चित्त के ब्रह्मस्वरूप में लीन होने पर वास्तविक भक्ति होती है। चित्त द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का स्मरण या चिन्तन करने से ही उन्हें प्राप्त किया जा सकता है।

यथा देहान्तरप्राप्तेः कारणं भावना नृणाम्।
विषयं ध्यायतः पुंसो विषये रमते मनः।।२४।।

देहान्त के समय मनुष्य के मन में जो भी भावना होती है उसी के अनुसार उसे अगला देह मिलता है। यदि मनुष्य का मन सांसारिक विषय भोगों के बारे में सोचता रहता है तो उसका मन विषय-भोगों में ही लगा रहता है।

मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येवात्र विलीयते।
सर्वज्ञत्वं परेशत्वं सर्वसम्पूर्णशक्तिता।।
अनन्तशक्तिमत्वं च ममानुस्मरणाद् भवेत्।।२५।।

जो साधक मेरा ही स्मरण करता रहता है उसका चित्त मुझ में ही लीन हो जाता है। मेरा चिन्तन करने से साधक सर्वज्ञ, परेश अर्थात् दूसरों का स्वामी, सभी प्रकार की सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न और अनन्त शक्ति युक्त हो जाता है।

।।तृतीय अध्याय समाप्त।।

चौथा अध्याय

जीव का असद्भाव

चैतन्यस्यैकरूपत्वाद् भेदो युक्तो न कर्हिचित्।
जीवत्वं च तथा ज्ञेयं रज्ज्वां सर्पग्रहो यथा।।१।।

चैतन्य ब्रह्म की सत्ता एक समान है इसलिये जीवों या विभिन्न प्राणियों के बीच भेद-भाव करना उचित नहीं है यह भेदभाव तो रस्सी को सांप समझ लेने जैसा ही है।

रज्ज्वज्ञानात् क्षणेनैव यदवद् रज्जुर्हिसर्पिणी।
भाति तद्वत् चितिः साक्षात् विश्वाकारेण केवला।।२।।

अपने अज्ञान से ही हम रस्सी को सांप समझने लगते हैं। हमारे अज्ञान के कारण चैतन्य ब्रह्म इस संसार के रूप में भिन्न-भिन्न दिखाई देता है।

सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्ममय है

उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते।
तस्मात् सर्व प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत्।।३।।

इस सम्पूर्ण सृष्टि का कारण ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय ही है।

व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वमात्मेति शासनात्।
इति ज्ञाते परे तत्त्वे भेदस्यावसरः कुतः।।४।।

इसलिये पदार्थों में कारण-कार्य भाव और व्याप्य-व्यापकता की भावना मिथ्या है क्योंकि यह सम्पूर्ण सृष्टि और इसके जीव-जन्तु ब्रह्म की आत्मा के ही अंश हैं। यह सत्य समझ आने पर भेद-भाव की बुद्धि कहाँ रह जाती है?

ब्रह्मणः सर्वभूतानि जायन्ते परमात्मनः।
तस्मादेतानि ब्रह्मैव भवन्तीति विचिन्तय।।५।।

परमात्मरूप ब्रह्म से ही संसार के सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं इसलिये ये सब प्राणी ब्रह्म के ही रूप हैं।

ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च।
कर्माण्यपि समग्राणि बिभर्तीति विभावय।।६।।

इस संसार के तरह-तरह के रूप-रंग और नाम आदि सब कुछ ब्रह्म के ही विभिन्न नाम और रूप हैं। हम सबके सारे काम-काज ब्रह्म के ही हैं। हमें यही सोचना और समझना चाहिये।

सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं च शाश्वतम्।
ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च तथा भवेत्।।७।।

जैसे सोने से बने सभी रूप-रंगों के आभूषण और वस्तुएँ सोना ही हैं उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न इस सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थ और प्राणी ब्रह्म के ही नाना रूप हैं।

ब्रह्म से अतिरिक्त समझने पर अनर्थ का भय

स्वल्पमप्यन्तरं कृत्वा जीवात्मपरमात्मनोः।
यस्तिष्ठति विमूढात्मा भयं तस्यपि भाषितम्।।८।।

यदि कोई जीवात्मा और परमात्मा के बीच तनिक भी भेद बुद्धि करता है तो वह मूर्ख अज्ञान के अन्धकार में पड़ा रहता है।

यदज्ञानाद् भवेद्द्वैतम् इतरत् तत् प्रपश्यति।
आत्मत्वेन तदा सर्वं नेतरत् तत्र च अणु अपि।।९।।

जो व्यक्ति अपने अज्ञान के कारण द्वैत-बुद्धि या भेद-भाव की भावना रखता है उसे ही संसार के पदार्थों और प्राणियों के बीच भेद दिखाई देता है। जब उसमें संसार के प्राणियों के प्रति आत्म भावना उत्पन्न हो जाती है तब उसके और अन्य प्राणियों के बीच तनिक भी परायापन नहीं रहता।

यह संसार मिथ्या है

अनुभूतोऽप्ययं लोको व्यवहारक्षमोऽपि सन्।
असद्रूपो यथा स्वप्न उत्तरक्षण बाधितः।।१०।।

हम इस संसार की सत्ता को अनुभव करते हैं और इसमें रहकर तरह-तरह के क्रिया-कलाप भी करते हैं फिर भी यह संसार उसी प्रकार असत्

रूप या मिथ्या ही है जैसे देखा हुआ स्वप्न अगले ही क्षण नष्ट हो जाता है।

स्वप्ने जागरितं नास्ति जागरे स्वप्नता न हि।
द्वयमेव लये नास्ति लयोऽपि ह्यनयोर्न च।।११।।

सोते समय हम जागते नहीं और जागते हुए सोते नहीं। गहरी नींद आ जाने पर हम न सोते हैं और न ही जागते हैं तथा सोते-जागते हुए गहरी नींद में नहीं होते।

त्रयमेव भवेन्मिथ्या गुणत्रयविनिर्मितम्।
अस्य द्रष्टा गुणातीतो नित्यो ह्येष चिदात्मकः।।१२।।

स्वप्नावस्था, जागरितावस्था और सुषुप्ति अवस्था ये तीनों ही अवस्थाएँ मिथ्या हैं, क्योंकि इनके कारण सत्व, रज, तम प्रकृति के ये तीन गुण हैं। प्रकृति के इन तीन गुणों से बनी इस सृष्टि को साक्षी रूप से देखने वाला ब्रह्म इन तीनों गुणों से परे है, नित्य है और चैतन्यस्वरूप है।

यद्वन् मृदि घटभ्रान्तिः शुक्तौ हि रजतस्थितिः।
तद्वद् ब्रह्मणि जीवत्वं वीक्षमाणे विनश्यति।।१३।।

जैसे मिट्टी में घड़े का भ्रम है और सीपी में चांदी का, वैसे ब्रह्म ही जीवों के रूप में दिखाई दे रहा है यह वास्तविकता पता चलने पर सारे भ्रम नष्ट हो जाते हैं।

यदा मृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा।
शुक्तौ हि रजतख्याति र्जीव शब्दस्तथा परे।।१४।।

हम मिट्टी को ही घड़ा कहने लगते हैं और सोने को कानों के कुण्डल तथा सीपी को चांदी समझने लगते हैं इसी प्रकार परब्रह्म को ही जीव मानने लगते हैं।

यथैव व्योम्नि नीलत्वं तथा नीरं मरुस्थले।
पुरुषत्वं यथा स्थाणौ तद्वद् विश्वं चिदात्मनि।।१५।।

जैसे हमें आकाश नीला दिखाई देता है और रेगिस्तान में पानी तथा ठूंठ में आदमी उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप ब्रह्म में इस संसार की भ्रान्ति हो रही है।

यथैव शून्यो वेतालो गन्धर्वाणां पुरं यथा।
यथाऽऽकाशे द्विचन्द्रत्वं तद्वत् सत्ये जगत्स्थितिः।।१६।।

जैसे भूत-पिशाच और गन्धर्व नगरी कहीं नहीं है। आँखों में रोग होने के कारण हमें आकाश में दो चन्द्रमा दिखाई देने लगते हैं उसी प्रकार सत्स्वरूप ब्रह्म में संसार का भ्रम है।

यथा तरङ्गकल्लोलैर्जलमेव स्फुरत्यलम्।
घटनाम्ना यथा पृथ्वी पटनाम्ना हि तन्तवः।।१७।।
जगन्नाम्ना चिदाभाति सर्वं ब्रह्मैव केवलम्।

जैसे लहरों के रूप में जल ही उछलता है उसी प्रकार पृथ्वी को घड़ा कह दिया जाता है और सूत के धागों को कपड़ा। वास्तव में सृष्टि के रूप में चैतन्य ब्रह्म का ही आभास हो रहा है क्योंकि यथार्थ बात यही है कि यह सब ब्रह्म ही है।

यथा वन्ध्यासुतो नास्ति यथा नास्ति मरौ जलम्।।१८।।
यथा नास्ति नभोवृक्षस्तथा नास्ति जगत् स्थितिः।
गृह्यमाणे घटे यद्वत् मृत्तिका भाति वै बलात्।।१९।।
वीक्ष्यमाणे प्रपञ्चे तु ब्रह्मैवाभाति भासुरम्।

जैसे बांझ स्त्री का पुत्र नहीं होता और रेगिस्तान में पानी नहीं होता, आकाश में पेड़ नहीं होते उसी प्रकार यह संसार भी वास्तविक नहीं है। जैसे घड़ा पकड़ने पर हम समझ लेते हैं कि घड़ा मिट्टी से ही बना है इसी प्रकार इस संसार को देखने-परखने पर पता चल जाता है कि सृष्टि के पदार्थों के पीछे ब्रह्म ही है।

अज्ञान से आत्मा में देह की भ्रान्ति

सदैवात्मा विशुद्धोऽस्मि अशुद्धो भाति वै सदा।।२०।।
यथैव द्विविधा रज्जुः ज्ञानिनोऽज्ञानिनोऽनिशम्।
यथैव मृन्मयः कुम्भस्तद्वत् देहोऽपि चिन्मयः।।२१।।

हमारा आत्मा सदा विशुद्ध है किन्तु अशुद्ध प्रतीत होता है। जैसे ज्ञानी पुरुष को और मूर्ख व्यक्ति को रस्सी; सांप और रस्सी इन दो तरह की

दिखाई देती है। जैसे मिट्टी का घड़ा मिट्टी से अलग दिखाई देता है उसी प्रकार हमारा चैतन्य आत्मा शरीर दिखाई देता है।

आत्मानात्मविवेकोऽयं मुधैव क्रियते बुधैः।
सर्पत्वेन यथा रज्जू रजत्वेन शुक्तिका।।२२।।

पण्डितों ने आत्म तत्व और अनात्मतत्व का भेद-भाव व्यर्थ ही कर दिया है। यह भेदभाव वैसा ही है जैसे रस्सी में सांप का भ्रम और सीपी में चांदी की भ्रान्ति।

विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथाऽऽत्मता।
घटत्वेन यथा पृथ्वी जलत्वेन मरीचिका।।२३।।

मूर्ख व्यक्ति अपनी देह को ही आत्मा समझने लगता है। हम भ्रम के कारण पृथ्वी को घड़ा और मृगमरीचिका को पानी समझ बैठते हैं।

गृहत्वेन हि काष्ठानि खड्गत्वेनैव लोहता।
तद्वत् आत्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः।।२४।।

भ्रम से हम लकड़ियों को घर और लोहे को तलवार समझ लेते हैं उसी प्रकार अपने अज्ञान के कारण हमने अपने शरीर को ही आत्मा समझा हुआ है।

।।चौथा अध्याय समाप्त।।

पंचम अध्याय

देहमन्दिर

पुनर्योगं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्मस्वरूपकम्।
समाहितमना भूत्वा शृणु ब्रह्मन् यथाक्रमम्।।१।।

हे ब्रह्मन्! मैं आपको ब्रह्मस्वरूप योग का उपदेश फिर दे रहा हूँ। आप इस गोपनीय विद्या को ध्यान लगाकर सुनिये।

दशद्वारपुरं देहं दशनाड़ी महापथम्।
दशभिर्वायुभिर्व्याप्तं दशेन्द्रियपरिच्छदम्।।२।।

हमारे शरीर में दो आँख, दो कान, नाक के दो सुर, मुख, ब्रह्मरन्ध्र, गुदा, मूत्रेन्द्रिय ये दस दरवाजे या छेद हैं। इस शरीर में इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी,

हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी इन दस नाड़ियों के दस मुख्य मार्ग हैं। इस शरीर में प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय ये दस प्राणवायु हैं और आँख, नाक, कान, वाणी, त्वचा, हाथ, पैर, गुदा, मूत्रेन्द्रिय और जीभ ये दस इन्द्रियाँ हैं।

षडाधारापवरक षडन्वय महावनम्।
चतुष्पीठ समाकीर्णं चतुराम्नायदीपकम्।।३।।

इस शरीर में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ये छह चक्र हैं। इन चक्रों में कामरूपी पीठ मूलाधार चक्र में, पूर्णगिरिपीठ अनाहत चक्र में, जालन्धर पीठ विशुद्ध चक्र में उड्डियान पीठ आज्ञा चक्र में हैं। यह शरीर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चार वेदों के ज्ञान से भासित हो रहा है। भुसुण्ड आदि योगाचार्यों के अनुसार मन्त्र योग, लय योग, हठयोग, राजयोग, भावनायोग और सहज-योग का अभ्यास करने वाले सम्प्रदायों की दृष्टि से छह मार्गों से युक्त योग को महावन कहा गया है। महावन इसलिये कहा गया है जैसे किसी बड़े वन को पार करना बहुत कठिन होता है वैसे ही योग के उपरोक्त छह सम्प्रदायों में से प्रत्येक योग पद्धति समुद्र की भांति अत्यन्त विशाल और विस्तृत है।

बिन्दुनाद महालिङ्ग विष्णुलक्ष्मी निकेतनम्।
देहं विष्ण्वालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम्।।४।।

बिन्दु या मन, नाद अर्थात् बुद्धि और महालिंग से युक्त हमारा शरीर विष्णु और लक्ष्मी का निवास-स्थान है। इस शरीर के द्वारा कोई भी व्यक्ति सिद्धि पा सकता है।

छह आधार और चार पीठ

गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम्।
शिवस्य जीवरूपस्य स्थानं तद्धि प्रचक्षते।।५।।

गुदा और लिंग (मूत्रेन्द्रिय) के बीच त्रिकोण में मूलाधार है। यह स्थान जीव रूप शिव का स्थान है।

यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता।
यस्माद् उत्पद्यते वायुर्यस्माद् वह्नि प्रवर्तते।।६।।

मूलाधार में श्रेष्ठ कुण्डलिनीशक्ति प्रतिष्ठित है। इस शक्ति से प्राणवायु और शरीर की उष्णता उत्पन्न होती है।

यस्माद् उत्पद्यते बिन्दुर्यस्माद् नादः प्रवर्तते।
यस्मादुत्पद्यते हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः।।७।।

इस शक्ति से वीर्य और अनाहत नाद उत्पन्न होता है। इसी शक्ति से हंस अर्थात् विशुद्ध तत्त्व और मन उत्पन्न होता है।

तदेतत् कामरूपाख्यं पीठं कामफलप्रदम्।

इस मूलाधार चक्र में कामरूप पीठ प्रतिष्ठित है। मनवांछित फल प्रदान करने के कारण यह पीठ कामरूप पीठ कहलाती है।

स्वाधिष्ठानाह्वयं चक्रं लिङ्गमूलं षडस्त्रकम्।।८।।

लिंगमूल या मेढ़ में स्वाधिष्ठान चक्र है। इस चक्र में छह पंखुड़ियों वाला कमल है।

नाभिदेशे स्थितं चक्रं दशास्त्रं मणिपूरकम्।
द्वादशारं महाचक्रं हृदये चाप्यनाहतम्।।९।।
तदेतत् पूर्णगिर्याख्यं पीठं कमलसम्भव।

नाभि में दस पंखुड़ियों वाला मणिपूर चक्र है। हृदय में बारह पंखुड़ियों का अनाहत चक्र है। हे ब्रह्मा! अनाहत चक्र में पूर्ण गिरिपीठ है।

कण्ठकूपे विशुद्धाख्यं यच्चक्रं षोडशास्त्रकम्।।१०।।
पीठं जालन्धरं नाम तिष्ठत्यत्र चतुर्मुख।

कण्ठकूप में सोलह पंखुड़ियों वाला विशुद्ध चक्र है। यहाँ पर जालन्धर पीठ है।

आज्ञा नाम भ्रुवोर्मध्ये द्विदलं चक्रमुत्तमम्।।११।।
उड्याणाख्यं महापीठमुपरिष्टात् प्रतिष्ठितम्।
स्थानान्येतानि देहेऽस्मिञ्छक्तिरूपं प्रकाशते।।१२।।

भ्रूमध्य में दो पंखुड़ियों वाला आज्ञाचक्र है। यहाँ पर उड्डियान पीठ प्रतिष्ठित है। हमारे शरीर में चक्रों के ये स्थान शक्ति के रूप में प्रकाशित होते हैं।

चतुरस्रा धरण्यादौ ब्रह्मा तत्राधिदेवता।
अर्धचन्द्राकृति जलं विष्णुस्तस्याधिदेवता।।१३।।

चतुष्कोण पृथिवी मण्डल के अधिदेवता ब्रह्मा हैं। अर्धचन्द्र की आकृति वाले जल मण्डल के अधिदेवता विष्णु हैं।

त्रिकोणमण्डलं वह्नी रुद्रस्तस्याधिदेवता।
वायोर्बिम्बं तु षट्कोणं संकर्षोऽत्राधिदेवता।।१४।।

त्रिकोण आकार वाले अग्नि मण्डल के अधिदेवता रुद्र हैं। छह कोणों वाले वायु मण्डल के अधिदेवता संकर्ष हैं।

आकाशमण्डलं वृत्तं श्रीमन्नारायणोऽत्राधिदेवता।
नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः।।१५।।
शाम्भवस्थानम् एतत् ते वर्णितं पद्मसम्भव।

आकाशमण्डल गोल आकार का है जिसके अधिदेवता श्रीमन् नारायण हैं। भौंहों के बीच में नादरूप मन का मण्डल है। यह स्थान शिवस्थान है। हे ब्रह्मा! मैंने तुम्हें ये बाते बता दीं।

नाड़ीचक्र का स्वरूप

अतः परं प्रवक्ष्यामि नाडी चक्रस्य निर्णयम्।।१६।।
मूलाधार त्रिकोणस्था सुषुम्ना द्वादशाङ्गुला।
मूलार्धच्छिन्न वंशाभा ब्रह्मनाडीति सा स्मृता।।१७।।

अब मैं नाड़ी चक्र का वर्णन करता हूँ। मूलाधार चक्र के त्रिकोण में बारह अंगुलि लम्बी सुषुम्ना नाड़ी है इसे ब्रह्मनाड़ी भी कहते हैं। सुषुम्ना; मूलाधार में आधे कटे हुए बांस जैसी है।

इडा च पिंगला चैव तस्याः पार्श्वद्वये गते।
विलम्बिन्यामनुस्यूते नासिकान्तमुपागते।।१८।।

सुषुम्ना नाड़ी के दोनों ओर इडा और पिंगल नाड़ियाँ हैं। इडा नाडी बांयी ओर है और पिंगला दांयी ओर। इडा और पिंगला नाड़ियाँ सुषुम्ना को लपेटे हुए चलती हैं। किन्तु यहाँ पर कहा गया है कि इडा और पिंगला नाड़ियाँ विलम्बिनी नाड़ी को लपेटकर नाक के अन्त तक जाती हैं।

सुषुम्ना

सुषुम्ना; मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक गई है। इडा और पिंगला नाड़ियाँ सुषुम्ना को लपेटे हुए चलती हैं। इन दोनों नाड़ियों की वक्रगति से षट्चक्रों में पाँच चक्र बनते हैं, जिन्हें पंच चक्र कहते हैं। इडा नाड़ी को अमृतविग्रहा और पिंगला को रौद्रात्मिका कहते हैं। ये दोनों नाड़ियाँ कालस्वरूप दिखाती हैं।

सुषुम्ना को स्थूल शरीर में नहीं देखा जा सकता किन्तु ध्यान के द्वारा इसे देखा जा सकता है। **'तत्र श्वेतः सुषुम्ना ब्रह्मयानः'** हृदय से मस्तिष्क को जाने वाली सूक्ष्म ज्ञानधारा को भी सुषुम्ना कहा जाता है। नाक के दांये और बांये स्वरों में क्रमशः पिंगला और इडा नाड़ियाँ हैं। दांये स्वर को सूर्य स्वर और बांये स्वर को चन्द्र स्वर भी कहते हैं। इडा और पिंगला के बीच सूक्ष्म सुषुम्ना नाड़ी है। जब ये दोनों नाड़ियाँ समान गति से चलती हैं तब सुषुम्ना नाड़ी में इनका लय हो जाता है। सामान्य अवस्था में मानव देह की नासिका के दोनों स्वरों में से एक ही स्वर से श्वास-प्रश्वास होता है। २ घण्टे २४ मिनट बाद श्वास-प्रश्वास दूसरे स्वर में होने लगता है। किन्तु दोनों स्वरों के एक साथ चलने पर प्राण सुषुम्ना में चलने लगता है। इस अवस्था में कुण्डलिनी-शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश करती है। सुषुम्ना में कुण्डलिनी के प्रवेश करने पर योगी सिद्ध हो जाता है। सुषुम्ना के मार्ग से प्राण त्यागने वाले योगी का पुनर्जन्म नहीं होता। योगी सुषुम्ना में प्राण प्रविष्ट करके अपने महाप्रयाण का समय भी बदल देते हैं। इसीलिये सुषुम्ना को कालभक्षक या कालबोधक भी कहते हैं। कुण्डलिनी शक्ति; सुषुम्ना के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करके शान्त हो जाती है। इस शान्त अवस्था को समाधि अवस्था कहा जाता है। समाधिस्थ योगी का शरीर विकार रहित हो जाता है अर्थात् उसके शरीर का घटना, बढ़ना और नष्ट होना (वर्धते, विपरिणमते, नश्यति) इन तीनों विकारों से रहित हो जाता है। तब योगी के बाल और नाखून आदि नहीं बढ़ते। प्राणक्रिया बन्द होने से नाड़ी का चलना और हृदय की धड़कन बन्द हो जाती है। अतएव ऐसे योगी को कालान्तक या कालभक्षक योगी कहते हैं। ब्रह्मनाड़ी, शून्य पदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग आदि शब्द सुषुम्ना के पर्यायवाची हैं (हठ० प्र० ३/४-५)

इडायां हेमरूपेण वायुर्वामेन गच्छति।
पिङ्गलायां तु सूर्यात्मा याति दक्षिणपार्श्वतः।।१९।।

इडा नाड़ी नाक के बांये स्वर में है। बांया स्वर चन्द्र स्वर भी कहलाता है। इस स्वर में प्राण वायु इडा नाड़ी में चलता है। नाक का दांया स्वर सूर्य स्वर कहलाता है। इसमें प्राणवायु पिंगला नाड़ी में चलता है। इडा को शीतल नाड़ी और पिंगला को गरम नाड़ी कहते हैं। योगी प्रयत्न पूर्वक दिन में इडा नाड़ी में प्राण चलाते हैं जिससे शरीर ठण्डा रहे। रात में सूर्य स्वर में प्राण चलने पर शरीर गर्म रहता है।

विलम्बिनीति या नाडी व्यक्ता नाभौ प्रतिष्ठिता।
तत्र नाड्यः समुत्पन्ना स्तिर्यगूर्ध्वमधोमुखाः।।२०।।

विलम्बिनी नाड़ी नाभि में है। नाभि से ऊपर-नीचे और तिरछीं ओर अनेक नाड़ियाँ शरीर में फैली हुई हैं।

तन्नाभिचक्रमित्युक्तं कुक्कुटाण्डमिव स्थितम्।
गान्धारी हस्ति जिह्वा च तस्मान्नेत्रद्वयं गते।।२१।।

यह नाभिचक्र मुर्गी के अण्डे जैसा है। हठयोग के ग्रन्थों में नाभिचक्र को कन्द कहा गया है। कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिये शक्तिचालन मुद्रा में कन्द को दबाया जाता है।

गान्धारी और हस्तिजिह्वा नाड़ियाँ दोनों आँखों तक गई हुई हैं।

पूषाचालम्वुषा चैव श्रोत्रद्वयमुपागते।
शूरा नाम महानाडी तस्माद् भ्रूमध्यमाश्रिता।।२२।।

पूषा और अलम्बुषा नाड़ियाँ दोनों कानों में हैं। शूरा नाड़ी भ्रूमध्य में है।

विश्वोदरी तु या नाडी सा भुङ्क्तेऽन्नं चतुर्विधम्।
सरस्वती तु या नाडी सा जिह्वान्तं प्रसर्पते।।२३।।

विश्वोदरी नाड़ी चबाने, चूसने, पीने और निगलने वाले अन्न-पान आदि को खाती है अर्थात् पेट या जठराग्नि में है। सरस्वती नाड़ी जीभ में है।

राकाऽऽह्वया तु या नाडी पीत्वा च सलिलं क्षणात्।
क्षुतमुत्पादयेत् घ्राणे श्लेष्माणं संचिनोति च।।२४।।

राका नाम की नाड़ी पानी पीकर भूख उत्पन्न करती है और नाक में श्लेष्मा या कफ इकट्ठा करती है।

कण्ठकूपोद्भवा नाडी शंखिन्याख्या त्वधोमुखी।
अन्नसारं समादाय मूर्ध्नि संचिनुते सदा।।२५।।

कण्ठकूप में शंखिनी नाड़ी है। इसका मुख नीचे की ओर है। यह नाड़ी भोजन का सार मस्तक में ले जाती है।

नाभेरधोगतास्तिस्रो नाड्यः स्युरधोमुखाः।
मलं त्यजेत् कुहूर्नाडी मूत्रं मुञ्चति वारुणी।।२६।।

नाभि से नीचे जाने वाली तीन नाड़ियों का मुख नीचे की ओर है। इनमें से कुहू नाड़ी से मल निकलता है और वारुणी नाड़ी शरीर से मूत्र निकालती है।

चित्राख्य सीवनी नाडी शुक्लमोचनकारिणी।
नाड़ीचक्रमिदं प्रोक्तं बिन्दुरूपमतः शृणु।।२७।।

चित्रा नाड़ी सीवनी में है। यह नाड़ी वीर्य छोड़ती है। नाड़ीचक्र के इस वर्णन के बाद अब बिन्दु के रूप के बारे में सुनो।

स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः।
स्थूलं शुक्लात्मकं बिन्दुः सूक्ष्मं पञ्चाग्निरूपकम्।।२८।।
सोमात्मकः परः प्रोक्तः सदा साक्षी सदाऽच्युतः।

ब्रह्म का शरीर स्थूल, सूक्ष्म और पर इन तीन रूपों वाला है। स्थूल शरीर शुक्ल वर्ण का है। बिन्दु रूप सूक्ष्म शरीर कालाग्नि आदि पाँच अग्नियों वाला है और पर शरीर सोमात्मक है। यह पर शरीर साक्षी है। इसे अच्युत कहते हैं।

पातालानामधोभागे कालाग्नि र्यः प्रतिष्ठितः।।२९।।
स मूलाग्निः शरीरेऽग्निर्यस्मान्नादः प्रजायते।
वडवाग्निः शरीरस्थो ह्यस्थिमध्ये प्रवर्तते।।३०।।

अतल, वितल, सुतल, महातल, रसातल, तलातल और पाताल इन सात पातालों के निचले भाग में जो कालाग्नि है वह शरीर में मूलाग्नि के रूप में मूलाधार में स्थित है। इस मूलाग्नि से अनाहतनाद उत्पन्न होता है। वडवाग्नि शरीर में हड्डियों में है।

काष्ठपाषाणयोर्वह्निर्ह्यस्थिमध्ये प्रवर्तते।
काष्ठ पाषाणजो वह्निः पार्थिवो ग्रहणीगतः।।३१।।

लकड़ियों और पत्थरों में रहने वाली अग्नि पार्थिव या पृथ्वी की अग्नि है। यह अग्नि शरीर की हड्डियों में रहती है तथा ग्रहणी अर्थात् अन्नग्रहण करने वाली नाड़ी में भी यह अग्नि है।

अन्तारिक्षगतो वह्निर्वैद्युतः स्वान्तरात्मकः।
नभःस्थः सूर्यरूपोऽग्निनाभिर्मण्डलमाश्रितः।।३२।।

अन्तरिक्ष में वर्तमान अग्नि बिजली के रूप में है। अन्तरिक्ष अग्नि हमारे शरीर में विद्यमान रहती है। आकाश में सूर्य के रूप में प्रकाशित अग्नि हमारे नाभिमण्डल में है।

विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्रवत्यमृतमुन्मुखः।
तालुमूले स्थितश्चन्द्रः सुधा वर्षत्यधोमुखः।।३३।।

सूर्याग्नि विष की वर्षा करती है। तालु के अन्तिम भाग में विद्यमान चन्द्रमा नीचा मुख करके अमृत टपकता है जिसे नाभिमण्डल की सूर्याग्नि मुँह खोलकर ग्रस लेती है।

हठयोग के ग्रन्थों में खेचरी मुद्रा के प्रसंग में भी कहा गया है कि ब्रह्मरन्ध्र की पीयूष ग्रन्थि से झरने वाला अमृत जठराग्नि में गिरकर नष्ट हो जाता है। योगी खेचरी मुद्रा के द्वारा अपनी जीभ से इस अमृत का पान करते हैं और जठराग्नि में नहीं गिरने देते हैं।

भ्रूमध्यनिलयो बिन्दुः शुद्धस्फटिक सन्निभः।
महाविष्णोश्च देवस्य तत् सूक्ष्मं रूपमुच्यते।।३४।।

भौंहों के बीच में रहने वाला बिन्दु या शुक्र शुद्धस्फटिक जैसी आभा से युक्त है। यह बिन्दु महाविष्णु का सूक्ष्म रूप कहलाता है।

एतत् पञ्चाग्निरूपं यो भावयन् बुद्धिमान् धिया।
तेन भुक्तं च पीतं च हुतमेव न संशयः।।३५।।

बिन्दु के इस पंचाग्नि रूप की जो बुद्धिमान बुद्धिपूर्वक भावना करता है उसी का खाना, पीना और यज्ञ करना निस्सन्देह सफल होता है।

कुण्डली जागरण

सुखसंसेवितं स्वप्नं सुजीर्णमितभोजनम्।
शरीरशुद्धिं कृत्वाऽऽदौ सुखमासनमास्थितः।।३६।।

गहरी नींद से जागकर और परिमित भोजन को भली भांति पचाकर योगी शरीर की शुद्धि करके ऐसा आसन लगाकर बैठे जिसमें वह आराम से बैठा रहे।

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं रेचकपूरककुम्भकैः।
गुदमाकुञ्च्य यत्नेन मूलशक्तिं प्रपूजयेत्।।३७।।

इसके बाद रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायामों से प्राणवायु के मार्ग को शुद्ध करना चाहिये और मूलबन्ध लगाकर मूलाधार की शक्ति को जगाना चाहिये अर्थात् मूलाधार में सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को जगाना चाहिये।

खेचरी मुद्रा का अभ्यास

नाभौ लिंगस्य मध्ये तु उड्डयाणाख्यं च बन्धयेत्।
उड्डीय याति तेनैव शक्तितोड्याण पीठकम्।।३८।।

नाभि और मूत्रेन्द्रिय के बीच में अर्थात् नाभि से नीचे और ऊपर के पेट को अन्दर खींचकर उड्डीयान बन्ध लगाना चाहिये। यह बन्ध लगाने से प्राणवायु ऊपर उठकर उड्डीयान पीठ में चला जाता है।

कण्ठं संकोचयेत् किंचित् बन्धो जालन्धरोह्ययम्।
बन्धयेत् खेचरीमुद्रां दृढचित्तः समाहितः।।३९।।

ठोडी को कण्ठकूप में लगाकर गला बन्द करके जालन्धर बन्ध लगाना चाहिये और मन एकाग्र करके निश्चयपूर्वक खेचरी मुद्रा लगानी चाहिये।

कपालविवरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टि मुद्रा भवति खेचरी।।४०।।

जीभ को उलटकर सिर के छेद में डालने से खेचरी मुद्रा होती है। खेचरी मुद्रा में आँखें; भौहों के बीच में टिकी रहती हैं।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति।।४१।।

जो योगी जीभ को ऊपर ले जाकर मस्तक के इस छेद को ढक लेता है उसका अमृतरस; जठराग्नि में गिरकर नष्ट नहीं होता है। सहस्त्रार चक्र की पीयूष ग्रन्थि से झरने वाले इस अमृतरस को योगी खेचरी मुद्रा लगाकर जीभ से पी लेता है। खेचरी मुद्रा का अभ्यास करने से प्राणवायु पर भी वश हो जाता है।

न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते।
न च मृत्युर्भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।४२।।

जो योगी खेचरी मुद्रा लगा सकता है उसे भूख-प्यास नहीं सताती, नींद और आलस्य नहीं आता और न ही उसकी मृत्यु होती है।

सहस्त्रार में नारायण चिन्तन

ततः पूर्वापरे व्योम्नि द्वादशान्तेऽच्युतात्मके।
उड्यान पीठे निर्द्वन्द्वे निरालम्बे निरञ्जने।।४३।।
तत्र पंकजमध्यस्थं चन्द्रमण्डलमध्यगम्।
नारायणमनुध्यायेत् स्त्रवन्तममृतं सदा।।४४।।

योगी को पूर्व आकाश में अर्थात् सहस्त्रार चक्र में अथवा अपर आकाश अथवा आज्ञाचक्र में बारह पंखुड़ियों वाले अनाहत चक्र में या हृदय में अथवा विशुद्ध चक्र की उड्याण पीठ में नारायण का ध्यान करना चाहिये। नारायण का स्वरूप अच्युत या अडिग, निर्द्वन्द्व अर्थात् किसी प्रकार के सुख-दुख, भूख-प्यास आदि द्वन्दों से रहित, निरालम्ब अर्थात् निराश्रय या स्वाधीन और निरञ्जन या निर्लेप है।

मस्तिष्क में सहस्त्रार चक्र या सूक्ष्म हृदय पंकज है। यहाँ पर चन्द्रमण्डल से या पीयूष ग्रन्थि से अमृत झरता रहता है। यहाँ पर नारायण का ध्यान करना चाहिये।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।४५।।

नारायण का साक्षात् होने पर हृदयग्रन्थि खुल जाती है। साधक के

सारे सन्देह दूर हो जाते हैं और उसके शुभ-अशुभ सभी कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

समाधि से सिद्धियाँ

अथ सिद्धिं प्रवक्ष्यामि सुखोपायं सुरेश्वर।
जितेन्द्रियाणां शान्तानां जितश्वास विचेतसाम्।।४६।।

हे ब्रह्मा अब मैं सिद्धियाँ प्राप्त कराने के सरल उपाय बताता हूँ। ये सिद्धियाँ जितेन्द्रिय, शान्तचित्त, प्राणों को वश में रखने वाले और एकाग्र मन वाले योगियों को प्राप्त होती हैं।

नादे मनोलयं ब्रह्मन् दूरश्रवणकारणम्।
बिन्दौ मनोलयं कृत्वा दूरदर्शनमाप्नुयात्।।४७।।

अनाहत नाद में मन लीन कर देने पर योगी दूर की आवाज सुन सकता है। आँखों के तारों में या आँखों की पुतली में मन लगाने से दूर की वस्तुएँ देखी जा सकती हैं।

कालात्मनि मनो लीनं त्रिकालज्ञानकारणम्।
परकाय मनोयोगः परकाय प्रवेशकृत्।।४८।।

कालस्वरूप आत्मा में मन लगाने पर भूत, भविष्य और वर्त्तमान काल की घटनाएँ मालूम हो जाती हैं। दूसरे व्यक्ति के शरीर और मन में चित्त लगाकर परकाय प्रवेश किया जा सकता है।

अमृतं चिन्तयेन्मूर्ध्नि क्षुत्तृषाविषशान्तये।
पृथिव्यां धारयेच्चित्तं पातालगमनं भवेत्।।४९।।

मस्तक के सहस्रार से झरने वाले अमृत रस का ध्यान करने से भूख-प्यास और विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है। पृथ्वी तत्त्व में धारणा करने से योगी पाताल में प्रवेश कर सकता है।

सलिले धारयेच्चित्तं नाम्भसा परिभूयते।
अग्नौ संधारयेच्चित्तमग्निना दह्यते न सः।।५०।।

जल तत्त्व की धारणा करने पर योगी पानी में नहीं डूब सकता। अग्नि तत्त्व की धारणा करने पर उसे अग्नि नहीं जला सकती।

वायौ मनोलयं कुर्यादाकाशगमनं भवेत्।
आकाशे धारयेच्चित्तमणिमादिकमाप्नुयात्।।५१।।

वायु तत्त्व में मनलीन करने पर योगी आकाश में जा सकता है। आकाश तत्त्व में मन लगाने से अणिमा आदि सिद्धियाँ मिल जाती हैं।

विराट् रूपे मनो युञ्जन् महिमानमवाप्नुयात्।
चतुर्मुखे मनो युञ्जन् जगत् सृष्टिकरो भवेत्।।५२।।

परमात्मा तत्त्व के विराट् स्वरूप में मन लगाने से महिमा आदि सिद्धियाँ मिल जाती हैं। चतुर्मुख ब्रह्मा का ध्यान करने से योगी संसार की रचना कर सकता है।

इन्द्ररूपिणमात्मानं भावयन् मर्त्यभोगवान्।
विष्णुरूपे महायोगी पालयेदखिलं जगत्।।५३।।

परमात्मा के इन्द्र स्वरूप का अर्थात् ऐश्वर्य शाली स्वरूप का ध्यान करने पर योगी सांसारिक ऐश्वर्य भोग सकता है। विष्णुरूप का ध्यान करने से योगी सम्पूर्ण जगत का पालन-पोषण कर सकता है।

रुद्ररूपे महायोगी संहरत्येन तेजसा।
नारायणे मनो युञ्जन् नारायणमयो भवेत्।।५४।।

परमात्मा के रुद्र अर्थात् रौद्र या भयंकर स्वरूप का ध्यान करने पर योगी संसार को नष्ट कर सकता है और नारायण में मन लगाकर योगी नारायणमय या कल्याणकारी हो जाता है।

वासुदेवे मनो युञ्जन् सर्वसिद्धिमवाप्नुयात्।
यथा संकल्पयेत् योगी योगयुक्तो जितेन्द्रियः।।५५।।
तथा तत्तदवाप्नोति भाव एवात्र कारणम्।

वासुदेव में ध्यान लगाने पर योगी सभी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है। योगी मन में जैसा भी संकल्प करता है वह अपनी भावना के द्वारा वैसा ही फल पा जाता है। इन सिद्धियों का कारण योगी का दृढ संकल्प ही होता है। ये सिद्धियाँ पाने पर भी योगी को योगाभ्यास और इन्द्रिय संयम नहीं छोड़ना चाहिये अन्यथा उसका पतन हो जाता है।

गुरु का महत्त्व

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो सदाशिवः।
न गुरोरधिकः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।।५६।।

योगाभ्यासी साधक के लिये सद्गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और सदाशिव के जीवित जागृत रूप होते हैं। इन तीनों लोकों में गुरु से बढ़कर किसी की महिमा नहीं है।

दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्।
पूजयेत् परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत्।।५७।।

जो साधक दिव्य ज्ञान का उपदेश देने वाले सद्गुरु की सच्ची भक्ति से सेवा करता है उसे ही सद्गुरु के ज्ञान का लाभ मिलता है। सद्गुरु तो पृथिवी पर आये भगवान के ही रूप हैं।

यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः।।५८।।

जैसे सद्गुरु हैं वैसे ही परमेश्वर हैं और जैसे परमेश्वर हैं वैसे ही सद्गुरु हैं। इसलिये अत्यन्त भक्तिभाव से सद्गुरु की पूजा करनी चाहिये क्योंकि सद्गुरु और परमेश्वर के बीच कोई अनार नहीं है।

नाद्वैतवादं कुर्वीत गुरुणा सह कुत्रचित्।
अद्वैतं भावयेद् भक्त्या गुरोर्देवस्य चात्मनः।।५९।।

शिष्य को सद्गुरु के साथ अपनी तुलना कभी नहीं नहीं करनी चाहिये। किन्तु परमेश्वर, सद्गुरु और अपने में कोई भेद नहीं करना चाहिये, क्योंकि हम सब परमात्मा के ही अंश हैं।

योगशिखां महागुह्यां यो जानाति महामतिः।
न तस्य किंचिदज्ञातं त्रिषु लोकेषु विद्यते।।६०।।

जो साधक इस परमगोपनीय योगशिखोपनिषद् का ज्ञान पा लेता है उसके लिये तीनों लोकों में कुछ भी जानने योग्य नहीं रहता।

न पुण्यपापे नास्वस्थो न दुःखं न पराजयः।
न चास्ति पुनरावृत्तिरस्मिन् संसार मण्डले।।६१।।

उसके लिये पाप-पुण्य का कोई महत्त्व नहीं रहता। वह कभी बीमार

नहीं होता। उसे कोई दुख नहीं होता। वह इस संसार में फिर कभी नहीं लौटता।

सिद्धौ चित्तं न कुर्वीत चञ्चलत्वेन चेतसा।
तथा विज्ञाततत्त्वोऽसौ मुक्त एव न संशयः।।६२।।

साधक को चंचल चित्त के कारण इन योग सिद्धियों के जाल में नहीं फंसना चाहिये क्योंकि सिद्धियाँ योग मार्ग के विघ्न ही हैं। इनमें फंसकर साधक अपने वास्तविक उद्देश्य से भटक जाता है और उसकी लम्बी योगसाधना तथा तपस्या व्यर्थ हो जाती है। यदि योगी वास्तविक ज्ञान प्राप्त करके सिद्धियों के जाल में नहीं फंसता है तो वह निश्चय ही जीवन्मुक्त बन जाता है।

।।पाँचवा अध्याय समाप्त ।।

छठा अध्याय

कुण्डलिनी की उपासना विधि

उपासना प्रकारं मे ब्रूहि त्वं परमेश्वर।
येन विज्ञानमात्रेण मुक्तो भवति संसृतेः।।१।।

हे परमेश्वर! आप मुझे कुण्डलिनी शक्ति की उपासना की वह विधि बताइये जिसे जानकर साधक जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है।

उपासनाप्रकारं ते रहस्यं श्रुतिसारकम्।
हिरण्यगर्भ प्रवक्ष्यामि श्रुत्वा सम्यगुपासय।।२।।

हे हिरण्यगर्भ! मैं आपको कुण्डलिनी शक्ति की उपासना का उपाय बताता हूँ। यह रहस्यपूर्ण ज्ञान शास्त्रों का सार है। इसे जानकर इस पर भलीभांति आचरण करो।

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रमण्डलात्।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने।।३।।

सुषुम्ना को, कुण्डलिनी शक्ति को, चन्द्र मण्डल या सहस्रार से झरने

वाले अमृतरस को, मनोन्मनी अवस्था को, महाशक्ति को और चिदात्मक या चैतन्यस्वरूप परमात्मा को हम प्रणाम करते हैं।

सुषुम्ना का स्वरूप

शतं चैका च हृदस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेतिविष्वङ्अन्या उत्क्रमणे भवन्ति।।४।।

हृदय से एक सौ एक नाड़ियाँ निकली हैं इनमें से एक नाड़ी मस्तिष्क की ओर जाती है। इस नाड़ी से देहत्याग करने पर योगी अमरतत्त्व को प्राप्त कर लेता है। हृदय की बाकी नाड़ियाँ शरीर से प्राण निकलने की साधन हैं।

एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्मृता।
सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी।।५।।

इन एक सौ एक नाड़ियों में सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ नाड़ी है। सुषुम्ना परब्रह्म में लीन होने के कारण साक्षात् ब्रह्म की स्वरूप है और विरजाया अशुद्धि रहित है।

इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन तु।
तयोर्मध्ये परं स्थानं यस्तद् वेद स वेदवित्।।६।।

सुषुम्ना नाड़ी के बांयी ओर इडा है और दांयी ओर पिंगला। इडा और पिंगला के बीच परम स्थान अर्थात् सुषुम्ना का स्थान है। यह बात समझने वाला ही ज्ञानी है।

प्राणान् संधारयेत् तस्मिन् नासाभ्यन्तरचारिणः।
भूत्वा तत्रायतप्राणः शनैरेव समभ्यसेत्।।७।।

साधक को नाक में चलने वाली प्राणवायु को इस सुषुम्ना नाड़ी में ले जाने का प्रयत्न करना चाहिये। इड़ा-पिंगला में बहने वाले श्वास-प्रश्वास को सुषुम्ना में पहुँचाने का अभ्यास धीरे-धीरे करना चाहिये। सुषुम्ना में प्राण पहुँचा कर प्राण वायु को वहीं रोकना चाहिये।

गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन्वीणादण्डस्तुदेहभृत्।
दीर्घास्थिदेहपर्यन्तं ब्रह्मनाडीति कथ्यते।।८।।

तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं ब्रह्मनाडीति सूरिभिः।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना सूर्यरूपिणी।।९।।

गुदा के पीछे हमारे शरीर में वीणादण्ड के समान रीढ़ की हड्डी है। रीढ़ास्थि को मेरुदण्ड भी कहते हैं। हमारा सारा शरीर इसी मेरुदण्ड पर टिका हुआ है। रीढ़ की हड्डी गुदा से लेकर गर्दन और सिर तक फैली हुई है। इसे ब्रह्मनाड़ी भी कहते हैं। इस रीढ़ की हड्डी के अन्दर बहुत छोटा छेद है। इस छेद में इडा और पिंगला नाड़ियों के बीच में सूर्य के समान चमकीली सुषुम्ना नाड़ी है।

सर्वाधार सुषुम्ना

सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मिन् सर्वगं सर्वतोमुखम्।
तस्य मध्यगताः सूर्य सोमाग्नि परमेश्वराः।।१०।।

भूतलोका दिशः क्षेत्राः समुद्राः पर्वताः शिलाः।
द्वीपाश्च निम्नगा वेदाः शास्त्रविद्याकलाऽक्षराः।।११।।

स्वरमन्त्रपुराणानि गुणाश्चैते च सर्वशः।
बीजं बीजात्मकस्तेषां क्षेत्रज्ञः प्राणवायवाः।।१२।।

सुषुम्ना में संसार का प्रत्येक पदार्थ प्रतिष्ठित है। सुषुम्ना सर्वव्यापक है और नाना रूपों वाली है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, परमैश्वर्यशाली पदार्थ, प्राणी लोक, दिशाएँ, विस्तृत प्रदेश, समुद्र, पर्वत, चट्टानें, द्वीप द्वीपान्तर, नदियाँ, चारों वेद, शास्त्र, विद्याएँ, कलाएँ, अक्षर, स्वर, मन्त्र, पुराण, प्रकृति के तीनों गुण, सभी पदार्थों के बीज और उनका सूक्ष्मरूप, क्षेत्रज्ञ अर्थात् परमेश्वर और प्राणवायु सभी कुछ सुषुम्ना में प्रतिष्ठित हैं।

सुषुम्नान्तर्गतं विश्वं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।
नानानाडीप्रसवगं सर्वभूतान्तरात्मनि।।१३।।

सुषुम्ना के अन्दर सम्पूर्ण विश्व प्रतिष्ठित है। सुषुम्ना से शरीर की अनेक नाड़ियाँ निकलती हैं। सुषुम्ना सब प्राणियों में हैं।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखं वायुमार्गेण सर्वगम्।
द्विसप्ततिसहस्राणि नाड्यः स्युर्वायुगोचराः।।१४।।

सुषुम्ना से ऊपर नीचे बहत्तर हजार नाड़ियाँ शरीर में फैली हुई हैं। इनमें प्राणवायु चलता है। सुषुम्ना का आधार (मूल) ऊपर सहस्रार में है और इसकी शाखा नीचे मूलाधार में है।

सर्वमार्गेण सुषिरास्तिर्यञ्चः सुषिरात्मकाः।
अधश्चोर्ध्वं च कुण्डल्याः सर्वद्वारनिरोधनात्।।१५।।
वायुना सह जीवोर्ध्वज्ञानान्मोक्षमवाप्नुयात्।

ये सभी नाड़ियाँ खोखली या छेद वाली हैं और तिरछी हैं। इनमें प्राणवायु चलता है। कुण्डली के ऊपर और नीचे वाले सभी द्वारों को बन्द करने से कुण्डलिनी शक्ति प्राणवायु के साथ ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर मुक्त हो जाती है।

ज्ञात्वा सुषुम्ना तद् भेदं कृत्वा पायुं च मध्यगम्।।१६।।
कृत्वा तु बैन्दवस्थाने घ्राणरन्ध्रे निरोधयेत्।

सुषुम्ना को जानकर और गुदा या मूलाधार में सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर सुषुम्ना का मुख खोलकर प्राणवायु को बैन्दवस्थान अर्थात् भ्रूमध्य में स्थित नाक के छिद्र में रोकना चाहिये।

द्विसप्ततिसहस्राणि नाडी द्वाराणि पञ्जरे।।१७।।
सुषुम्ना शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वन्ये निरर्थकाः।

हमारे शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों के द्वार हैं। इन सभी नाड़ियों में सुषुम्ना नाडी कल्याणकारिणी शक्ति है अन्य नाड़ियाँ मोक्ष मार्ग में न जाने के कारण निरर्थक हैं।

हृल्लेखे परमानन्दे तालुमूले व्यवस्थिते।।१८।।
अत ऊर्ध्वं निरोधे तु मध्यमं मध्यमध्यमम्।
उच्चारयेत् परां शक्तिं ब्रह्मरन्ध्रनिवासिनीम्।।१९।।
यदि भ्रमरसृष्टिः स्यात् संसार भ्रमणं त्यजेत्।

'ह्रीं' शब्द के जप से ध्यान किये जाने वाले परम आनन्दप्रद ईश्वर के ध्यान के लिये तालुमूल में मन को एकाग्र करना चाहिये।

मन की निरोध अवस्था आने पर साधक को मध्यम अर्थात् तुरीय या मध्यमध्यम अथवा तुर्यतुरीय स्वरूप ब्रह्म को लक्ष्य करके लम्बी अवधि तक ओ३म् का एकतान उच्चारण करना चाहिये। पूरक प्राणायाम करते

समय ओ३म् का सोलह बार एकतान उच्चारण करके ब्रह्मरन्ध्र में स्थित परा शक्ति का स्मरण करना चाहिये। यदि भ्रूमध्य से विशुद्धि चक्र में आने पर मन में भ्रमर सृष्टि अर्थात् संकल्प-विकल्प या कामनाएँ उठने लगें तब आज्ञाचक्र या भ्रूमध्य में मन एकाग्र करके अनर्थ करने वाले संसार के राग-द्वेष आदि विचारों को अर्थात् संसार भ्रमण को धैर्यपूर्वक त्याग देना चाहिये।

गमागमस्थं गमनादिशून्यं चिद्रूपदीपं तिमिरान्धकारम्।
पश्यामि ते सर्वजनान्तरस्थं नमामि हंसं परमात्मरूपम्।।२०।।

हमारे अन्तःकरण में हर समय तरह-तरह के विचार उठते रहते हैं अतः हमारा चित्त या अन्तःकरण विचारों के आने-जाने का स्थान है या गमागमस्थ है। जब हमारे अन्तःकरण में आत्मस्वरूप उदित हो जाता है तब अन्तःकरण में उठने वाले विचार नष्ट हो जाते हैं अर्थात् अन्तःकरण गमनादिशून्य हो जाता है। इसके बाद आत्मस्वरूप के अतिरिक्त शेष अज्ञात को अपने चैतन्य स्वरूप की अग्नि से भस्म कर देने वाले दीपक के समान आपके मैं दर्शन करता हूँ। सभी प्राणियों के हृदयों में विराजमान मैं विशुद्ध हंस स्वरूप परमात्मा को नमस्कार करता हूँ।

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः।
मनस्तत्र लयं याति तद् विष्णोः परमं पदम्।।२१।।

अनाहत नाद की जो ध्वनि सुनाई देती है उस ध्वनि के अन्दर ज्ञेय (जानने योग्य) अर्थात् अपने प्रकाश से ज्योतिर्मय चैतन्य ब्रह्म है और इस ज्ञेय अर्थात् ब्रह्म तत्त्व के अन्दर मन है। मन इसी जानने योग्य (ज्ञेय) ब्रह्मतत्त्व में लीन हो जाता है। यही ब्रह्मतत्त्व किसी भी प्रकार की उपाधि से रहित होने के कारण विष्णु अर्थात् विभुरूप (सर्वव्यापक) परमात्मा का परम पद है।

भावार्थ यह है कि अनाहत नाद में लगा मन परमात्मा का ध्यान करते-करते अपने ध्येय परमात्म तत्त्व में ही लीन हो जाता है अर्थात् पर वैराग्य के अभ्यास से चित्त सभी प्रकार की वृत्तियों से शून्य हो जाने पर संस्कार शेष रह जाता है।

केचिद् वदन्ति चाधारं सुषुम्ना च सरस्वती।
आधाराज्जायते विश्वं विश्वं तत्रैव लीयते।।२२।।

कुछ योगियों के अनुसार जहाँ सुषुम्ना और सरस्वती नाड़ियाँ प्रतिष्ठित हैं वह स्थान मूलाधार है। इस मूलाधार से ही संसार उत्पन्न होता है और यहीं पर लीन हो जाता है।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुपादं समाश्रयेत्।
आधारशक्ति निद्रायां विश्वं भवति निद्रया।।२३।।
तस्यां शक्तिप्रबोधेन त्रैलोक्यं प्रतिबुध्यते।

इसलिये साधक को प्रयत्नपूर्वक सद्गुरु की शरण में जाना चाहिये। सद्गुरु ही मूलाधार की वास्तविकता बता सकते हैं और साधक का अज्ञान दूर कर सकते हैं।

आधारशक्ति अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति अपने आधार में या मूलाधार में जब तक सोई रहती है तबतक अज्ञानी साधक के लिये सारा संसार सोया रहता है अर्थात् उसे संसार का कोई ज्ञान नहीं होता। किन्तु कुण्डलिनी के सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाने पर साधक को तीनों लोकों का ज्ञान हो जाता है।

आधारं यो विजानति तमसः परमश्नुते।।२४।।
तस्य विज्ञानमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते।।२५।।

जो योगी मूलाधार को जान लेता है उसका अज्ञान रूपी अन्धकार दूर हो जाता है। मूलाधार की वास्तविकता जान लेने पर साधक सभी पापों से छूट जाता है।

आधारचक्र महसा विद्युत् पुञ्जसमप्रभा।
तदा मुक्तिर्न संदेहो यदि तुष्टः स्वयं गुरुः।।२६।।
आधारचक्रमहसा पुण्यपापे निकृन्तयेत्।

मूलाधारचक्र की ज्योति आकाश की अनेक बिजलियों की चमक जैसी है। यदि सद्गुरु; शिष्य से प्रसन्न हो जाते हैं तो शिष्य निश्चय ही मुक्त हो जाता है। इसलिये साधक को मूलाधारचक्र की ज्योति से अपने पुण्य और पाप नष्ट कर देने चाहियें।

आधारवातरोधेन लीयते गगनान्तरे।।२७।।
आधारवातरोधेन शरीरं कम्पते यदा।
आधारवातरोधेन योगी नृत्यति सर्वदा।
आधारवातरोधेन विश्वं तत्रैव दृश्यते।।२८।।

मूलाधारचक्र में प्राणवायु को रोककर योगी आकाश में लीन हो जाता है अर्थात् आकाश की तरह व्यापक ब्रह्म के ध्यान में लीन हो जाता है। मूलाधार में प्राणवायु को काफी देर तक रोकने का अभ्यास हो जाने पर शरीर में कभी-कभी कंपकपी आती है। प्राणायाम के अभ्यास में सबसे पहिले शरीर में गर्मी अनुभव होती है। प्राणायाम में कुम्भक का अभ्यास बढ़ने पर शरीर में पसीना आता है। कुम्भक का अभ्यास और अधिक बढ़ने पर शरीर में कम्पन उत्पन्न होता है। कुम्भक का अभ्यास बढ़ते रहने पर योगी का शरीर मेंढक की तरह अचानक उछल जाता है। काफी लम्बे समय तक कुम्भक करने पर शरीर आसन से ऊपर आकाश में उठ जाता है। मूलाधार में प्राणवायु रोकने पर योगी सदा आनन्दित रहता है। मूलाधार चक्र में प्राणवायु को रोकने से योगी को सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान हो जाता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त सब मिथ्या है।

सृष्टिराधारमाधारमाधारे सर्वदेवताः।
आधारे सर्ववेदाश्च तस्मादाधारगाश्रयेत्।।२९।।

यह सृष्टि सभी का आधार है। इस सृष्टि का आधार मूलाधार चक्र है। मूलाधार चक्र में सभी देवता और चारों वेदों का ज्ञान प्रतिष्ठित है अतः योगी को मूलाधार का सहारा लेना चाहिये।

आधारे पश्चिमे भागे त्रिवेणीसङ्गमो भवेत्।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च नरः पापात् प्रमुच्यते।।३०।।

मूलाधार के पश्चिम भाग में अर्थात् सुषुम्ना में त्रिवेणी का संगम है अर्थात् इडा, पिंगला और सुषुम्ना मूलाधार में मिलती हैं। यहाँ पर स्नान करके और अमृत रस का पान करके साधक सभी पापों से छूट जाता है।

आधारे पश्चिमं लिङ्गं कवाटं तत्र विद्यते।
तस्योद्घाटनमात्रेण मुच्यते भवबन्धनात्।।३१।।

मूलाधार में पश्चिम लिंग अर्थात् प्रत्यक् चैतन्य या शरीर में स्थित आत्मा है। यहाँ पर तीन ग्रन्थियों से बना दरवाजा है। इस दरवाजे के खुल जाने पर योगी संसार के बन्धन से छूट जाता है।

आधार पश्चिमे भागे चन्द्रसूर्यौ स्थिरौ यदि।
तत्र तिष्ठति विश्वेशो ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत्।।३२।।

मूलाधार में स्थित सुषुम्ना में यदि इडा और पिंगला नाड़ियाँ या चन्द्र और सूर्य नाड़ियाँ लीन हो जाती हैं तो इस अवस्था में मन ब्रह्म के ध्यान में लीन हो जाता है, क्योंकि मूलाधार में विश्वविधाता स्थित हैं।

षट्चक्रों में देवों के ध्यान से ब्रह्मरन्ध्र प्रवेश

आधार पश्चिमे भागे मूर्तिस्तिष्ठति संज्ञया।
षट् चक्राणि च निर्भिद्य ब्रह्मरन्ध्राद् बहिर्गतम्।।३३।।
वामदक्षे निरुन्धन्ति प्रविशन्ति सुषुम्नया।
ब्रह्मरन्ध्रं प्रविश्यान्तः ते यान्ति परमां गतिम्।।३४।।

मूलाधार चक्र के पश्चिम भाग में अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में स्वाधिष्ठान, मणिपूर आदि छह चक्र पिरोये हुए हैं। तात्पर्य यह है कि सुषुम्ना नाड़ी के ब्रह्मरन्ध जाने के मार्ग में ये चक्र आते हैं।

इन चक्रों में ब्रह्मादि देवताओं का ध्यान करने से सुषुम्ना में गये हुए प्राण ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट हो जाते हैं। प्राणायाम का अभ्यास बहुत बढ़ जाने पर और शक्ति चालन आदि मुद्राओं का अभ्यास करने पर मूलाधार में सोयी हुई कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है और सुषुम्ना में चली जाती है। कुण्डलिनी शक्ति के जागने से सुषुम्ना का द्वार भी खुल जाता है और इडा तथा पिङ्गला नाड़ियों में बहने वाला प्राणवायु भी सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है। कुण्डलिनी शक्ति प्राणवायु के सहारे ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में जाने लगती है। रास्ते में वह स्वाधिष्ठान आदि चक्रों को भेदती है और ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट हो जाती है। कुण्डलिनी शक्ति के ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट होने पर योगी के प्राण ब्रह्मरन्ध्र के रास्ते शरीर को छोड़ते हैं और योगी परम गति या मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

सुषुम्नायां यदा हंसस्त्वध ऊर्ध्वं प्रधावति।
सुषुम्नायां यदा प्राणं भ्रामयेद्यो निरन्तरम्।।३५।।
सुषुम्नायां यदा प्राणः स्थिरो भवति धीमताम्।
सुषुम्नायां प्रवेशेन चन्द्रसूर्यौ लयं गतौ।।३६।।
तदा समरसं भावं यो जानाति स योगवित्।

हंस या प्राण

जब सुषुम्ना नाड़ी में हंस ऊपर-नीचे आने-जाने लगता है। जब योगी सुषुम्ना में अपनी प्राणवायु को निरन्तर चलाता है। जब योगियों के प्राण सुषुम्ना में रुक जाते हैं और प्राणवायु के सुषुम्ना में प्रविष्ट होने पर चन्द्र और सूर्य नाड़ियाँ अर्थात् इडा और पिंगला नाड़ियाँ लीन हो जाती हैं या इन दोनों नाड़ियों में प्राणवायु की गति बन्द हो जाती है तब योगियों की आँख, नाक आदि सभी इन्द्रियाँ सुषुम्ना के रास्ते ब्रह्मरन्ध्र में विलीन हो जाती हैं तब जो योगी समरसता को अर्थात् पानी में घुले नमक की भांति परमात्मा के साथ आत्मा की एकता को अनुभव कर लेता है वही सच्चा योगी होता है।

सुषुम्नायां यदा यस्य म्रियते मनसो रयः।।३७।।
सुषुम्नायां यदा योगी क्षणैकमपि तिष्ठति।
सुषुम्नायां यदा योगी क्षणार्धमपि तिष्ठति।।३८।।
सुषुम्नायां यदा योगी सुलग्नो लवणाम्बुवत्।
सुषुम्नायां यदा योगी लीयते क्षीरनीरवत्।।३९।।
भिद्यते च तदा ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते परमाकाशे ते यान्ति परमां गतिम्।।४०।।

जिस योगी के मानसिक आवेग सुषुम्ना में नष्ट हो जाते हैं। जो योगी सुषुम्ना में क्षण भर या आधे क्षण तक भी अपने मन और प्राणों को रोक लेता है। योगी की सारी इन्द्रियाँ और प्राणवायु पानी में घुले नमक की तरह अथवा दूध और पानी की तरह जब सुषुम्ना में लीन हो जाती हैं तब उसके सारे संशय दूर हो जाते हैं और शरीर की तीनों ग्रन्थियाँ भी टूट जाती हैं। अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के बीच भेद करने वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है तथा योगी को परमगति प्राप्त होती है।

सुषुम्ना योग की महिमा

गंगायां सागरे स्नात्वा नत्वा च मणिकर्णिकाम्।
मध्यनाडीविचारस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।४१।।
श्रीशैलदर्शनान्मुक्तिर्वाराणस्यां मृतस्य च।
केदारोदकपानेन मध्यनाडी प्रदर्शनात्।।४२।।

अश्वमेध सहस्राणि वाजपेय शतानि च।
सुषुम्नाध्यान योगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।४३।।
सुषुम्नायां यदा गोष्ठीं यःकश्चित् कुरुते नरः।
स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निश्रेयसमवाप्नुयात्।।४४।।
सुषम्नैव परं तीर्थं सुषुम्नैव परो जपः।
सुषुम्नैव परं ध्यानं सुषुम्नैव परा गतिः।।४५।।
अनेक यज्ञदानानि व्रतानि नियमानि च।
सुषुम्नाध्यान योगस्य कला नार्हन्ति षोडशीम्।।४६।।

गंगासागर तीर्थ में स्नान करना और मणिकर्णिका में शिव को नमस्कार करना सुषुम्ना नाड़ी या मध्यनाड़ी में ध्यान करने की तुलना में कुछ भी नहीं है। श्रीशैल के दर्शन से, वाराणसी में प्राण त्यागने से, केदारनाथ तीर्थ का जल पीने से बढ़कर सुषुम्नानाड़ी का ध्यान होता है। एक हजार अश्वमेध यज्ञ करने से अथवा कई सौ वाजपेय यज्ञ करने से जो लाभ मिलता है उसकी तुलना में सुषुम्ना में ध्यान करने का अभ्यास कहीं अधिक लाभदायक है।

जो योगी सुषुम्ना में विचरण करता रहता है वह सभी पापों से छूट जाता है और मोक्ष प्राप्त करता है। सुषुम्ना में ध्यान करना ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। सुषुम्ना में ध्यान लगाना ही सर्वश्रेष्ठ जप है। सुषुम्ना में ध्यान लगाना सर्वश्रेष्ठ है। सुषुम्ना ही परम गति है।

जीवन में अनेक यज्ञ करना और दान देना, व्रत रखना, नियम-अनुष्ठान करना सुषुम्ना में ध्यान लगाने की तुलना में कुछ भी नहीं है।

चित् शक्ति और जीव का स्थान

ब्रह्मरन्ध्रे महास्थाने वर्तते सततं शिवा।
चिच्छक्तिः परमा देवी मध्यमे सुप्रतिष्ठिता।।४७।।

ब्रह्मरन्ध्र आदि शरीर के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर चित् शक्ति आदि हैं। चित् शक्ति मध्यम स्थान में अर्थात् भ्रूमध्य में सुप्रतिष्ठित है।

मायाशक्तिर्ललाटाग्रभागे व्योमाम्बुजे तथा।
नादरूपा परा शक्तिर्ललाटस्य तु मध्यमे।।४८।।

मायाशक्ति मस्तक के अगले भाग में तथा व्योमाम्बुज में अर्थात् हृदयाकाश में है। अनाहत नाद रूपी श्रेष्ठ शक्ति मस्तक के मध्य में अर्थात् भ्रूमध्य में प्रतिष्ठित है।

भागे बिन्दुमयी शक्तिर्ललाटस्यापरांशके।
बिन्दुमध्ये च जीवात्मा सूक्ष्मरूपेण वर्तते।।४९।।
हृदये स्थूलरूपेण मध्यमेन तु मध्यमे।।५०।।

मस्तक के पिछले भाग में बिन्दुमयी शक्ति है अर्थात् सूक्ष्म तेज या ज्ञानरूपा शक्ति है। इस सूक्ष्म तेज या ज्ञानरूपा शक्ति में जीव का अंश सूक्ष्मरूप में विद्यमान है। हृदय में जीव स्थूलरूप से विद्यमान है। किन्तु जीव मध्य में अर्थात् भ्रूमध्य या सहस्त्रार में नहीं जाता यदि जीव वहाँ चला जाय तो जीव अक्षर या परमाक्षर हो जाता है।

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते।।५१।।

प्राण वायु और अपान वायु के वश में पड़ा हुआ जीव नाक के दांये और बांये सुरों के रास्ते ऊपर-नीचे आ-जा रहा है किन्तु उसकी गति तेज है अत: दिखाई नहीं देता।

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न विश्रमेत्।।५२।।

हाथ से फेंकी हुई गेंद फर्श पर उछलती है, वैसे ही प्राण वायु और अपान वायु से चलाया जाता हुआ जीव आराम नहीं कर पाता है।

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशते पुनः।।५३।।

अपान वायु; प्राण वायु को खींचता है और प्राण वायु, अपान वायु को खींचता है। जब हम श्वास छोड़ते हैं तब 'ह' शब्द होता है और श्वास भरते हुए 'स' शब्द होता है।

हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।
तद् विद्वानक्षरं नित्यं यो जानाति स योगवित्।।५४।।

श्वास भरते और छोड़ते समय जीव 'हंस' 'हंस' इस मन्त्र का जाप

सदा करता रहता है। इस प्रकार जीव अपने जीव भाव को त्याग कर मैं अक्षर या अविनाशी हूँ यह जानकर अक्षर की भांति ही हो जाता है।

कुण्डली की अवस्था बदलने से बन्ध या मुक्ति

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिर्मुक्तिरूपा हि योगिनाम्।
बन्धाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्।।५५।।

कुण्डलिनी शक्ति कन्द के ऊपर सोई हुई है। यह शक्ति योगियों को मोक्ष के मार्ग पर ले जाती है और मूर्खों को जन्म-मरण के बन्धन में डाले रखती है। इस शक्ति का रहस्य जानने वाला ही योगी है। यदि कुण्डली अपना स्थान छोड़ कर ऊपर सहस्रार में पहुँच जाती है तो योगी मुक्त हो जाता है। यदि यह शक्ति अपने स्थान पर सोई रहती है तो जीव जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा रहता है।

प्रणव सबका आधार

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाश्चन्द्रसूर्याऽग्निदेवताः।
यासु मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति।।५६।।

जिस प्रणव अर्थात् ओ३म् के अ, और म् इन तीन वर्णों में भूः (पृथिवी), भुवः (अन्तरिक्ष) और स्वः (द्युलोक) तथा चन्द्र, सूर्य और अग्नि देवता रहते हैं। इस ओ३म् में संसार को बनाने वाली सर्वोत्कृष्ट शक्ति अर्थात् परमात्मशक्ति रहती है। भावार्थ यह है कि ओ३म् के अ, उ और म् इन तीन वर्णों से पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक तथा इन लोकों के देवता (शक्तियाँ) अग्नि, चन्द्र और सूर्य का स्मरण करने के साथ ही इन लोकों और शक्तियों को बनाने वाले सर्वशक्तिमान परमात्मा का भी स्मरण और ध्यान किया जाता है, इसलिये प्रणव जप सर्वश्रेष्ठ है।

त्रयः कालाः त्रयो देवाः त्रयो लोकाः त्रयः स्वराः।
त्रयो वेदाः स्थिताः यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति।।५७।।

ओ३म् नाम की इस परम ज्योति में भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीनों काल; पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु ये तीनों लोक और इन तीनों लोकों के अग्नि, चन्द्र तथा सूर्य ये तीन देवता रहते हैं। उदात्त, अनुदात्त और

स्वरित ये तीनों स्वर तथा ऋग्, यजुः और साम ये तीनों वेद रहते हैं। अभिप्राय यह है कि ओ३म् का उच्चारण या जप करते हुए हम परमात्मा को स्मरण करके उनके बनाये हुए लोकों का, वेदों के रूप में दिये गये ज्ञान का, वेदमन्त्रों का ठीक तरह उच्चारण करने के लिये आवश्यक उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन मुख्य स्वरों का तथा भूत, भविष्य और वर्त्तमान इन तीनों कालों का और अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा या ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों देवताओं का स्मरण करते हैं। परमात्मा इस सारे संसार को बनाते हैं। इस संसार के सभी प्राणियों और वृक्ष-वनस्पतियों का पालन-पोषण करते हैं और समय आने पर सारे संसार का नाश करके नयी सृष्टि की रचना करते हैं। उत्पत्ति, पालन (स्थिति) और संहार, परमात्मा के इन तीनों रूपों के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं।

चित्त से ही बन्धन-मुक्ति

चित्ते चलति संसारो निश्चले मोक्ष उच्यते।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यात् प्रज्ञया परया विधे।।५८।।

चित्त के चंचल होने पर संसार की बातें स्मरण आने लगती हैं और चित्त के एकाग्र हो जाने पर संसार भूल जाता है और योगी सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसलिये हमें सोच विचार कर अपना मन एकाग्र करने का प्रयत्न करना चाहिये।

चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत् त्रयम्।
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयासतः।।५९।।

मनुष्य चित्त के सक्रिय रहने पर ही सांसारिक गतिविधियों में लगा रहता है और उसे सभी तरह की चिन्ताएँ लगी रहती हैं। चित्त की सक्रियता रुक जाने पर मनुष्य संसार के कामों से उदासीन हो जाता है। इस बात पर भलीभांति ध्यान देना चाहिये।

मनोऽहं गगनाकारं मनोऽहं सर्वतोमुखम्।
मनोऽहं सर्वमात्मा च न मनः केवलः परः।।६०।।

हमारा चंचल मन ही ब्रह्म के साक्षात्कार में रुकावट बना हुआ है। यदि मन के सात्विक गुण प्रधान अंश से ब्रह्म के बीच पड़ा हुआ परदा नष्ट

हो जाता है तो ब्रह्म का प्रकाश हृदय में अनुभव होने लगता है। इसलिये शुद्ध सत्वगुण से युक्त परमात्मा के ध्यान में मग्न मन के संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं और साधक का मन आकाश के समान व्यापक, चारों ओर विस्तृत और सभी प्राणियों के प्रति अपनेपन से भर जाता है। किन्तु मैं केवल या कैवल्य युक्त और पर या श्रेष्ठ परमात्मा हूँ यह अनुभूति मन को नहीं होती।

मनः कर्माणि जायन्ते मनो लिप्यति पातकैः।
मनश्चेदुन्मनी भूयान्न पुण्यं न च पातकम्।।६१।।

रजस् और तमस् गुणों से युक्त मन तरह-तरह के कामों में और पापकर्मों में लगा रहता है। किन्तु यदि मन की उन्मनी अवस्था आ जाती है तो वह पाप-पुण्य के बन्धन से मुक्त हो जाता है। सुषुम्ना नाड़ी में प्राणवायु की गति होने पर मन एकाग्र हो जाता है और मन का लय हो जाता है। मन की यह स्थिति उन्मनी अवस्था या उन्मनी-भाव कहलाता है।

मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्यं यदा भवेत्।
ततः परं परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम्।।६२।।

सात्विक भाव से युक्त मन से रजस् और तमस् आदि भावों से मुक्त मन को देखने पर जब मन वृत्तिशून्य अर्थात् संकल्प-विकल्प रहित हो जाता है तब साधक अत्यन्त दुर्लभ परमश्रेष्ठ परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है।

मनसा मन आलोक्य मुक्तो भवति योगवित्।
मनसा मन आलोक्य उन्मन्यन्तं सदा स्मरेत्।।६३।।

सात्विक भाव युक्त मन से रजस् और तमस् युक्त मन को देखकर योगी मुक्त हो जाता है। सात्विक मन से राजसिक-तामसिक मन को देखकर योगी को उन्मनी अवस्था आने तक सदा ब्रह्म का ध्यान करते रहना चाहिये।

मनसा मन आलोक्य योगनिष्ठः सदा भवेत्।
मनसा मन आलोक्य दृश्यन्ते प्रत्ययाः दश।।६४।।
यदा प्रत्यया दृश्यन्ते तदा योगीश्वरो भवेत्।।६५।।

मन से मन को पहिचान कर साधक को सदा योगाभ्यास करना चाहिये। मन से मन को पहिचान लेने पर योगी को दस प्रत्यय या ज्ञान होते

हैं। इन प्रत्ययों के होने पर साधक योगीश्वर बन जाता है। मन एकाग्र होने पर योगी को यही प्रत्यय होता है कि मैं ब्रह्म का ही अंश हूँ। अगले श्लोक में नाद, बिन्दु, कला आदि दस प्रत्ययों का उल्लेख है।

बिन्दु नाद कला ज्योतिरवीन्दु ध्रुवतारकम्।
शान्तं च तदतीतं च परब्रह्म तदुच्यते।।६६।।

बिन्दु, नाद, कला, ज्योति, सूर्य, चन्द्र, ध्रुव तारा, शान्त-अवस्था, शान्त अवस्था से आगे की अवस्था और परब्रह्म का साक्षात्कार योगी को ये दस ज्ञान मन की एकाग्रावस्था में होते हैं।

प्राण और चित्त का अविनाभाव

हसत्युल्लसति प्रीत्या क्रीडते मोदते सदा।
तनोति जीवनं बुद्धया बिभेति सर्वतो भयात्।।६७।।

ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर योगी का चित्त ब्रह्म भाव से परिपूर्ण हो जाता है ऐसी स्थिति में वह कभी हंसता है, बहुत प्रसन्न हो जाता है, प्रेम में भरकर खेलने लगता है, आनन्द मनाता है। किन्तु इस ब्रह्मातिरेक की स्थिति में भी योगी अपने को बुद्धिपूर्वक चलाता है और भय के सभी कारणों से डरता है या सावधान रहता है।

रोध्यते बुध्यते शोके मुह्यते न च सम्पदा।
कम्पते शत्रुकार्येषु कामेन रमते हसन्।।६८।।

उन्मनी अवस्था में योगी का चित्त एकाग्र रहता है। उसको चित्त में यथार्थ ज्ञान प्रकट हो जाता है। शोक का अवसर आने पर या सम्पत्ति अथवा समृद्धि प्राप्त होने पर वह मोह में नहीं पड़ता अर्थात् सम्पद् और विपत् में वह उदासीन या स्थितप्रज्ञ रहता है। शत्रु का बुरा करना उसे अच्छा नहीं लगता और कमनीय या मन को अच्छी लगने वाली वस्तुओं के प्रति उदासीन भाव से आनन्दित होता है।

स्मृत्वा कामरतं चित्तं विजानीयात् कलेवरे।
यत्र देशे वसेद् वायुश्चित्तं तद् वसते ध्रुवम्।।६९।।

यदि योगी के चित्त में कभी कामनाएँ उठती हैं या वह कमनीय वस्तुओं को याद करता है तो समझ लेना चाहिये कि ऐसे योगी का चित्त

अभी शरीर से बंधा हुआ है। क्योंकि प्राणवायु जहाँ रहती है वहीं पर चित्त भी रहता है।

मनश्चन्द्रो रविर्वायुर्दृष्टि रग्निरुदाहृतः।
बिन्दु नाद कला ब्रह्मन् विष्णु ब्रह्मेश देवताः।।७०।।

मन चन्द्रमा का अंश है, प्राणवायु सूर्य का और आँख अग्नि या तेज की अंश है। बिन्दु (वीर्य), अनाहत नाद और कला अर्थात् नाद का एक अंश ये क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र के प्रतीक या अंश हैं।

नादानुसन्धान से मनोलय

सहनादानुसन्धानात् संक्षीणा वासना भवेत्।
निरञ्जने विलीयेते मरुन्मनसि पद्मज।।७१।।

नादानुसन्धान अर्थात् अनाहत नाद सुनने का अभ्यास करते रहने से मन की वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। वासनाएँ नष्ट होते ही मन; निरञ्जन में अर्थात् शोक, मोह आदि से रहित ब्रह्म में लय हो जाता है और प्राणवायु; मन में लय हो जाती है।

यो वै नादः स वै बिन्दुस्तद् वै चित्तं प्रकीर्तितम्।
नादो बिन्दुश्चचित्तं च त्रिभिरैक्यं प्रसाधयेत्।।७२।।

जो अनाहत नाद है, वही बिन्दु है और बिन्दु ही चित्त है। इसलिये नाद, बिन्दु और चित्त इन तीनों के बीच एकता लाने का प्रयत्न करना चाहिये।

शब्द का विस्तारहीन मानसिक भावमात्र ही बिन्दु है। शब्द में चित्त स्थिर होने पर दैशिक विस्तारज्ञान का लोप हो जाता हैं। वही बिन्दु है। अनाहत नाद के अन्दर मन के भलीभांति समाहित या एकाग्र हो जाने पर अनाहत नाद, बिन्दु बन जाता है। योग की परिभाषा में बिन्दु को मन माना गया है। इसलिये अनाहत नाद, बिन्दु और मन अलग-अलग नहीं अपितु यथार्थ दृष्टि से एक हैं। मन स्थिर न होने के कारण ये अलग-अलग दिखते हैं।

मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम्।
मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम्।।७३।।

मन और बिन्दु ही उत्पत्ति और स्थिति के कारण हैं। मन से ही बिन्दु उत्पन्न होता है जैसे घी; दूध में रहता है।

मन सहित प्राणायाम की विधि

षट्चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत् सुखमण्डलम्।
प्रविशेद् वायुमाकृष्य तथैवोर्ध्वं नियोजयेत्।।७४।।

शरीर के छह चक्रों को जानकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये! प्राणायाम का अभ्यास हो जाने पर कुम्भक प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु को सुषुम्ना में प्रविष्ट करने का अभ्यास करना चाहिये। षट्चक्रों के ज्ञान और प्राणायाम के द्वारा योगी सुखमण्डल में अर्थात् सुषुम्ना में अपनी प्राणवायु को ले जाता है।

वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत्।
समाधिमेकेन सममममृतं यान्ति योगिनः।।७५।।

योगी को प्राणवायु, वीर्य, षट्चक्रों और चित्त को वश में करने का अभ्यास करना चाहिये। इनके वश में हो जाने पर योगी समाधिमग्न होकर अमरत्व पाने के समान अपने को धन्य मानते हैं।

गुरु के उपदेश के बिना ज्ञानोदय नहीं

यथाऽग्निदारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेत् मथनं विना।
विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि।।७६।।

जैसे लकड़ियों में छिपी अग्नि लकड़ियों को रगड़े बिना प्रकट नहीं होती वैसे ही योगाभ्यास के विना ज्ञान का दीप प्रकाशित नहीं होता।

घटमध्ये यथा दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते।
भिन्ने तस्मिन् घटे चैव दीपज्वालाऽवभासते।।७७।।

घड़े में रखे हुए जलते दीपक का प्रकाश घड़े से बाहर नहीं दिखता। घड़ा टूट जाने पर दीपक का प्रकाश दिखने लगता है।

स्वकायं घटमित्युक्तं यथा जीवो हि तत्पदम्।
गुरुवाक्यसमाभिन्ने ब्रह्मज्ञानं प्रकाशते।।७८।।

शिष्य का शरीर ही घड़े के समान है। कोई भी प्राणी दुख नहीं चाहता अतः दुख, हेय है अर्थात् त्यागने योग्य है। योगाभ्यास और शास्त्रज्ञान के उपदेश से शिष्य का दुख दूर हो जाने पर शिष्य परमपद को प्राप्त कर लेता है और सद्गुरु के उपदेश से उसके अन्तःकरण में ब्रह्मज्ञान प्रकाशित हो जाता है।

कर्णधारं गुरुं प्राप्य तद् वाक्यं प्लववद्दृढम्।
अभ्यास वासना शक्त्या तरन्ति भवसागरम्।।७९।।

भवसागर की नाव को खेने वाले सद्गुरु को प्राप्त कर साधक उनके उपदेशरूपी नाव पर बैठकर योगाभ्यास, शास्त्र-अभ्यास और पूर्वजन्मों की वासना की शक्ति से भवसागर को पार कर लेते हैं।

।।षष्ठ अध्याय समाप्त।।

ओ३म् सहनाववतु.........शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

।।योग शिखोपनिषद् समाप्त।।

१८

वराहोपनिषद्

ओ३म् सहनाववतु..........इति शान्तिः!

श्रीमद् वराहोपनिषद् वेद्याखण्डसुखाकृति।
त्रिपान्नारायणाख्यं तद् रामचन्द्र पदं भजे।।

वराह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् में भगवान ने वराह के रूप में प्रकट होकर ऋभु ऋषि को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है।

प्रथम अध्याय

हरिः ओ३म्। अथ ऋभुर्वै महामुनि देवमानेन द्वादशवत्सरं तपश्चकार। तदवसाने वराहरूपी भगवान् प्रादुरभूत्।

महामुनि ऋभु ने बाहर देववर्षों तक तपस्या की। एक देववर्ष मनुष्य के चार सौ बत्तीस वर्षों का होता है। अतः ऋमु ने ४३२×१२ वर्षों तक, अर्थात् ५१८४ वर्षों तक तपस्या की। उनकी तपस्या समाप्त होने पर भगवान वराह के रूप में प्रकट हुए।

स होवाच उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ वरं वृणीष्व इति। सोदत्तिष्ठत। तस्मै नमस्कृत्य उवाच-भगवन् कामिभिः यत् यत् कामितं तत् तत् त्वत् सकाशात् स्वप्नेऽपि न याचे। समस्त वेदशास्त्र इतिहास पुराणानि समस्त विद्याजालानि ब्रह्मादयः सुराः सर्वे त्वद् रूप ज्ञानात् मुक्तिम् आहुः। अतः त्वद् रूप प्रतिपादिकां ब्रह्मविद्यां ब्रूहीति होवाच। तथेति स होवाच वराहरूपी भगवान्।

भगवान् बोले - उठो और कोई वर मांगो। ऋभु ने खड़े होकर भगवान्

को प्रणाम किया और कहा— भगवान् अनेक इच्छाओं वाले लोग जो कुछ चाहते हैं उनमें से मैं कुछ भी वस्तु नहीं चाहता। सारे वेद-शास्त्र, इतिहास-पुराण, सारी विद्याएँ, ब्रह्मादि सारे देवता यही कहते हैं कि आपका स्वरूप जान लेने से मुक्ति हो जाती है इसलिये आप मुझे आपके रूप को बताने वाली ब्रह्मविद्या का उपदेश दीजिये। वराहरूपी भगवान ने ऋभु की यह प्रार्थना स्वीकार कर ली और बोले–

चतुर्विंशति तत्त्वानि केचिदिच्छन्ति वादिनः।
केचित् षट्त्रिंशत्तत्त्वानि केचित् षण्णवतीनि च।।१।।
तेषां क्रमं प्रवक्ष्यामि सावधानमनाः शृणु।

कुछ लोग चौबीस तत्त्व मानते हैं। कुछ लोग छत्तीस तत्त्व मानते हैं और कुछ लोग छियानवे तत्त्व मानते हैं। मैं इन तत्त्वों को बताता हूँ। तुम ध्यान से सुनो।

चौबीस तत्त्व

ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव श्रोत्रत्वग्लोचनादयः।।२।।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव वाक्पाण्यङ्घ्र्यादयः क्रमात्।
प्राणादयस्तु पञ्चैव पञ्च शब्दादयस्तथा।।३।।

आँख, कान, त्वचा आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। हाथ-पैर, वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। प्राण, अपान, उदान आदि पाँच वायु हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ हैं।

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्।
चतुर्विंशति तत्त्वानि तानि ब्रह्मविदो विदुः।।४।।

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार अन्तःकरण या आन्तरिक इन्द्रियाँ हैं। ये सब मिलाकर चौबीस तत्त्व हैं।

छत्तीस तत्त्व

एतैस्तत्त्वैः समं पञ्चीकृत भूतानि पञ्च च।
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च।।५।।

इन तत्त्वों के साथ आदि—तन्मात्राओं का पञ्चीकरण अर्थात् एक तन्मात्रा में अन्य चार तन्मात्राओं का थोड़ा-थोड़ा अंश रखने पर पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत बनते हैं।

देहत्रयं स्थूल सूक्ष्मकारणानि विदुर्बुधः।
अवस्था त्रितयं चैव जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः।।६।।

हमारे तीन शरीर हैं स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। हमारे शरीर की तीन अवस्थाएँ होती हैं– जाग्रदवस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्ति अवस्था।

आहत्य तत्त्वजातानां षट्त्रिंशन्मुनयो विदुः।

पहिले बताये गये २४ तत्त्वों और इन ग्यारह तत्त्वों को मिलाने पर ३५ तत्त्व होते हैं।

पूर्वोक्तैस्तत्त्वजातैस्तु समं तत्त्वानि योजयेत्।।७।।

इन ३५ तत्त्वों में शरीर की चौथी अवस्था तुरीय को मिलाने से ३६ तत्त्व बनते हैं।

छियानवे तत्त्व

षड्भावविकृतिश्चास्ति जायते वर्धतेऽपि च।
परिणामं क्षयं नाशं षड्भावविकृतिं विदुः।।८।।

सभी वस्तुओं में ये छह विकार होते हैं– है, उत्पन्न होता है, बढ़ता है, बदलता है, कमजोर होता है और नष्ट होता है।

अशना च पिपासा च शोकमोहौ जरा मृतिः।
एते षडूर्मयः प्रोक्ताः षट्कोशानथ वच्मि ते।।९।।

भूख-प्यास, शोक-मोह और बुढ़ापा तथा मृत्यु ये छह ऊर्मियां या लहरें हैं जो इस प्राणिजगत् में चल रही हैं। अब मैं छह कोश बतलाता हूँ।

त्वक्च रक्तं मांसमेदोमज्जास्थीनि निबोधत।
कामक्रोधौ लोभमोहौ मदोमात्सर्यमेव च।।१०।।
एतेऽरिषट्का विश्वश्च तैजसः प्राज्ञ एव च।
जीवत्रयं सत्वरजतमांसि च गुणत्रयम्।।११।।

त्वचा, खून, मांस, चर्बी, मज्जा और हड्डी ये छह शरीर के कोश या धातुएँ हैं।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और ईर्ष्या से छह शत्रु हैं। विश्व, तैजस और प्राज्ञ ये तीन जीव हैं और सत्व, रज, तम ये तीन गुण हैं।

प्रारब्धागाम्यर्जितानि कर्मत्रयमितीरितम्।
वचनादानगमन विसर्जनानन्द पञ्चकम्।।१२।।

प्रारब्ध अर्थात् जिन कर्मों का फल इस जन्म में मिल रहा है आगामी (आनेवाले) और अर्जित अर्थात् पहिले जन्मों के कर्म ये तीन प्रकार के कर्म या कर्मों की वासनाएँ (कर्मशय) या कर्म के संस्कार हैं। बोलना, लेना, चलना, मल-मूत्र त्यागना और आनन्द अनुभव करना ये पाँच कर्मेन्द्रियों के काम हैं।

संकल्पोऽध्यवसायश्च अभिमानोऽवधारणा।
मुदिता करुणा मैत्री उपेक्षा च चतुष्टयम्।।१३।।

संकल्प करना, निश्चय करना, अभिमान करना और दृढ़ निश्चय करना ये मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के या आन्तरिक इन्द्रियों के कार्य हैं। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा ये चार भावनाएँ चित्त को शुद्ध करती हैं।

दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः।
तथा चन्द्रश्चतुर्वक्त्रो रुद्रः क्षेत्रज्ञ ईश्वरः।।१४।।

आहत्य तत्त्वजातानां षण्णवत्यस्तु कीर्तिताः।

दिशाएँ, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विन, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मृत्यु (यम), चन्द्र, चतुर्मुख ब्रह्मा, रुद्र (शिव), क्षेत्रज्ञ और ईश्वर। इन सब तत्त्वों को जोड़ने से छियानवें तत्त्व हो जाते हैं।

इन तत्त्वों से परे भगवद् भक्ति से ही मुक्ति

पूर्वोक्ततत्त्वजातानां वैलक्षण्यमनामयम्।।१५।।
वराहरूपिणं मां ये भजन्ति मयि भक्तितः।
विमुक्ताज्ञानतत्कार्या जीवन्मुक्ता भवन्ति ते।।१६।।

उपरोक्त तत्त्वों की विलक्षणता यही है कि ये अनामय हैं अर्थात् इनमें विकार या परिवर्तन नहीं आता।

जो लोग मुझ वराहरूपी भगवान को सच्चे हृदय से मेरा भजन या ध्यान करते हैं वे अज्ञान और इसके कार्यों से छूटकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

ये षण्णनवतितत्त्वज्ञा यत्र कुत्राश्रमे रताः।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः।।१७।।

जो लोग इन छियानवें तत्त्वों को जानते हैं वे चाहे जिस किसी आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि में या जटा रखने वाले, सिर मुंडाने वाले, चोटी रखने वाले कैसे भी क्यों न हों मुक्त हो जाते हैं।

।।प्रथम अध्याय समाप्त।।

द्वितीय अध्याय

साधनचतुष्टय सम्पत्ति

ऋभुर्नाम महायोगी क्रोडरूपं रमापतिम्।
वरिष्ठां ब्रह्मविद्यां त्वमधीहि भगवन्मम।।

ऋभु नाम के महायोगी ने वराहरूपधारी विष्णु से कहा कि आप मुझे श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या का उपदेश दीजिये।

एवं स पृष्टो भगवान् प्राह भक्तार्तिभञ्जनः।।१।।
स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा गुरुतोषणात्।
साधनं भवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्।।२।।
नित्यानित्य विवेकश्च इहामुत्र विरागता।
शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षा तां समभ्यसेत्।।३।।

ऋभु की यह प्रार्थना सुनकर भक्तों के दुख दूर करने वाले भगवान् ने कहा– ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अपने-अपने वर्णों, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि अपने-अपने आश्रमों के धर्मों का पालन करने से, तपस्या से, गुरु को सन्तुष्ट करने से और वैराग्य आदि चार साधनों का अभ्यास करने से ब्रह्मविद्या को जाना जा सकता है। साधन चतुष्टय में नित्य और अनित्य

वस्तुओं के बीच विवेक करना, शम आदि षट् सम्पत्ति, सांसारिक और स्वर्ग के ऐश्वर्यों तथा भोगों के प्रति उदासीनता और मोक्ष की तीव्र इच्छा ये चार साधन होते हैं। शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान ये षट् सम्पत्तियाँ हैं। वैराग्य की ये तीन अवस्थाएँ होती है– यतमान, व्यतिरेक और एकेन्द्रिय।

ब्रह्मात्मज्ञानी ही कृतकृत्य

एवं जितेन्द्रियो भूत्वा सर्वत्र ममता मतिम्।
विहाय साक्षिचैतन्ये मयि कुर्यादहं मतिम्।।४।।
दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं तत्रापि नरविग्रहम्।
ब्राह्मण्यं च महाविष्णो र्वेदान्त श्रवणादिना।।५।।
अतिवर्णाश्रमं रूपं सच्चिदानन्द लक्षणम्।
यो न जानाति सोऽविद्वान् कदा मुक्तो भविष्यति।।६।।

साधन चतुष्टय आदि को अपनाने से, जितेन्द्रिय बनकर और संसार के सभी पदार्थों तथा सम्बन्धों के प्रति मेरेपन की या ममत्व की भावना त्यागकर मुझ साक्षी रूप चैतन्य में ममत्व बुद्धि करनी चाहिये। अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है और संसार मिथ्या है यह भावना दृढ़ करनी चाहिये। दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर और मनुष्य शरीर में भी नर शरीर पाकर और ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर जिसने वेदान्त शास्त्र को सुनने पर भी महाविष्णु के वर्ण और आश्रम से परे सच्चिदानन्द स्वरूप को नहीं समझा वह अज्ञानी पुरुष कब मुक्त होगा।

आत्मा सुखस्वरूप है

अहमेव सुखं नान्यदन्यच्चेन्नैष तत्सुखम्।
अमदर्थं न हि प्रेयो मदर्थं तत् स्वतः प्रियम्।।७।।
परप्रेमास्पदतया मा न भूवमहं सदा।
भूयासमिति यो द्रष्टा सोऽहं विष्णुर्मुनीश्वर।।८।।

मैं सुखस्वरूप ही हूँ अन्य कुछ नहीं हूँ। जो कुछ अन्य है वह सुख नहीं है। जो मेरे लिये नहीं है वह वस्तु मुझे प्रिय नहीं है। जो कुछ मेरे लिये

है वह मुझे अपने आप ही प्रिय है। मैं किसी का प्रेम पात्र कभी न बनूं। जो ब्रह्मद्रष्टा है मैं भी वही बन जाऊँ। हे मुनीश्वर! मैं विष्णु स्वरूप ही हूँ।

न प्रकाशोऽहमित्युक्तिर्यत्प्रकाशैकबन्धना।
स्वप्रकाशं तथात्मानमप्रकाशः कथं स्पृशेत्।।९।।
स्वयं भातं निराधारं ये जानन्ति सुनिश्चितम्।
ते हि विज्ञानसम्पन्ना इति मे निश्चिता मतिः।।१०।।

मैं प्रकाशवान् नहीं हूँ प्रकाश को रोकने वाली यह बात स्वयं प्रकाशमान आत्मा पर कैसे लागू हो सकती है। जो लोग यह जानते हैं कि आत्मा स्वयं प्रकाशशील है और निराधार या निराश्रय है वे ही वास्तविक ज्ञानी हैं यह मेरा निश्चित मत है।

माया से विलक्षण आत्मा

स्वपूर्णात्मातिरेकेण जगज्जीवेश्वरादयः।
न सन्ति नास्ति माया च तेभ्यश्चाहं विलक्षणः।।११।।
अज्ञानान्धतमोरूपं कर्मधर्मादिलक्षणम्।
स्वयं प्रकाशमात्मानं नैव मां स्प्रष्टुमर्हति।।१२।।

वास्तविक दृष्टि से अपनी पूर्ण आत्मा के अतिरिक्त यह संसार, जीव, ईश्वर कुछ भी नहीं है। माया भी नहीं है। मैं इन सबसे विलक्षण हूँ। तमोरूप अज्ञान का अन्धकार, कर्म, धर्म आदि मुझ स्वयं प्रकाशमान आत्मा को छू भी नहीं सकते।

ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही है

सर्वसाक्षिणमात्मानं वर्णाश्रमविवर्जितम्।
ब्रह्मरूपतया पश्यन् ब्रह्मैव भवति स्वयम्।।१३।।
भासमानमिदं सर्वं भानरूपं परं पदम्।
पश्यन् वेदान्तमानेन सद्य एव विमुच्यते।।१४।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि चार आश्रमों के जंजाल से अलग सभी के साक्षिरूप आत्मा को जो साधक ब्रह्म के रूप में देखते हैं वे स्वयं ही ब्रह्म हो जाते हैं। जो वेदान्त की दृष्टि से

प्रकाशशील परम पद से प्रकाशित इस संसार को देखते हैं वे शीघ्र ही संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं।

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम्।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते।।१५।।

मेरा यह शरीर है, मेरा यह आत्मा है यह ज्ञान शरीर और आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानने में रुकावट बना हुआ है। किन्तु जब साधक जान जाता है कि यह शरीर, यह आत्मा आदि सब कुछ ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं हैं तब वह न चाहते भी मुक्त हो जाता है।

आत्मज्ञानी कर्म बन्धन से रहित

सत्यज्ञानानन्दपूर्णलक्षणं तमसः परम्।
ब्रह्मानन्दं सदा पश्यन् कथं बध्येत कर्मणा।।१६।।
त्रिधामसाक्षिणं सत्यज्ञानानन्दादिलक्षणम्।
त्वमहंशब्दलक्ष्यार्थमसक्तं सर्वदोषतः।।१७।।

सत्य, ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण, अज्ञानान्धकार से परे, ब्रह्मानन्द का सदा साक्षात् करने वाला ज्ञानी कर्म-बन्धन में कैसे पड़ सकता है? ब्रह्म; तीनों लोकों के साक्षी हैं। वे सत्य, ज्ञान और आनन्द आदि से परिपूर्ण हैं। ब्रह्म को 'अहम्' और 'त्वम्' शब्दों से पुकारा जाता है। वे सभी प्रकार के दोषों और कमियों से रहित हैं।

सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत्।।१८।।
प्रज्ञानमेव तद् ब्रह्म सत्यप्रज्ञान लक्षणम्।

सर्वत्र व्याप्त सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म को ज्ञान की आँखों से ही देखा जा सकता है। अज्ञानी व्यक्ति ब्रह्म का साक्षात्कार उसी प्रकार नहीं कर सकता जैसे अन्धा व्यक्ति प्रकाशमान सूर्य को नहीं देख सकता। ब्रह्म उत्कृष्ट ज्ञान से परिपूर्ण हैं। उनका स्वरूप ही सत् और उत्कृष्ट ज्ञान युक्त है।

एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मर्त्योऽमृतो भवेत्।।१९।।
तद् ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचित् घनम्।

ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप जानकर ही मरणधर्मा मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर सकता है। ब्रह्म दर्शन के आनन्द की किसी और आनन्द से तुलना नहीं की जा सकती। ब्रह्म; प्रकृति के सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों से परे हैं वे सत् और चित् स्वरूप हैं।

विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कुतश्चन।।२०।।
चिन्मात्रं सर्वगं नित्यं सम्पूर्णं सुखमव्ययम्।

भक्त अपनी आत्मा का स्वरूप जानकर किसी से और कहीं भी नहीं डरता। ब्रह्म; चैतन्य स्वरूप हैं। वे सर्वत्र व्यापक, नित्य, परिपूर्ण, सुख स्वरूप और निर्विकार हैं।

साक्षाद् ब्रह्मैव नान्योऽस्तीत्येवं ब्रह्मविदां स्थितिः।।२१।।
अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत्।

ब्रह्मविद् व्यक्ति को सब जगह ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी के दर्शन नहीं होते। अज्ञानी के लिये यह जगत् दुखों से भरा हुआ है किन्तु ज्ञानी पुरुष के लिये यह संसार आनन्द से परिपूर्ण है।

अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सुचक्षुषाम्।।२२।।

अन्धे व्यक्ति के लिये सारा संसार अन्धकारमय है किन्तु आँख वाले के लिये प्रकाशमय।

अनन्ते सच्चिदानन्दे मयि वराहरूपिणी।
स्थितेऽद्वितीयभावः स्यात् को बन्धः कश्च मुच्यते।।२३।।
स्वस्वरूपं तु चिन्मात्रं सर्वदा सर्वदेहिनाम्।

अनन्त और सच्चिदानन्द स्वरूप मुझ वराहरूपी सत्ता में भक्त की स्थिति हो जाने पर उसके हृदय में अद्वितीय भाव आ जाने पर कौन जन्म-मरण के बन्धन में है और कौन मुक्त है। ब्रह्म तो स्वयं आत्मस्वरूप, चैतन्यमात्र और सभी प्राणियों में सदा विद्यमान हैं।

नैव देहादिसंघातो घटवद् दृशिगोचरः।।२४।।
स्वात्मनोऽन्यतया भातं चराचरमिदं जगत्।

ब्रह्म का स्वरूप घड़े की भांति देह आदि के रूप में दिखाई नहीं देता। यह चल और अचल संसार ब्रह्म के आत्मस्वरूप से पृथक् दिख रहा है।

स्वात्ममात्रतया बुद्ध्वा तदस्मीति विभावय।।२५।।
स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः।

मैं आत्मस्वरूप हूँ यह जानकर साधक को यही समझना चाहिये कि मैं ब्रह्मस्वरूप ही हूँ। यह जीव अपने ही स्वरूप का स्वयं भोग कर रहा है उसके अतिरिक्त भोगने योग्य अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम्।।२६।।
ब्रह्मविज्ञान सम्पन्नः प्रतीतमखिलं जगत्।
पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक्।।२७।।

इस जगत में यदि कुछ है या अस्तिता रूप है वह ब्रह्म का ही अस्तित्व है। ब्रह्म विद्या से युक्त ज्ञानी व्यक्ति को यह सारा जगत् प्रतीति मात्र या मिथ्या प्रतीत होता है। ज्ञानी पुरुष इस जगत् को देखता हुआ भी इसे अपने स्वरूप से अलग नहीं देखता।

मत्स्वरूपपरिज्ञानात् कर्मभिर्न स बध्यते।।२८।।

मेरा स्वरूप जानकर ज्ञानी कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता है।

यः शरीर इन्द्रियादिभ्यो विहीनं सर्वसाक्षिणम्।
परमार्थैकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम्।।२९।।
स्वस्वरूपतया सर्वं वेद स्वानुभवेन यः।
स धीरः स तु विज्ञेयः सोऽहं तत्त्वं ऋभो भव।।३०।।

जो ज्ञानी पुरुष शरीर और आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियों से रहित सारे जगत के साक्षी, परमश्रेष्ठ स्वरूप, सुख स्बरूप और स्वयं प्रकाशशील आत्मस्वरूप ब्रह्म को पूरी तरह जान लेता है और ब्रह्म के इस स्वरूप को अनुभव कर लेता है वही ज्ञानी पुरुष धैर्ययुक्त होता है। हे ऋभु! मैं और तुम भी वही हो और 'सोऽहम्' स्वरूप हो जाओ।

अतः प्रपञ्चानुभवः सदा न हि स्वरूपबोधानुभवः सदा खलु।
इति प्रपश्यन् परिपूर्णविदनो न बन्धमुक्तो न च बद्ध एव तु।।३१।।

ब्रह्मभाव से युक्त योगी को अपने स्वरूप की अनुभूति के बिना इस जगत प्रपञ्च की अनुभूति नहीं हो सकती। इस प्रकार आत्मा की अनुभूति

कर लेने वाले योगी को बन्धन और मुक्ति का भ्रम नहीं रहता क्योंकि वह बन्धन में था ही नहीं।

बन्धन से छूटने के लिये ब्रह्म और आत्मा का अनुसन्धान

स्वस्वरूपानुसन्धानात् नृत्यन्तं सर्वसाक्षिणम्।
मुहूर्तं चिन्तयेन्मां यः सर्वबन्धैः प्रमुच्यते।।३२।।

जो भक्त अपने स्वरूप को जान लेने पर आनन्द मग्न होकर नाचता हुआ सभी के साक्षी मेरा क्षण भर भी चिन्तन करता है वह संसार के सभी बन्धनों से छूट जाता है।

सर्वभूतान्तरस्थाय नित्यमुक्तचिदात्मने।
प्रत्यक् चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः।।३३।।

सभी प्राणियों के हृदयों में विराजमान, सदा मुक्त, चैतन्यस्वरूप और प्रत्यक् चैतन्य अर्थात् प्रत्येक वस्तु से सम्बद्ध चैतन्यरूप मुझ ईश्वर को बार-बार प्रणाम है।

त्वं वाहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि।
तुभ्यं मह्यमनन्ताय मह्यं तुभ्यं चिदात्मने।।३४।।
नमो मह्यं परेशाय नमस्तुभ्यं शिवाय च।

हे प्रभु! हे देव! जो आप हैं वही मैं भी हूँ। जो मैं हूँ वही आप हैं। अनन्त स्वरूप आपको, मुझको या मुझे या चैतन्य स्वरूप आपको नमस्कार है। आप सबके स्वामी हैं और कल्याणरूप हैं।

किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम्।।३५।।
यन्मया पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा।

मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किस वस्तु को लूँ और किस पदार्थ को छोड़ूँ? क्योंकि यह सम्पूर्ण संसार मुझसे उसी प्रकार व्याप्त है जैसे महाप्रलय में यह सारा जगत जल में डूब जाता है।

अन्तः सङ्गं बहिःसङ्गम् आत्मसङ्गं च यस्त्यजेत्।
सर्वसङ्ग निवृत्तात्मा स मामेति न संशयः।।३६।।

जो व्यक्ति अपने अन्तःकरण की आसक्तियों को, सांसारिक आसक्तियों

को और अपने शरीर के प्रति आसक्ति, लगाव या मोह को छोड़ देता है और सभी प्रकार की आसक्तियों से छूट जाता है वह निश्चय ही मुझे प्राप्त कर लेता है।

अहिरिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेद्यः
कुपणमिव सुनारीं त्यक्तकामो विरागी।
विषमिव विषयादीन् मन्यमानो दुरन्तान्-
जगति परमहंसो वासुदेवोऽहमेव।।३७।।

जो साधक जन सम्पर्क को सदा के लिये उसी प्रकार छोड़ देता है जैसे साँप को। जो सभी प्रकार की कामनाओं को छोड़कर वैराग्य वृत्ति अपना कर सुन्दर स्त्री को शव की भांति छोड़ देता है। बड़ी मुश्किल से छूटने वाले सांसारिक विषय-भोगों को जो विष की भांति छोड़ देता है। वह संसार में परमहंस कहलाता है किन्तु वस्तुतः मैं ही वह वासुदेव हूँ।

इदं सत्यमिदं सत्यं सत्यमेतदिहोच्यते।
अहं सत्यं परं ब्रह्म मत्तः किंचिन्न विद्यते।।३८।।

यही ज्ञान सत्य है। यह वास्तव में सत्य है। यही ज्ञान संसार में सत्य कहलाता है। मैं ही सत्यस्वरूप परब्रह्म हूँ मुझ से परे और कुछ भी सत्य नहीं है।

उपवास का अर्थ

उप समीपे यो वासो जीवात्मपरमात्मनोः।
उपवासः स विज्ञेयो न तु कायस्य शोषणम्।।३९।।

जो साधक ब्रह्म के पास रहता है अर्थात् ब्रह्मध्यान में मग्न रहता है और इस प्रकार जीवात्मा तथा परमात्मा पास-पास रहते हैं वही उपवास वास्तविक होता है। शरीर को सुखाना सच्चा उपवास नहीं है।

कायशोषणमात्रेण का तत्र ह्यविवेकिनाम्।
वल्मीकताडनादेव मृतः किं नु महोरगः।।४०।।

नासमझ लोगों द्वारा अपना शरीर सुखाने से क्या लाभ? क्या साँप की बाम्बी तोड़ देने से साँप मर जाता है?

जीवन्मुक्ति का साधन अपरोक्षज्ञान

अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद परोक्षज्ञानमेव तत्।
अहं ब्रह्मेति चेद् वेद साक्षात्कारः स उच्यते।।४१।।

यदि साधक; गुरु से यह जान लेता है कि ब्रह्म है तो उसका यह ज्ञान परोक्ष ज्ञान ही होता है। यदि साधक यह अनुभव कर लेता है कि मैं ब्रह्म का ही अंश हूँ तो यह अनुभव साक्षात्कार होता है।

यस्मिन् काले स्वमात्मानं योगी जानाति केवलम्।
तस्मात् कालात् समारभ्य जीवन्मुक्तो भवेदसौ।।४२।।
अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम्।

योगी को जिस समय यह अनुभूति या ज्ञान हो जाता है कि मैं केवल आत्मस्वरूप हूँ। संसार से मुझे कोई लगाव नहीं है। उसी समय से योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। मैं ब्रह्म का ही अंश हूँ यह अनुभव निश्चय ही महात्माओं की मुक्ति का कारण होता है।

चिन्ता से छूटने का उपाय

द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।।४३।।
ममेति बध्यते जन्तु र्निममेति विमुच्यते।
बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका।
सर्व चिन्तां समुत्सृज्य स्वस्थो भव सदा ऋभो।।४४।।

संसार में बंधे रहने के और संसार के बन्धनों से छूटने के लिये 'मम' और 'निर्मम' ये दो शब्द हैं। जब तक मन में 'मम' की या 'यह मेरा है' यह भावना रहेगी तब तक मनुष्य संसार के जाल में फंसा रहेगा। 'निर्मम' अर्थात् मेरा कुछ नहीं है मन में यह भाव आते ही मनुष्य संसार के बन्धनों से छुटकारा पा जाता है। इसलिये हमें सांसारिक या बाह्य पदार्थों के बारे में और न ही अपने मन में कोई चिन्ता करनी चाहिये। हे ऋभु! तुम सभी प्रकार की मानसिक और सांसारिक चिन्ताओं को त्याग कर सदा सुख से रहो।

भगवत् चिन्तन से ही चिन्ता त्याग

संकल्पमात्र कलनेन जगद् समग्रम्
संकल्पमात्र कलने हि जगद् विलासः।
संकल्पमात्रमिदमुत्सृजः निर्विकल्प
माश्रित्य मामकपदं हृदि भावयस्व।।४५।।

हमारे संकल्प या सोचने के कारण ही यह सारा जगत दिखाई दे रहा है। हमारे संकल्पों से ही संसार के व्यवहार चल रहे हैं। इसलिये तुम मन के इन संकल्प – विकल्पों को छोड़कर अर्थात् निर्विकल्प होकर या तरह-तरह के विचारों को छोड़कर अपने हृदय में मेरा ही ध्यान करते रहो।

मच्चिन्तनं मत्कथनमन्योन्यं मत्प्रभाषणम्।
मदेकपरमो भूत्वा कालं नय महामते।।४६।।

हे परमबुद्धिमान! तुम सदा मेरा ही चिन्तन करो। मेरे सम्बन्ध में ही आपस में चर्चा करो और मेरे स्वरूप का गुणगान करो। मुझ एक मात्र का ध्यान करते हुए तुम जीवन बिताओ।

चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च।
चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भावय।।४७।।
रागं नीरागतां नीत्वा निर्लेपो भव सर्वदा।

यहाँ चैतन्य स्वरूप ब्रह्म विद्यमान हैं। यह सम्पूर्ण जगत् चैतन्य स्वरूप ही है। ये सारे पदार्थ चिन्मय हैं अर्थात् इन सबमें चैतन्य प्रभु व्याप्त हैं। तुम भी चैतन्य स्वरूप हो। मैं भी चैतन्य स्वरूप हूँ। सारे लोक-लोकान्तर भी चैतन्य स्वरूप हैं। मन में यह भावना दृढ़ करके और राग-मोह को मन से सर्वथा निकाल करके तुम निर्लेप अर्थात् राग-द्वेष, मोह-ममता से रहित हो जाओ।

अज्ञानजन्यकर्त्रादिकारकोत्पन्न कर्मणा।।४८।।
श्रुत्युत्पन्नात्मविज्ञान प्रतीपो बाध्यते कथम्।

अज्ञान के कारण मन में उत्पन्न मैं करने वाला या कर्ता हूँ और मैंने यह काम किया है यह भावना शास्त्रों में बताये गये आत्म विज्ञान के विपरीत है। इस भावना को मन से कैसे दूर किया जा सकता है?

अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत् स्थितौ।।४९।।
एकनिष्ठतयान्तस्थ संविन्मात्रपरो भव।

हृदय और मन में समाये हुए अनात्मभाव को त्याग कर और संसार के प्रति मन में कोई लगाव न रखकर अन्तःकरण में स्थित ज्ञान रूपी सम्पत्ति में एकनिष्ठ हृदय से लीन हो जाओ।

घटाकाश मठाकाशौ महाकाशे प्रतिष्ठितौ।।५०।।
एवं मयि चिदाकाशे जीवेशौ परिकल्पितौ।

जिस प्रकार घड़े में बन्द आकाश और मठ या कोठरी में बन्द आकाश ये दोनों ही महान या व्यापक आकाश के ही भाग हैं उसी प्रकार मेरे चैतन्ययुक्त हृदयाकाश में जीव और ईश्वर विद्यमान हैं।

या च प्रागात्मनो माया तथान्ते च तिरस्कृता।।५१।।
ब्रह्मवादिभिरुद्गीता सा मायेति विवेकतः।

जो माया आत्मा से सम्बद्ध थी और जिसे विवेकज्ञान होने पर छोड़ दिया गया। ब्रह्मवादियों के अनुसार माया के स्वरूप पर विवेकपूर्वक विचार करने पर माया के आवरण से रहित ब्रह्म का साक्षात् होता है।

माया तत् कार्य विलये नेश्वरत्वं न जीवता।।५२।।
ततः शुद्धश्चिदेवाहं व्योमवन्निरुपाधिकः।

माया और उसके कार्य जगत् के नष्ट हो जाने पर ईश्वर और जीव की भावना समाप्त हो जाती है और विशुद्ध आकाश की भांति शुद्ध और चैतन्य मैं ही शेष रह जाता हूँ।

जीवेश्वरादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम्।।५३।।
ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेनकल्पिता।
जाग्रदादि विमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः।।५४।।

जीवात्मा और ईश्वर आदि के रूप से चेतन और जड़ जगत की सृष्टि ईश्वर ने अपनी ईक्षण शक्ति से की। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से लेकर मोक्ष तक ही कल्पना जीवात्मा ने की।

त्रिणाचिकेतादियोगान्ता ईश्वरभ्रान्तिमाश्रिताः।

लोकायतादि सांख्यान्ता जीवविश्रान्तिमाश्रिताः।।५५।।

त्रिणाचिकेत अर्थात् स्वर्गलोक प्राप्त कराने वाली यज्ञविद्या से लेकर योगाभ्यास की कल्पना ईश्वर से सम्बद्ध भ्रान्ति पर आधारित है। लोकायत अर्थात् चार्वाक दर्शन से लेकर सांख्य दर्शन तक के विचार जीव को विश्रान्ति के भुलावे में रखने की कल्पना है।

तस्मात् मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः।
कार्या किन्तु ब्रह्मतत्त्वं निश्चयेन विचार्यताम्।।५६।।

इसलिये मोक्ष की इच्छा करने वालों को जीवात्मा और ईश्वरवाद के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। उन्हें ब्रह्मतत्व का विचार अवश्य ही करना चाहिये।

अद्वितीय ब्रह्मतत्वं न जानन्ति यथा यथा।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम्।।५७।।

जो लोग ब्रह्मतत्व को वास्तविक रूप से नहीं जानते वे सब भ्रम में पड़े हुए हैं। ऐसे लोगों को मुक्ति और सुख कैसे मिल सकता है?

उत्तमाधमभावश्चेत्तेषां स्यादस्ति तेन किम्।
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां प्रबुद्धः स्पृशते खलु।।५८।।

इस संसार में कोई यज्ञ, दान आदि कार्य करता है तो कोई योगाभ्यास आदि कर्म करता है। किन्तु इन कर्मों में कौन श्रेष्ठ या उत्तम है और कौन सा अधम या कम है इस बात पर ब्रह्मज्ञानी उसी प्रकार ध्यान नहीं देते जैसे स्वप्न में भिक्षा मांगने और राजा बनने वाले के बीच जागते हुए व्यक्ति के लिये कोई अन्तर या भेद नहीं है।

अज्ञाने बुद्धिविलये निद्रा सा भण्यते बुधैः।
विलीनाज्ञानतत्कार्ये मयि निद्रा कथं भवेत्।।५९।।

अज्ञान की स्थिति में बुद्धि काम नहीं करती या बुद्धि विलीन हो जाती है। अज्ञान की इस अवस्था को बुद्धिमान निद्रा कहते हैं। किन्तु अज्ञान और उसके कार्य अर्थात् जगत् के नष्ट हो जाने पर मुझ ज्ञानी की अवस्था निद्रा या सुषुप्ति नहीं कहलाती।

बुद्धेः पूर्ण विकासोऽयं जागरः परिकीर्त्यते।
विकारादिविहीनत्वाज्जागरो मे न विद्यते।।६०।।

बुद्धि के पूर्ण विकास की अवस्था को जाग्रत अवस्था कहते हैं। किन्तु चैतन्य स्वरूप ब्रह्म में कोई विकार या दोष नहीं है इसलिये वे जाग्रत अवस्था से परे हैं।

सूक्ष्मनाडिषु संचारो बुद्धेः स्वप्नः प्रजायते।
संचारधर्मरहिते मयि स्वप्नो न विद्यते।।६१।।

सूक्ष्मनाड़ियों में बुद्धि का प्रवेश होने पर स्वप्न दिखते हैं, किन्तु मैं संचार रहित हूँ इसलिये मैं स्वप्न नहीं देखता।

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसाऽऽवृते।
स्वरूपं महदानन्दं भुङ्क्ते दृश्य विवर्जितः।।६२।।

सुषुप्ति या गाढ़ी नींद की अवस्था में मन, बुद्धि आदि सभी इन्द्रियों पर तमोगुण छा जाता है और सभी इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। किन्तु ब्रह्मज्ञानी अपने आत्मस्वरूप के अतिरिक्त संसार के इस दिखने वाले रूप के प्रति उदासीन रहता है इसलिये वह अपने स्वरूप में रहकर आनन्द भोगता है।

अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात्।
स एव साक्षात् विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः।।६३।।

ब्रह्मज्ञानी चैतन्य अनुभूति के कारण सामान्य रूप से या निर्लिप्त भाव से सब कुछ देखता है। ऐसा ज्ञानवान व्यक्ति ही ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। वह शिवस्वरूप है, विष्णु स्वरूप है और ब्रह्मस्वरूप है।

दीर्घस्वप्नमिदं यत्तद्दीर्घं वा चित्तविभ्रमम्।
दीर्घं वापि मनोराज्यं संसारं दुःखसागरम्।
सुप्तेरुत्थाय सुप्त्यन्तं ब्रह्मैकं प्रविचिन्त्यताम्।।६४।।

दुखों का सागर यह जगत लम्बा स्वप्न है या बहुत समय तक रहने वाला चित्त का भ्रम है। अथवा दीर्घ मनोराज्य है या मन की लम्बी-चौड़ी कल्पना है। इसलिये साधक को इस मोहनिद्रा से जागकर और इस मोहनिद्रा का अन्त होने तक ब्रह्म का ही चिन्तन करना चाहिये।

आरोपितस्य जगतः प्रविलापनेन
चित्तं मदात्मकतया परिकल्पितं नः।
शत्रून्निहत्य गुरुषट्कगणान्निपाताद्
गन्धद्विपो भवति केवलमद्वितीयः।।६५।।

जो साधक इस आरोपित जगत् को या काल्पनिक जगत को अपने मन से नष्ट करके अपना मन मुझ में ही लगाता है वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छह शक्तिशाली शत्रुओं को जीतकर मदमस्त हाथी की तरह केवल अद्वितीय आत्मस्वरूप हो जाता है।

अद्यास्तमेतु वपुराशशितारमास्ताम्
कस्तावताऽपि मम चिद्वपुषो विशेषः।
कुम्भे विनश्यति चिरं समवस्थिते वा
कुम्भाम्बरस्य न हि कोऽपि विशेषलेशः।।६६।।

मेरा शरीर चाहे आज नष्ट हो जाय या जबतक चन्द्रमा और तारे हैं तब तक बना रहे। किन्तु इस शरीर में विद्यमान चैतन्य आत्मा को इससे कोई अन्तर उसी प्रकार नहीं पड़ता जैसे घड़ा चाहे जल्दी फूट जाये या वर्षों बाद फूटे इससे उस घड़े में बन्द आकाश के लिये कोई फरक नहीं पड़ता।

अहिनिर्ल्वयिनी सर्पनिर्मोको जीववर्जितः।
वल्मीके पतितस्तिष्ठेत्तं सर्पो नाभिमन्यते।।६७।।

जीवन से रहित साँप की केंचुली साँप की बाम्बी के पास पड़ी रहे या कहीं और किन्तु साँप केंचुली की कोई परवाह नहीं करता।

एवं स्थूलं च सूक्ष्मं च शरीरं नाभिमन्यते।
प्रत्यग्ज्ञानशिखिध्वस्ते मिथ्याज्ञाने सहेतुके।
नेति नेतीति रूपत्वात् अशरीरो भवत्ययम्।।६८।।

आत्मज्ञान की अग्नि से जब मिथ्याज्ञान सम्पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है तब ब्रह्मज्ञानी को अपने स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर की चिन्ता नहीं सताती। तब यह नहीं है, यह नहीं है, इस रूप से अशरीरी अर्थात् देहरहित आत्मा को जाना जाता है।

शास्त्रेण नश्येत् परमार्थ दृष्टिः कार्यक्षमं नश्यति चापरोक्षम्।
प्रारब्धनाशात् प्रतिभाननाशः एवं त्रिधा नश्यति चात्ममाया।।६९।।

ब्रह्म ही सत्य है और ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है इस शास्त्र ज्ञान से माया को ही सत्य मान लेने की भावना नष्ट हो जाती है। इस शास्त्र ज्ञान के अनुभवसिद्ध होने पर साधक अपने इस प्रकृष्ट ज्ञान से कार्य करने में समर्थ व्यावहारिक ज्ञान को नष्ट कर देता है। अब साधक को अपने वास्तविक स्वरूप से अतिरिक्त सब कुछ अवास्तविक लगता है और अपने से सम्बद्ध की भांति लगने वाले उसके संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। ज्ञानी के प्रारब्ध कर्म या जिन कर्मों का फल इस जीवन में मिल रहा है वे तत्काल नष्ट नहीं होते क्योंकि इन कर्मों का भोग प्रारम्भ हो चुका है। दृढ़ अनुभव पर आधारित विज्ञान के सम्यक् ज्ञान बन जाने पर प्रतिभासित ज्ञान या दिखाई देने वाला ज्ञान नष्ट हो जाता है। कर्मों से उत्पन्न और माया के स्थूल अंश से प्रारम्भ हुए कर्म भी नष्ट हो जाते है और माया तीन तरह से नष्ट हो जाती है। अपने स्वरूप से अतिरिक्त अन्य कुछ वास्तविक नहीं है मन की इस भावना से तत्त्वज्ञान होता है। इस तत्त्वज्ञान से ब्रह्म ही आत्ममात्र है यही ज्ञान शेष रह जाता है।

ब्रह्मत्वे योजिते स्वामिञ्जीवभावो न गच्छति।
अद्वैते बोधिते तत्त्वे वासना विनिवर्तते।।७०।।

हे स्वामिन्! केवल शास्त्र पढ़कर ब्रह्म के सम्बन्ध में ज्ञान होने पर शरीर में जीवभाव नष्ट नहीं होता। किन्तु जब अद्वैत का तत्त्वज्ञान अर्थात् 'अहं-ब्रह्मास्मि' और 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' मैं ब्रह्म का ही अंश हूँ और यह सारा संसार ब्रह्ममय है यह तत्वज्ञान मन में घर कर जाता है तब साधक के हृदय से शरीर के प्रति जीव भाव नष्ट हो जाता है।

प्रारब्धान्ते देहहानिर्मायेति क्षीयतेऽखिला।
अस्तीत्युक्ते जगत् सर्वं सद्रसं ब्रह्म तद् भवेत्।।७१।।

प्रारब्ध या कर्मफलों का अन्त होने पर शरीर नष्ट हो जाता है और सारी माया भी समाप्त हो जाती है। अस्ति है, भाति-अच्छा लगता है, प्रिय-आनन्द आता है आदि हमारे जो व्यवहार हैं वे सब आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही

हैं। ज्ञानी के अस्ति कहने पर उसे सम्पूर्ण जगत् में ब्रह्म दिखाई देता है और वह स्वयं सत् स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है।

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंश पञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।।

अस्ति, भाति, और प्रिय ये तीन ब्रह्म के रूप हैं तथा संसार की विभिन्न वस्तुओं और प्राणियों के नाम तथा रूप संसार का व्यवहार चलाने के लिये हैं।

भातीत्युक्ते जगत् सर्वं भानं ब्रह्मैव केवलम्।
मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत्।
जगत् त्रयमिदं सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः।।७२।।

'भाति' या प्रतीत होता है यह कहने पर सारे संसार का ज्ञान होता है। केवल भान स्वरूप ब्रह्म है। तपती धूप में रेगिस्तान की रेत पानी ही पानी दिखाई देती है। इसी प्रकार ये तीनों लोक रेगिस्तान की मृगमरीचिका ही हैं, भ्रममात्र हैं, वास्तविक नहीं हैं। ध्यान पूर्वक विचार करने से पता चलता है कि चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही वास्तविक या सत्य है।

अज्ञानमेव न कुतो जगतः प्रसङ्गो
जीवेशदेशिकविकल्पकथातिदूरे।
एकान्त केवलचिदेकरसस्वभावे-
ब्रह्मैव केवलमहं परिपूर्णमस्मि।।७३।।

इस संसार का अस्तित्व कहीं नहीं है। अज्ञान या भ्रम के कारण ही यह संसार दिखाई दे रहा है। जीव, ईश्वर, गुरु आदि भी काल्पनिक ही हैं। मैं केवल चैतन्य स्वरूप एकरस अर्थात् सदा एक ही रूप में रहने वाला ब्रह्ममात्र और परिपूर्ण स्वरूप हूँ।

बोध चन्द्रमसि पूर्णविग्रहे मोहराहु मुषितात्मतेजसि।
स्नानदानयजनादिकाः क्रिया मोचनावधि वृथैव तिष्ठते।।७४।।

बोध अर्थात् सम्यक् ज्ञान रूपी पूर्ण चन्द्रमा को जब मोहरूपी राहु ग्रस लेता है तब साधक का आत्मतेज चन्द्रग्रहण की भांति छिप जाता है। ग्रहण के समय स्नान, दान और यज्ञ आदि कर्म राहु के ग्रास से चन्द्रमा को

छुड़ाने के लिये किये जाते हैं इसी प्रकार मोह के नष्ट होने तक साधक व्यर्थ परेशान होकर यज्ञ आदि करता रहता है।

समाधि और नादानुसन्धान

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिति कथ्यते।।७५।।

जिस प्रकार नमक पानी में घुलकर सारे पानी को नमकीन कर देता है और पानी तथा नमक मिलकर एक हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा और मन के बीच एकता स्थापित होने पर समाधि लग जाती है।

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना।।७६।।

विषय-भोगों को त्याग देना बड़ा कठिन है। सद्गुरु की कृपा के बिना तत्त्व दर्शन होना बड़ा कठिन है। सहजावस्था अर्थात् समाधि अवस्था भी सद्गुरु की करुणा के बिना नहीं आ सकती।

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रकाशते।।७७।।

शास्त्रज्ञान के साथ-साथ योगाभ्यास की क्रियाओं द्वारा कुण्डली शक्ति जग जाने पर और समस्त सांसारिक कर्मों को पूरी तरह त्याग देने पर सहजावस्था स्वयं आ जाती है।

रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः।
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिध्यति भूतले।।७८।।

पारा और मन स्वभाव से ही चंचल हैं। पारे को और मन को बांध लेने पर पृथिवी पर ऐसा कौन सा काम है जो सफलतापूर्वक न किया जा सके।

मूर्च्छितो हरते व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां धत्ते ब्रह्मत्वं रसचेतसि।।७९।।

विशेष ओषधियों से पारे की चंचलता नष्ट कर देने पर (मूर्च्छित)

पारा रोगों को नष्ट कर देता है। जलाया हुआ या भस्म किया हुआ (मृत) पारा ओंषधियों के साथ सेवन करने से दीर्घायु प्रदान करता है। मूर्च्छित और भस्म किये हुए पारे का सेवन करने से आकाश में पहुँचा जा सकता है। इसी प्रकार प्राणवायु को मूर्च्छित कर देने से अर्थात् कुम्भक प्राणायाम के बाद रेचक न करने से प्राणवायु रोगों को नष्ट कर देता है। ब्रह्मरन्ध्र में लीन (मृत) प्राणवायु अपनी शक्ति से योगी को दीर्घजीवी बना देता है तथा धारणा, ध्यान, समाधि आदि से भ्रूमध्य आदि स्थानों पर प्राणवायु को रोक देने पर योगी आकाश में गति कर सकता है। प्राणवायु का निरोध मन में ब्रह्मरस का संचार कर देता है।

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथ स्तन्नाथं लयमाश्रय।।८०।।

हमारी नाक, कान, आँख आदि इन्द्रियाँ मन के अधीन रहती हैं। मन; प्राणवायु के अधीन रहता है। प्राणवायु; मन के लय के अधीन रहता है इसलिये मन के लय का आश्रय लो।

निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जीवति योगिनाम्।
उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेष चेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि मनसां वागगोचरः।।८१।।

शरीर और मन की चंचलता तथा राग-द्वेष आदि दोष दूर हो जाने पर लयावस्था को प्राप्त योगी का अन्तःकरण सबसे अच्छी अवस्था में होता है।

मन के सारे संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाने पर और शरीर की सभी गतिविधियाँ और क्रिया-कलाप समाप्त हो जाने पर योगी, लय की जिस अवस्था को अनुभव करता है उसको वाणी से नहीं बताया जा सकता।

पुंखानुपुंखविषये क्षणतत्परोऽपि
ब्रह्मावलोकनधियं न जहाति योगी।
संगीत ताललयवाद्यवशं गताऽपि
मौलिस्थ कुम्भ परिरक्षणधीर्नटीव।।८२।।

समाधि में मग्न योगी क्षण भर के लिये किसी छोटे-बड़े पदार्थ में मन लगाने पर भी ब्रह्म साक्षात्कार को उसी प्रकार नहीं छोड़ता जैसे संगीत,

ताल, लय और बाजों की आवाज सुनती हुई नर्तकी अपने सिर पर रखे घड़े को नीचे नहीं गिरने देती।

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता।।८३।।

सभी प्रकार की चिन्ताओं को छोड़कर सावधान मन से अनाहत नाद में ही मन लगाना चाहिये। योग साम्राज्य अर्थात् कैवल्य चाहने वाले योगी को एकाग्र मन से नादानुसन्धान करना चाहिये।

।।द्वितीय अध्याय समाप्त।।

तृतीय अध्याय

न हि नानास्वरूपं स्यादेकं वस्तु कदाचन।
तस्मादखण्ड एवास्मि यन्मदन्यन्न किंचन।।१।।

एक ही वस्तु अनेक रूपों वाली कभी नहीं होती। मैं एकमात्र अखण्ड ही हूँ। मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

दृश्यते श्रूयते यद्यद् ब्रह्मणोऽन्यन्न तद् भवेत्।
नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम्।।२।।

जो कुछ दिखाई दे रहा है या सुनाई दे रहा है वह सब ब्रह्म के सिवाय कुछ नहीं है। मैं नित्य, शुद्ध, विमुक्त, एकमात्र, अखण्ड, आनन्दस्वरूप और अद्वितीय हूँ।

आनन्दरूपोऽहमखण्डबोधः परात्परोऽहं घनचित्प्रकाशः।
मेघा यथा व्योम न च स्पृशन्ति संसार दुःखानि न मां स्पृशन्ति।।३।।

मैं आनन्दस्वरूप, अखण्ड, ज्ञानमय, परात्पर या श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ, पूर्ण चैतन्य और प्रकाशस्वरूप हूँ। जैसे बादल आकाश को नहीं छूते वैसे ही मुझे सांसारिक दुख नहीं छूते।

सर्वं सुखं विद्धि सुदुःखनाशात्
सर्वं च सद्रूपमसत्यनाशात्।

चिद्रूपमेव प्रतिभानयुक्तं
तस्मादखण्डं मम रूपमेतत्।।४।।

दुखों के पूरी तरह नष्ट हो जाने से सब कुछ सुखस्वरूप ही समझो। असत्य का नाश हो जाने से सब कुछ सद् स्वरूप समझो। ज्ञान से युक्त होने के कारण मैं चैतन्य स्वरूप हूँ। इसलिये मेरा यह रूप अखण्ड है।

न हि जनिर्मरणं गमनागमौ न च मलं विमलं न च वेदनम्।
चिन्मयं सकलं हि विराजते स्फुटतरं परमस्य तु योगिनः।।५।।

मेरा जन्म-मरण और इस संसार में आना-जाना नहीं होता। मुझमें कोई दोष नहीं है। मैं शुद्ध स्वरूप हूँ मुझमें कोई दुख नहीं है। मैं चैतन्यस्वरूप सर्वत्र विराजमान हूँ। योगी को यह ज्ञान अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है।

सत्यचिद्घनमखण्डमद्वयं सर्वदृश्यरहितं निरामयम्।
यत्पदं विमलमद्वयं शिवं तत्सदाहमिति मौनमाश्रय।।६।।

जो पद सत्यस्वरूप, पूर्णचैतन्यमय, अखण्ड, अद्वितीय, सभी दृश्यों से रहित, दोष शून्य और प्रकाशमय है वह कल्याणकारी अद्वितीय पद मैं ही हूँ। मेरा यह स्वरूप जानकर मौन होकर मेरा चिन्तन कर।

जन्ममृत्युसुखदुःखवर्जितं जातिनीतिकुलगोत्रदूरगम्।
चिद्विवर्तजगतोऽस्यकारणं तत्सदाहमिति मौनमाश्रय।।७।।

मैं जन्म-मरण, सुख-दुख से परे हूँ। मेरी कोई जाति, नीति, कुल या गोत्र भी नहीं है। इस विवर्तरूप या भ्रान्तिरूप जगत् का कारण मैं चैतन्यस्वरूप ही हूँ। अतः मौन रहो।

पूर्णमद्वयमखण्डचेतनम् विश्वभेदकलनादिवर्जितम्।
अद्वितीयपरसंविदंशकं तत्सदाहमिति मौनमाश्रय।।८।।

मैं पूर्ण, अद्वितीय, अखण्ड, चैतन्ययुक्त, सभी प्रकार की भेद-बुद्धि की कल्पना से रहित, उत्कृष्ट चैतन्य ज्ञान का अंशे ही हूँ यह अनुभूति करके मौन रहकर मेरा चिन्तन कर।

केनाप्यबाधितत्वेन त्रिकालेऽप्येकरूपतः।
विद्यमानत्वमस्त्येतत् सद्रूपत्वं सदा मम।।९।।

मैं किसी भी तत्व के द्वारा नहीं रोका जा सकता। मैं भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों में एकरूप ही रहता हूँ। मेरा सत्स्वरूप सदा विद्यमान रहता है।

निरुपाधिकनित्यं यत् सुप्तौ सर्वसुखात् परम्।
सुखरूपत्वमस्त्येतदानन्दत्वं सदा मम।।१०।।

मैं किसी उपाधि या अवस्था से रहित नित्य स्वरूप हूँ। नींद में जो सुख मिलता है मैं उस सुख से भी कहीं श्रेष्ठ सुख या आनन्दस्वरूप हूँ। मैं सदैव सुखस्वरूप और आनन्दस्वरूप हूँ।

दिनकरकिरणैर्हि शार्वरं तमो निबिडतरं झटिति प्रणाशमेति।
घनतरभवकारणं तमो यद् हरिदिनकृत्प्रभया न चान्तरेण।।११।।

सूर्य की किरणों से रात का गहरा अन्धेरा एकदम नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार प्रभु रूपी सूर्य के प्रकाश से जन्म-मरण के कारण बने अन्धकार का नाश हो जाता है।

मम चरणस्मरणेन पूजया च स्वकतमसः परिमुच्यते हि जन्तुः।
न हि मरणप्रभवप्रणाशहेतु र्मम चरणादृतेऽस्ति किंचित्।।१२।।

मेरे चरणों का श्रद्धा के सहित नित्य स्मरण करने से जीव अपने अज्ञान के अन्धकार से छुटकारा पा जाता है। जन्म-मरण के चक्र से छूटने का उपाय मेरे चरण स्मरण के अतिरिक्त कोई नहीं।

आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया।
तथा चेद् विश्वकर्तारं को न मुच्येत बन्धनात्।।१३।।

धन चाहने वाला व्यक्ति जिस प्रकार धनी पुरुष की आदरपूर्वक स्तुति करता है। इसी प्रकार यदि कोई संसार के रचयिता की स्तुति करे तो प्रत्येक व्यक्ति जन्म-मरण के बन्धन से छूट सकता है।

आदित्यसन्निधौ लोकश्चेष्टते स्वयमेव तु।
तथा मत् संनिधावेव समस्तं चेष्टते जगत्।।१४।।

सूर्योदय होने पर जैसे सभी प्राणी स्वयं काम करने लगते हैं वैसे ही मेरी उपस्थिति के कारण सम्पूर्ण संसार गति कर रहा है।

शुक्तिकायां यथा तारं कल्पितं मायया तथा।
महदादि जगन्मायामयं मय्येव केवलम्।।१५।।

भ्रम या माया के कारण जैसे सीपी को चांदी समझ लिया जाता है वैसे ही महद् आदि अर्थात् प्रकृति, पंच महाभूत और सृष्टि आदि की कल्पना या भ्रम मुझ में ही कर ली जाती है।

चण्डालदेहे पश्वादि स्थावरे ब्रह्मविग्रहे।
अन्येषु तारतम्येन स्थितेषु न तथा ह्यहम्।।१६।।

चाण्डाल के शरीर में, पशुओं में, वृक्ष-वनस्पति आदि स्थिर पदार्थों में और ब्राह्मण के शरीर में ज्ञान जिस प्रकार कम-अधिक होता है उसी प्रकार मैं किसी के शरीर में अधिक और किसी के शरीर में कम मात्रा में विद्यमान नहीं हूँ अपितु सभी शरीरों में समान रूप से व्याप्त हूँ।

विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभाति दिक्।
तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्मे भाति तन्न हि।।१७।।

दिशाओं के ज्ञान का भ्रम दूर हो जाने पर व्यक्ति को दिशाएँ पहिले जैसी दिखाई देने लगती हैं। इसी प्रकार विज्ञान से अर्थात् अध्यात्मज्ञान से जगत् का भ्रम दूर हो जाने पर और मेरे स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर यह संसार पहिले जैसा वास्तविक नहीं लगता।

न देहो नेन्द्रिय प्राणो न मनोबुद्ध्यहंकृति।
न चित्तं नैव माया च न च व्योमदिकं जगत्।।१८।।
न कर्ता नैव भोक्ता च न च भोजयिता तथा।
केवलं चित्सदानन्द ब्रह्मैवाहं जनार्दनः।।१९।।

मैं देहरूप नहीं हूँ। मेरी इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त भी नहीं है। मैं न माया हूँ और न ही माया या आकाश आदि से युक्त संसार। मैं करने वाला, भोग करने वाला या भोग कराने वाला नहीं हूँ। मैं केवल सत्, चित्, आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही हूँ।

मन ही संसार का कारण

जलस्य चञ्चलादेव चञ्चलत्वं यथा रवेः।
तथाऽहंकार सम्बन्धादेव संसार आत्मनः।।२०।।

जिस प्रकार जल में दिखाई देने वाला सूर्य, जल के हिलने पर हिलता हुआ दिखता है उसी प्रकार अहंकार के कारण ही यह संसार हमें वास्तविक लग रहा है।

चित्तमूलं हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
हन्त चित्तमहत्तायां कैषा विश्वासता तव।।२१।।

इस संसार का मूल कारण हमारा चित्त या मन ही है इसलिये अपने मन को ज्ञानवान बनाने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम चित्त को इतना महान और शक्तिशाली मानते हो।

क्व धनानि महीपानां ब्राह्मणः क्व जगन्ति वा।
प्राक्तनानि प्रयातानि गताः सर्ग परम्पराः।।
कोटयो ब्रह्मणां याता भूपा नष्टाः परागवत्।।२२।।

राजा-महाराजाओं की धन-सम्पत्ति आज कहाँ है? वे ब्राह्मण या वह पुराना संसार अब कहाँ है? पुराने राजा-महाराजा, ब्राह्मण और संसार के व्यवहार चले गये फिर भी संसार की यह परम्परा या गति चलती जा रही है। करोड़ों ब्राह्मण और राजा फूलों के पराग की भांति नष्ट हो गये।

स चाध्यात्माभिमानोऽपि विदुषोऽप्यासुरत्वतः।
विदुषाऽप्यासुरश्चेत्स्यान्निष्फलं तत्त्व दर्शनम्।।२३।।

जो व्यक्ति अनात्म पदार्थों में अर्थात् अपने शरीर आदि में ममता आदि का भाव बनाये रखता है वह विद्वान होने पर भी अज्ञानी है क्योंकि शरीर में आत्माभिमान या ममत्व बुद्धि आसुरी काम है। यदि विद्वान भी इस आसुरी वृत्ति को अपनाता है तो उसका तत्त्वज्ञान व्यर्थ ही है।

उत्पद्यमानारागाद्या विवेकज्ञान वह्निना।
यदा तदैव दह्यन्ते कुतस्तेषां प्ररोहणम्।।२४।।

चित्त में उठने वाले राग, मोह आदि विकार जब विवेक ज्ञान की अग्नि से नष्ट हो जाते हैं तब ये विकार मन में फिर नहीं उठते।

यथा सुनिपुणः सम्यक् परदोषेक्षणे रतः।
तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बन्धनात्।।२५।।

बुद्धिमान व्यक्ति जैसे दूसरों के दोष या बुराइयाँ देखता रहता है यदि वह अपनी कमियों या दोषों पर भी उसी प्रकार ध्यान देने लगे तो वह जन्म-मरण के बन्धन से अवश्य छूट जायेगा।

अनात्मविदमुक्तोऽपि सिद्धिजालानि वाञ्छति।
द्रव्यमन्त्र क्रियाकाल युक्त्याप्नोति मुनीश्वर।।२६।।

जिसे आत्मज्ञान नहीं है और इसीलिये वह मुक्त भी नहीं है फिर भी ऐसा व्यक्ति वस्तुओं, मन्त्र-तन्त्र, यज्ञ आदि क्रियाओं और विशेष मुहूर्त्त में विशेष पूजा-पाठ आदि करके सिद्धियाँ पाना चाहता है और इन सिद्धियों के जाल में फंस जाता है।

नात्मज्ञस्यैष विषय आत्मज्ञो ह्यात्ममात्रदृक्।
आत्मनात्मनि संतृप्तो नाविद्यामनुधावति।।२७।।

आत्मज्ञानी पुरुष को सिद्धियों में कोई लगाव नहीं होता। आत्मज्ञानी विद्वान केवल आत्मा का ही ध्यान करता रहता है। आत्मज्ञानी पुरुष आत्मदर्शन में ही मग्न रहता है। वह अज्ञान और अविद्या की ओर नहीं जाता क्योंकि सिद्धियाँ मोक्षमार्ग में बाधा ही पैदा करती हैं।

ये केचन जगद् भावास्तानविद्यामयान्विदुः।
कथं तेषु किलात्मज्ञस्त्यक्ताविद्यो निमज्जति।।२८।।

हमारे मन की सभी सांसारिक भावनाएँ और विचार, अविद्या या अज्ञान से युक्त हैं। जिस व्यक्ति ने अविद्या या अज्ञान को त्याग दिया है और आत्मज्ञानी हो गया है वह इन सांसारिक पचड़ों में कैसे पड़ सकता है?

द्रव्यमन्त्र क्रियाकालयुक्तयः साधुसिद्धिदाः।
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काश्चन।।२९।।

द्रव्य, मन्त्र, क्रिया, काल की विधियों से जल्दी ही सिद्धियाँ मिल जाती हैं किन्तु ये सिद्धियाँ परमात्मपद प्राप्त नहीं करातीं।

सर्वेच्छा कलना शान्तावात्मलाभोदयाभिधः।
स पुनः सिद्धिवाञ्छायां कथमर्हत्यचित्ततः।।३०।।

जिस आत्मज्ञानी की सभी इच्छाएँ और संकल्प-विकल्प शान्त हो

गये हैं और आत्मा का ज्ञान हो गया है वह बिना सोचे-समझे सिद्धियों के झण्झट में फिर क्यों पड़ना चाहेगा।।

।।तृतीय अध्याय समाप्त।।

चतुर्थ अध्याय

अथ ह ऋभुं भगवन्तं निदाघः पप्रच्छ जीवन्मुक्तिलक्षणमनुब्रूहीति।

तथेति स होवाच-

निदाघ ने ऋभु से निवेदन किया: हे भगवान! आप मुझे जीवन्मुक्ति के लक्षण बताने की कृपा कीजिये। ऋभु ने कहा–

सप्तभूमिषु जीवन्मुक्ताश्चत्वारः। शुभेच्छा प्रथमा भूमिका भवति। विचारणा द्वितीया। तनुमानसी तृतीया। सत्त्वापत्तिस्तुरीया। असंसक्तिः पञ्चमी। पदार्थभावना षष्ठी। तुरीयगा सप्तमी।

योग की सात ज्ञान भूमियाँ या विशेष अवस्थाएँ अथवा स्तर होते हैं। स्थूल विषयों में लगी चित्तवृत्ति नीची भूमि होती है। सबसे पहिले इसमें संयम करके फिर सूक्ष्म विषयों में चित्त एकाग्र कर ऊँची भूमि में संयम किया जाता है। एक के बाद एक निम्न भूमियों को जीतकर प्रान्तभूमि में पहुँचा जाता है।

योग की सात ज्ञान भूमियों में से जीवन्मुक्त, चौथी चार ज्ञान भूमियों में होते हैं। इनमें प्रथम ज्ञानभूमि **'शुभेच्छा'** कहलाती है। इसमें मन में विवेक, वैराग्य और शम, दम आदि से मोक्ष के लिये तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है।

जब श्रवण, मनन आदि के अभ्यास से मन परम तत्त्व का विचार करने लगता है तब योगी का मन **'विचारणा'** नाम की दूसरी भूमि में पहुँच जाता है।

मन में सदैव तरह-तरह के विचार या वृत्तियाँ उठती रहती हैं, किन्तु मन एकाग्र करने के परिणाम-स्वरूप मन एकमात्र परम तत्त्व में ही लगने

लगता है तब योगी तीसरी ज्ञानभूमि **'तनुमानसा'** में पहुँचता है। ज्ञान भूमि की यह अवस्था 'निदिध्यासन' अर्थात् ध्यान के अभ्यास से उत्पन्न होती है। ज्ञान की ये तीन भूमियाँ **'साधन भूमि'** कहलाती हैं। इनमें स्थित योगी साधक कहलाता है। इन तीन ज्ञान भूमियों के कारण साधक का मन सात्विक वृत्ति से युक्त हो जाता है और तब शुद्ध सात्विक अन्त:करण में 'मैं ब्रह्म ही हूँ' **(अहं ब्रह्मास्मि)** की भावना वाली प्रत्यक्ष वृत्ति उत्पन्न होती है जो **'सत्वापत्ति'** भूमि कहलाती है। यह चौथी ज्ञानभूमि **'फलभूमि'** है। ज्ञान के इस स्तर पर स्थित योगी **'ब्रह्मवित्'** कहलाता है, क्योंकि उसे ब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। यह **'सम्प्रज्ञात' योग भूमि है।** अगली तीन ज्ञान भूमियाँ **'असम्प्रज्ञात' योग भूमियाँ** हैं। 'सत्वापत्ति' भूमि में पहुँचे योगी को सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु इनमें न फंस कर आगे बढ़ने वाला योगी ज्ञान की पाँचवी भूमि **'असंसक्ति'** में पहुँच जाता है। इस भूमि को प्राप्त योगी समाधि से स्वयं ही उठ सकता है।

इस स्थिति को प्राप्त योगी 'ब्रह्मविद्वर' कहलाता है।

ज्ञानभूमि की छठी अवस्था 'पदार्थ भावना' या 'परार्थभाविनी' कहलाती है। इस अवस्था के आने पर योगी का मन परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी विषय में नहीं लगता।

इस स्थिति को प्राप्त योगी किसी दूसरे व्यक्ति के जगाने पर ही समाधि से बाहर आ पाता है। इस ज्ञानभूमि में पहुँचा हुआ योगी **'ब्रह्मविद् वरीयान्'** कहलाता है।

ज्ञान की सातवीं भूमि **'तुरीयगा'** या **'तुर्यगा'** कहलाती है। इसमें पहुँचा योगी न तो स्वयं समाधि भंग कर सकता है और न ही अन्य व्यक्ति उसे समाधि से बाहर ला सकता है। इस ज्ञानभूमि को प्राप्त योगी **'ब्रह्मविद् वरिष्ठ'** अर्थात् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी कहलाता है।

यह योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। श्रुति में इस स्थिति का वर्णन इन शब्दों में है:–

''आत्मक्रीड आत्मरतिरेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।''

जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त योगी अपने में ही सन्तुष्ट रहता है। उसे किसी से राग या द्वेष नहीं होता।

गीता में इस स्थिति का वर्णन इन शब्दों में है–

आत्मन्येवात्मनातुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।२/५५।।

प्रणवात्मिका भूमिका अकार-उकार-मकार अर्धमात्रात्मिका। स्थूल सूक्ष्म बीज साक्षिभेदेन अकारादयश्चतुर्विधाः। तदवस्था जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तुरीयाः।

प्रणवात्मिका भूमि या ओंकार भूमि अ, उ, म् और आधी मात्रा वाली होती है। स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी के भेद से अकार आदि के चार भेद हैं। इनकी अवस्थाएँ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय हैं।

अकारस्थूलांशे जाग्रत् विश्वः, सूक्ष्मांशे तत्तैजसः,
बीजांशे तत्प्राज्ञः। साक्ष्यंशे तत्तुरीयः।

ओ३म् के अकार या अ अक्षर के स्थूल अंश में जाग्रत् अवस्था विश्व, सूक्ष्म अंश में तैजस अवस्था, बीज अंश में प्राज्ञ अवस्था और साक्षी अंश में तुरीय अवस्था होती है।

उकार स्थूलांशे स्वप्न विश्वः, सूक्ष्मांशे तत्तैजसः, बीजांशे तत्प्राज्ञः, साक्ष्यंशे तत्तुरीयः।

ओ३म् के उकार या 'उ' अक्षर के स्थूल अंश में स्वप्न अवस्था विश्व होती है। सूक्ष्म अंश में तैजस अवस्था, बीजांश में प्राज्ञ अवस्था और साक्षी अंश में तुरीय अवस्था होती है।

अर्धमात्रा स्थूलांशे तुरीय विश्वः, सूक्ष्मांशे तत्तैजसः, बीजांशे तत्प्राज्ञः, साक्ष्यंशे तुरीयतुरीयः।

ओ३म् की आधी मात्रा या हलन्त (्) के स्थूल अंश में तुरीय विश्व, सूक्ष्म अंश में तैजस, बीज अंश में प्राज्ञ और साक्षी अंश में तुरीयतुरीय अवस्थाएँ होती हैं।

अकारतुरीयांशाः प्रथम द्वितीय तृतीय भूमिकाः! उकार तुरीयांशा चतुर्थी भूमिका। मकारतुरीयांशा पञ्चमी। अर्धमात्रा तुरीयांशा षष्ठी। तदतीता सप्तमी।

ओ३म् के अ अक्षर के तुरीय या चौथे अंश में ज्ञान की पहली तीन

भूमियाँ शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसी हैं। 'उ' अक्षर के तुरीय अंश में ज्ञान ही चौथी भूमि सत्त्वापत्ति है। 'म' अक्षर के तुरीय अंश में पाँचवी भूमि असंसक्ति है। ओ३म् की आधी मात्रा या हलन्त के तुरीय अंश में ज्ञान की छठी भूमि परार्थ भाविनी है। तुरीयातीत अवस्था में ज्ञान की सातवीं भूमि तुर्यगा होती है।

भूमित्रयेषु विहरन् मुमुक्षुर्भवति। तुरीय भूम्यां विहरन् ब्रह्मविद् भवति। पञ्चमभूम्यां विहरन् ब्रह्मविद्वरो भवति। षष्ठभूम्यां विहरन् ब्रह्मविद् वरीयान् भवति। सप्तमभूम्यां विहरन् ब्रह्मविद् वरिष्ठो भवति।

ज्ञान की पहली तीन भूमियों में स्थित योगी मुमुक्षु कहलाता है। चौथी भूमि में पहुँचा हुआ योगी ब्रह्मविद् माना जाता है। पाँचवी भूमि में पहुँचकर योगी ब्रह्मविद्वर कहलाता है। छठी भूमि में पहुँच कर योगी ब्रह्मविद् वरीयान् बन जाता है। सातवीं भूमि में पहुँचा हुआ योगी ब्रह्मविद् वरिष्ठ होता है।

तत्रैते श्लोका भवन्ति

सात ज्ञान भूमियों के सम्बन्ध में ये श्लोक हैं–

ज्ञानभूमिः शुभेच्छा स्यात् प्रथमा समुदीरिता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा।।१।।
सत्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्ति नामिका।
पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता।।२।।

पहली ज्ञानभूमि शुभेच्छा कहलाती है। दूसरी भूमि विचारणा, तीसरी भूमि तनुमानसा, चौथी सत्वापत्ति, पाँचवी असंसक्ति, छठी पदार्थभावना और सातवीं ज्ञानभूमि तुर्यगा कहलाती है।

ओ३म् की व्याख्या

माण्डूक्य उपनिषद् में ओंकार का विवेचन किया गया है। संसार में दो तत्व ही मुख्य हैं– शरीर में आत्मा और प्रकृति में परमात्मा या ब्रह्म। इस उपनिषद् में सबसे पहिले ओम् के अ, उ, म् इन तीन अक्षरों में अलग

करके 'अ' को शरीर तथा प्रकृति की जाग्रत् अवस्था, 'उ' को शरीर और प्रकृति की स्वप्नावस्था, 'म्' को शरीर और प्रकृति की सुषुप्तावस्था का नाम दिया गया है। ये तीन अवस्थाएँ आत्मा और ब्रह्म के सगुण रूप हैं, दृश्य रूप हैं, निर्वचनीय रूप हैं, व्यवहार्य रूप हैं। 'अ' से शरीर और प्रकृति का सारा स्थूल-जगत् अभिप्रेत है। शरीर के जो अंग-प्रत्यंग हैं, वे सब अपना-अपना काम तभी करते हैं जब उनमें आत्मा अपना स्थान बना लेता है। प्रकृति में जो संसार दिखता है, उसकी सत्ता, उसमें बढ़ना-घटना, तभी तक है जब उसमें परमात्मा, ब्रह्म या विश्वात्मा स्थान बना लेता है। शरीर में से आत्मा को निकाल दिया जाय, प्रकृति में से परमात्मा को निकाल दिया जाय, तो न शरीर काम-काज करता है और न ही प्रकृति में काम-काज हो सकता है। स्थूल शरीर की जाग्रत अवस्था में यही आत्मा का दर्शन है। स्थूल प्रकृति की जाग्रत अवस्था में यही परमात्मा का दर्शन है।

'उकार' से शरीर तथा प्रकृति का सूक्ष्म-जगत् अभिप्रेत है। शरीर की स्वप्नावस्था में मनुष्य आँखों के बिना देखता, कानों के बिना सुनता और किसी भी अंग-प्रत्यंग के बिना सब कुछ करता है। यह इसीलिये होता है, क्योंकि जब शरीर सो रहा होता है, तब आत्मा जाग रहा होता है, उसी के सम्पर्क से मनुष्य की आँख देखती है, कान सुनते हैं। जिसका प्रमाण स्वप्न में मिल जाता है। शरीर की स्वप्नावस्था में यही आत्मा का दर्शन है। इस समय स्थूल-शरीर काम नहीं कर रहा होता। आत्मा, सूक्ष्म-शरीर से सब काम करता है। जैसे शरीर की स्वप्नावस्था में आत्मा का दर्शन हो जाता है, वैसे ही प्रकृति की स्वप्नावस्था में ब्रह्म का दर्शन भी हो जाता है। जब संसार इस स्थूल रूप में नहीं होता, तब भी परमाणुओं में क्रियाशीलता काम कर रही होती है। उनसे नदी-नाले, पर्वत, सूर्य-चन्द्र बन रहे होते हैं। सृष्टि का यह निर्माण काल न हो तो सृष्टि की स्थूल रचना भी न हो। इस बात को समझ लेना सृष्टि की स्वप्नावस्था में ब्रह्म के दर्शन कर लेना है। सृष्टि की इस अवस्था में ब्रह्म का अस्तित्व रहता है, तभी इस स्थिति को स्वप्न-स्थान कहते हैं।

'मकार' से शरीर तथा प्रकृति का कारण जगत अभिप्रेत है। कारणावस्था में शरीर तथा आत्मा एवं प्रकृति और परमात्मा घुल-मिल से रहे थे। इनमें

एक दूसरे से अलगपना व्यवहार और चिन्तन के रूप में नहीं दिखता था। शरीर ही आत्मा तथा प्रकृति ही परमात्मा बनी हुई थी। परन्तु सुषुप्ति अवस्था में यह सान्निध्य लगभग छूट सा जाता है। सुषुप्ति में आत्मा, शरीर से एकात्मता की अनुभूति को छोड़ देता है और परमात्मा से एकात्मता का अनुभव करने लगता है। शरीर से अलग होने का अनुभव सोकर उठने के बाद होता है। तभी हम कहते हैं– मैं बड़े आनन्द से सोया। यह आनन्द क्या है? सुषुप्ति में जब स्थूल शरीर से सम्बन्ध टूट गया, अंग-प्रत्यंगों ने काम करना छोड़ दिया, स्वप्नावस्था का मानसिक सम्बन्ध छूट गया, तब आनन्द के जिस अनुभव का स्मरण होता है, वह आत्मा के अपने स्वरूप में जाने-अनजाने-भगवान के निकट पहुँच जाने का आनन्द है। ओंकार का 'म्' इस आनन्द का प्रतीक है।

जैसे सुषुप्ति अवस्था में आत्मा, शरीर के साथ होता हुआ भी शरीर से अलग और परमात्मा के पास होता है, वैसे ही प्रकृति की सुषुप्ति अवस्था तब होती है जब ब्रह्म सृष्टि का सूक्ष्म तथा स्थूल रूप में निर्माण तो नहीं कर रहा होता, परन्तु सृष्टि-रचना की योजना उसके ध्यान में होती है। आत्मा की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ हम सब के अनुभव में आती हैं। परमात्मा की इन तीनों स्थितियों का अनुमान हम अपने अनुभव को देखकर करते हैं। ये तीनों स्थितियाँ या अवस्थाएँ व्यवहार्य हैं चिन्त्य हैं, व्यपदेश्य हैं, प्रपञ्चात्मक हैं। इन्हीं तीनों स्थितियों को आत्मा तथा परमात्मा का सगुण ज्ञान कहते हैं।

यहाँ सुषुप्ति अवस्था और समाधि अवस्था के बीच भेद समझना आवश्यक है। सुषुप्ति में आत्मा-परमात्मा का सान्निध्य तो हो जाता है परन्तु अनजाने होता है। समाधि में जो कुछ होता है वह अनजाने न होकर ज्ञानपूर्वक होता है। आत्मा और परमात्मा का सान्निध्य दोनों ही अवस्थाओं में होता है। सुषुप्ति अवस्था से जागने पर आनन्द का जो अनुभव होता है उससे परमात्मा की निकटता का अनुमान होता है किन्तु समाधि में ब्रह्म के साक्षात् सान्निध्य के आनन्द का अनुभव करके उसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

इन तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त आत्मा तथा परमात्मा की निर्गुण स्थिति भी है। इसे ओंकार की अमात्र स्थिति, तुरीय अवस्था या चतुर्थ

स्थिति कहा गया है। वास्तव में आत्मा और परमात्मा का वर्णन या निर्वचन नहीं किया जा सकता, परन्तु उनका निर्वचन तथा व्यपदेश न हो तो उन्हें मानने को कोई तैयार नहीं होता। सब कहते हैं– कहाँ है वह जब दिखता ही नहीं तब कैसे मानें? किन्तु आत्मा न हो तो क्या शरीर रह जाता है? इसी तरह अनुमान करें यदि परमात्मा न हो तो क्या संसार में कुछ रह जाता है? जाग्रत अवस्था में प्रकृति में जो दिखता है वह परमात्मा है। स्वप्न में जो बिना शरीर के काम-काज करता है वह आत्मा है। स्वप्नावस्था में जो सूक्ष्म जगत की रचना कर रहा है वह परमात्मा है। सुषुप्ति अवस्था में जो शरीर से अलग होकर परमात्मा के निकट चला जाता है, वह आत्मा है। जिसके पास आत्मा चला जाता है वह परमात्मा है। परन्तु जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति में जो परमात्मा दिखता है वह परमात्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। आत्मा और परमात्मा का वास्तविक स्वरूप जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था के स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। यथार्थ रूप अमात्र है, निर्गुण है। आत्मा और परमात्मा अपने स्वरूप में अदृश्य है, अव्यवहार्य है, अग्राह्य है। परन्तु यह समझना भूल है कि वे दिखते नहीं इसलिये वे नहीं हैं। वास्तविक वही है जो दिखता नहीं है। जो दिखता है वह न दिखने वालों के सहारे टिका हुआ है। मकान दिखता है परन्तु वह न दिखने वाली नींव पर खड़ा है। इसी बात को माण्डूक्य उपनिषद् में कहा है–

अदृश्यम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम् अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, एकात्मप्रत्ययसारम्, प्रपञ्चोपशमम्, शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम्, चतुर्थं मन्यन्ते सः आत्मा सः विज्ञेयः।

वह अदृश्य है, व्यवहार से बाहर है, ग्रहण में नहीं आ सकता उसे वाणी से नहीं बताया जा सकता। उस समय उसे केवल अपने स्वरूप या आत्मा का भान होता है। उसमें जगत के सारे व्यवहार शान्त हो जाते हैं। वह अविचल, निर्द्वन्द्व, कल्याणमय, अद्वितीय है। ब्रह्म की इस अवस्था को ज्ञान का चौथा रूप माना जाता है। आत्मा का वही ब्रह्म स्वरूप जानना चाहिये। उसका कोई लक्षण या चिह्न नहीं है, वह विचार में नहीं आता।

चतुष्पाद ब्रह्म

पाद संख्या	प्रथम पाद	द्वितीय पाद	तृतीय पाद	चतुर्थ पाद
स्थान	जागरित स्थान	स्वप्न स्थान	सुषुप्त स्थान	तुरीय स्थान
प्रज्ञा	बहि:प्रज्ञ	अन्त:प्रज्ञ	प्रज्ञानघन	नान्तः प्रज्ञः, न बहिः प्रज्ञः, नोभयतः प्रज्ञः, न प्रज्ञानघनः,
अंग	सप्ताङ्ग	सप्ताङ्ग	एकीभूत	न प्रज्ञः, न अप्रज्ञः, अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य,
मुख	१९ मुख	१९ मुख	चेतोमुख	अव्यपदेश्य, प्रपञ्चोपशम,
भोग	स्थूलभुक्	प्रविविक्तभुक्	आनन्दभुक्	एकात्मप्रत्ययसार,
पाद नाम	वैश्वानर	तैजस	प्राज्ञ	शान्त, शिव, अद्वैत

ब्रह्म का प्रथम पाद

जागरित अवस्था वाला, बहिः प्रज्ञावाला, सात अंगों वाला, उन्नीस मुखों वाला, स्थूल भोग वाला, वैश्वानर नामवाला ब्रह्म का पहिला पाद है।

जागरित अवस्था वाला

प्रथम पाद है जागरित अवस्था वाला। जब मनुष्य जागा होता है, तब उसका आत्मा भी जागा रहता है। ऐसे ही जब यह सृष्टि चल रही होती है, तब परमात्मा भी मानो जागा रहता है।

बहिः प्रज्ञावाला

जाग्रदवस्था में जैसे जीवात्मा बहि:प्रज्ञ होता है अर्थात् उसकी बुद्धि

या प्रज्ञा बाहर के कामों में लगी होती है, वैसे ही जागी हुई अवस्था में परमात्मा भी बहिः प्रज्ञ होता है अर्थात् उसकी बुद्धि या प्रज्ञा बाहरी सृष्टि की सब व्यवस्थाओं के संचालन में लगी होती है। सूर्योदय, चन्द्रोदय, ऋतुओं का क्रम से आना-जाना, समुद्र जल से भाप बनना, बादल बनना, वर्षा होना, बीज से वृक्ष बनना, ग्रह-नक्षत्रों का परिचालन और नियन्त्रण करना आदि सृष्टि के सभी कार्यों में परमात्मा लगा रहता है।

सात अंगों वाला

जागृत अवस्था में जीवात्मा के शरीर के सातों अंग कार्य कर रहे होते हैं। हमारे शरीर के सात अंग हैं– मस्तिष्क, आँखें, कान, मुख, फेफड़े, हृदय तथा पैर। जीवात्मा जागते हुए जैसे शरीर के सात अंगों से कार्य करता है वैसे ही परमात्मा भी। यद्यपि परमात्मा निराकार, निरवयव या अंगरहित है फिर भी आलंकारिक रूप में परमात्मा के सात अंगों की कल्पना की गई है। तारामण्डल रूप अग्नि उसका मस्तिष्क है, सूर्य-चन्द्र दो आँखें हैं, दिशाएँ कान हैं। परमात्मा से प्रकट हुए वेद उसकी वाणी हैं। वायु प्राण है। विश्व का अन्तरिक्ष हृदय है, पृथिवी पैर हैं–

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा।।

मुण्डक २/१/४

अथर्व वेद (१०/७) में परमात्मा के अंगों का वर्णन इन शब्दों में किया गया है:–

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।।३२।।
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।।३३।।
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।।३४।।

अथर्व १०/७

भूमि जिसके पैर हैं, अन्तरिक्ष पेट है, द्युलोक मूर्धा या सिर है, सूर्य-चन्द्र आँखें हैं, अग्नि मुख है, वायु प्राण और अपान (फेफड़े) हैं, दिशाएँ ज्ञानवाहिनी नस-नाड़ियाँ हैं।

जागृत अवस्था में जैसे जीवात्मा पैर, पेट, सिर (मस्तिष्क), आँख, मुख, फेफड़ों और ज्ञानवाहिनी नाड़ियों इन सात अंगों से कार्य लेता है, ऐसे ही परमात्मा भी सृष्टि संचालन रूप जागृत अवस्था में चन्द्र-सूर्य, आदि सात अंगों से काम करता है।

उन्नीस मुखों वाला

जागृत अवस्था में आत्मा; शरीर के १९ मुखों या साधनों से दैनिक काम, भोग और अच्छे बुरे कार्य करता है। जीवात्मा के १९ मुख हैं–

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्दियाँ, पाँच प्राण और मन, बुद्धि, चित्त अहंकार ये चार अन्तःकरण (आन्तरिक इन्द्रियाँ)। जीवात्मा, शरीर की आँख-नाक आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों से तरह-तरह का ज्ञान प्राप्त करता है। हाथ-पैर आदि पाँच कर्मेन्द्रियों से आना-जाना आदि अनेक काम करता है। प्राण, अपान, व्यान आदि पाँच प्राण वायुओं से जीवित रहता है। मन से सोचता या मनन करता है। बुद्धि से निश्चय करता है। चित्त से स्मरण करता है और अहंकार से अभिमान करता है कि मैंने वह काम किया है। इसी प्रकार परमात्मा भी शक्तिरूप सूक्ष्म आँखों से देखता है, सूक्ष्म कानों से सुनता है, सूक्ष्म हाथ-पैरों से काम करता है, सूक्ष्म प्राणों से जीवित रहता है। शक्तिरूप अन्तःकरण चतुष्टय से मनन, निश्चय, स्मरण और अभिमान करता है। इन सब इन्द्रियों आदि से रहित होता हुआ भी परमात्मा इन सब इन्द्रियों आदि के गुणों से आभासित या प्रतीत होता रहता है–

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।। श्वेता १.३/१७

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।।

वही ३/१९

स्थूलभुक्

जागृत अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा दोनों स्थूल भुक् होते हैं।

जीवात्मा स्थूल पदार्थों का भोग करने के कारण स्थूल भुक् है। वह अपनी आँख, कान, नाक आदि से स्थूल पदार्थ देखने, सुनने, सूंघने का भोग करता है।

परमात्मा अपनी जागृत अवस्था में अर्थात् सृष्टि-अवस्था में इसलिये स्थूल भुक् है क्योंकि वह स्थूल पदार्थों के पालन में लगा होता है। ब्रह्माण्ड में ग्रह-नक्षत्र, उपग्रह आदि अनेक लोक हैं। इन लोकों में भी नदी, पर्वत, समुद्र, आदि अनेक प्रकार की वस्तुएँ हैं। परमात्मा इन सबका पालन और रक्षा करता है।

वैश्वानर नाम वाला

इस प्रथम पाद का नाम 'वैश्वानर' है। विश्वानर का अर्थ है सबको प्राप्त। यही अर्थ वैश्वानर का भी है। जागृत अवस्था में जैसे जीवात्मा भोग के लिये सब पदार्थों को प्राप्त करता है, वैसे ही परमात्मा सृष्टि के सब पदार्थों को पालन के लिये प्राप्त करता है। सब पदार्थों से सीधा सम्बन्ध जागृत अवस्था में ही होता है, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में नहीं। इसीलिये जागृत अवस्था वाले पाद का नाम वैश्वानर है।

ब्रह्म का द्वितीय पाद

स्वप्न अवस्था वाला, अन्तः प्रज्ञावाला, सात अंगों वाला, उन्नीस मुखों वाला, प्रविविक्त भोगवाला और तैजस नाम वाला ब्रह्म का द्वितीय पाद है।

स्वप्न स्थान वाला

जागृत अवस्था के पहिले पाद की तरह यह द्वितीय पाद स्वप्नावस्था का है। जीवात्मा का शरीर जब सो जाता है तब उसकी स्वप्नावस्था होती है। किन्तु गहरी नींद न होने से आत्मा स्वप्न देखता रहता है। इस अवस्था में शरीर ही सोता है, आत्मा नहीं, यदि आत्मा भी सो जाये तो स्वप्न कैसे ले? जीवात्मा की स्वप्नावस्था के समान परमात्मा की भी स्वप्नावस्था होती है। यह वह अवस्था होती है, जिसमें दीर्घ प्रलयकाल समाप्त होने के बाद

परमात्मा अगली सृष्टि की योजना बनाता है। मानो वह स्वप्न लेता है कि इस प्रकार का जगत बनाऊँगा और परमात्मा इसके साथ ही संसार के कारण जगत प्रकृति में सृष्टि उत्पन्न होने की प्रक्रिया शुरू कर देता है।

अन्तः प्रज्ञावाला

स्वप्नावस्था में आत्मा बहि:प्रज्ञ न होकर अन्त:प्रज्ञ होता है क्योंकि बाह्य जगत से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। स्वप्नावस्था में आत्मा जागृत अवस्था के अनुभवों के बारे में सोच रहा होता है। स्वप्न में वह कभी सुन्दर दृश्य देखता है, कभी स्वादिष्ट पदार्थ खाता है। जागने पर वह देखता है वह सब स्वप्न की माया थी, मन की कल्पना थी, अन्त: प्रज्ञा की उड़ान थी।

ऐसे ही परमात्मा भी अपनी स्वप्नावस्था में अर्थात् सृष्टि रचना की अवस्था में अपनी मानसिक कल्पनाओं में लगा होता है। वह सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पर्वत, पृथ्वी, वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी, ऋतुओं आदि की कल्पना करता है।

इस अवस्था में परमात्मा अन्त:प्रज्ञ होता है, क्योंकि तब बाह्य जगत नहीं होता। स्वप्नावस्था में आत्मा और परमात्मा दोनों ही यद्यपि अन्त:प्रज्ञ होते हैं तथापि अन्तर यह है कि जीव के स्वप्न तो अवास्तविक होते हैं किन्तु परमात्मा के स्वप्न वास्तविक, यथार्थ होते हैं।

सात अंगों वाला

जीवात्मा जैसे जागृत अवस्था में सप्ताङ्ग होता है वैसे ही स्वप्नावस्था में भी सात अंगों वाला होता है। स्वप्न में उसके शरीर के सातों अंग मन में रहकर कार्य करते हैं। ऐसे ही परमात्मा भी अपनी स्वप्नावस्था में अर्थात् नयी सृष्टि की योजना बनाते समय सप्ताङ्ग रहता है। प्रथम पाद में परमात्मा के जो सात अंग मुण्डक उपनिषद् और अथर्व वेद के अनुसार बताये थे, वे सृष्टि की सर्जनोन्मुख स्थिति में केवल उसकी कल्पना में होते हैं, साकार रूप में नहीं। उसके भूमिरूप पैर, अन्तरिक्षरूप पेट, द्युलोकरूपी सिर आदि उसके विचारों या मन में होते हैं।

उन्नीस मुखों वाला

जीवात्मा जागृत अवस्था की तरह स्वप्नावस्था में भी १९ मुखों से युक्त रहता है। उसकी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों प्राण और मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार ये चार अन्तःकरण या आन्तरिक इन्द्रियाँ सूक्ष्मरूप में जीवात्मा के साथ रहकर कार्य कर रहे होते हैं। यदि ज्ञानेन्द्रियाँ साथ न हों तो जीवात्मा को देखने, सुनने के स्वप्न नहीं आयेंगे। कर्मेन्द्रियाँ साथ न हो तो स्वप्न में चलने-फिरने, लेने-देने का अनुभव जीवात्मा को नहीं होगा। प्राण साथ न हों तो श्वास-प्रश्वास आदि नहीं कर सकेगा। चारों अन्तःकरण साथ न हों तो स्वप्न में जीवात्मा सोचना-विचारना, निश्चय आदि नहीं कर सकेगा।

इसी प्रकार परमात्मा की जागृत अवस्था की भांति ही स्वप्नावस्था में अर्थात् सृष्टि रचना की अवस्था में उन्नीस मुख शक्ति के रूप में परमात्मा के साथ रहते हैं। कल्पना में बनाये हुए जगत को वह शक्तिरूप आँखों से देख रहा होता है। कल्पना में साकार हुए रस को वह शक्तिरूप जीभ से चख रहा होता है। हाथ-पैर आदि की शक्ति से वह जगत रचना भी कर रहा होता है।

ऋग्वेद (१०/८१/३) में कहा भी है–

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।

सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।। १०/८१/३

अर्थात् विश्वकर्मा परमात्मा को जब प्रकृति में से द्यावा पृथिवी की रचना करनी होती है तब चारों ओर उसकी आँखें होती हैं। चारों ओर मुख होते हैं। चारों ओर भुजाएँ होती हैं। चारों ओर पैर होते हैं। वह अपनी भुजाओं से प्रकृति को गूंद रहा होता है। पैरों से प्रकृति को रौंद कर गारा बनाता है। सृष्टि रचना का यह काव्यमय वर्णन है। **प्रविविक्त भोग वाला** स्वप्नावस्था में जीवात्मा प्रविविक्तभुक् अर्थात् सूक्ष्म भोग वाला होता है, क्योंकि तब वह स्थूल जगत का नहीं अपितु सूक्ष्म जगत का भोग कर रहा होता है। यहाँ सूक्ष्म जगत से तात्पर्य मानसिक या काल्पनिक जगत का है।

ऐसे ही परमात्मा भी अपनी स्वप्नावस्था में अर्थात् नयी सृष्टि की योजना बनाते समय तथा प्रकृति के गर्भ से जगत को उत्पन्न करते समय सूक्ष्म जगत, अर्थात् कल्पना पर निर्भर जगत या कारण-जगत का पालन कर रहा होता है। विचार में भावी जगत का पालन करने का अभिप्राय है कि जब तक जगत बन नहीं जाता तब तक भावी सृष्टि को अपनी कल्पना में निरन्तर स्थिर रखना। **तैजस नाम वाला** जैसे प्रथम पाद का नाम वैश्वानर है वैसे इस द्वितीय पाद का नाम तैजस है। प्रलयावस्था में प्रकृति, सत्व-रजस्-तमस् गुणों की साम्यावस्था में होती है। उसमें परमात्मा जब गति या तेज का सूत्रपात करता है, तब प्रकृति के तत्वों में या गुणों में साम्यावस्था से विषम अवस्था आ जाती है और प्रकृति में सृष्टि रचना की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। परमात्मा का विचार भी तैजस कोटि में आता है। प्रकृति सर्जनोन्मुख होकर सबसे पहिले पदार्थ हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करती है। यह हिरण्यगर्भ भी तैजस होता है, इसीलिये द्वितीय पाद का नाम तैजस रखा गया है।

ब्रह्म का तृतीय पाद

जिसमें सोया हुआ मनुष्य कोई कामना नहीं करता है, न कोई स्वप्न देखता है, वह सुषुप्तावस्था होती है। सुषुप्ति अवस्था वाला एकीभूत, प्रज्ञानघन, आनन्दमय, आनन्दभुक्, चेतोमुख, प्राज्ञ नाम वाला ब्रह्म का तीसरा पाद है।

सुषुप्त स्थान वाला

ब्रह्म का तृतीय पाद सुषुप्ति की अवस्था से सम्बद्ध है। सुषुप्ति या गहरी नींद में आत्मा न कुछ कामना करता है, न स्वप्न देखता है। जीवात्मा चिन्ता, विचार, इच्छा, वासना, स्वप्न आदि सभी कुछ छोड़कर गहरी नींद में सोता है।

परमात्मा की सुषुप्त अवस्था जगत की प्रलय की अवस्था है। जागृत अवस्था में परमात्मा सृष्टि के संचालन में लगा रहता है। स्वप्नावस्था में

सृष्टि रचना का स्वप्न ले रहा होता है, किन्तु सुषुप्तावस्था में अर्थात् प्रलयावस्था में वह लम्बी अवधि तक निश्चिन्त रहता है। यद्यपि प्रलयावस्था का संचालन भी एक कार्य है, तथापि यह कार्य स्वयं होता रहता है जैसे सुषुप्ति अवस्था में शरीर के बहुत से कार्य श्वास-प्रश्वास, रक्त संचालन, मूत्र संस्थान आदि के कार्य अपने आप होते रहते हैं।

प्रज्ञानघन

जागृत तथा स्वप्न अवस्थाओं में जीवात्मा और परमात्मा क्रमशः बहि:प्रज्ञ और अन्त:प्रज्ञ थे, परन्तु सुषुप्तावस्था में जैसे जीवात्मा प्रज्ञानघन होता है, वैसे ही परमात्मा भी प्रज्ञानघन होता है। यदि ज्ञान को ठोस रूप में घना कर दिया जाय तो यह स्थिति प्रज्ञानघन होती है। गहरी नींद में जीवात्मा को अलग-अलग पदार्थों का ज्ञान नहीं होता अपितु घने रूप में ज्ञान होता है। सुषुप्ति, अज्ञान की अवस्था नहीं है, अपितु घन हुए या सम्पिण्डित हुए ज्ञान की अवस्था है। इसी प्रकार प्रलयावस्था में पृथक्-पृथक् पदार्थों की स्थिति नहीं होती, न उनका खाका मन के विचार में होता है। परमात्मा प्रलयावस्था में पदार्थों को अलग-अलग रूप में नहीं देखता और न ही मन में इनकी योजना बनाता है। उस समय परमात्मा की सम्पिण्डित या घनीभूत ज्ञान की अवस्था होती है अत: वह प्रज्ञानघन कहलाता है।

एकीभूत

जाटत और अवस्थाओं में जीवात्मा और परमात्मा दोनों सप्तांग थे, परन्तु सुषुप्ति की या गहरी नींद की अवस्था में सातों अंग नहीं रहते। सुषुप्ति में जीवात्मा के मस्तिष्क, आँख, कान, मुख, फेफड़े, हृदय, पैर ये सातों अंग चेष्टा रहित हो जाते हैं। हृदय और फेफड़े यद्यपि कार्य करते रहते हैं, किन्तु इनकी क्रिया स्वयं होती रहती है। आत्मा को इन क्रियाओं का बोध या ज्ञान नहीं होता। शरीर के सातों अंग आत्मा में एकीभूत या इकट्ठे हो जाते हैं। इसी प्रकार परमात्मा भी अपनी सुषुप्तावस्था में या प्रलयावस्था में एकीभूत होता है। परमात्मा के जागृत और स्वप्न अवस्था के सातों अंग

न सत्ता में होते हैं न विचार में। तब परमात्मा और प्रकृति एकीभूत रहते हैं अतः इस पाद को एकीभूत कहा गया है।

चेतोमुख

जागृत और स्वप्न अवस्थाओं में आत्मा और परमात्मा दोनों ही उन्नीस मुखों वाले थे, परन्तु सुषुप्तावस्था में उनके ये उन्नीस मुख या साधन नहीं रहते। चेतस् या चेतना रूप मुख (साधन) ही जीवात्मा और परमात्मा के पास रहता है। अन्य उन्नीस मुख जीवात्मा और परमात्मा में ही समाये रहते हैं। उनकी अलग से स्थिति नहीं होती। वे विचार में भी नहीं रहते अतः इस पाद को या इस पाद के जीवात्मा और परमात्मा को चेतोमुख कहा गया है।

आनन्दमय, आनन्दभुक्

जागृत और स्वप्न अवस्थाओं में जीवात्मा आनन्दमय नहीं होता। जागते हुए वह अनेक कामों में व्यस्त रहने के कारण उन कार्यों में ही मग्न रहता है यदि उसे आनन्द आता भी है तो वह आनन्द सांसारिक और साधारण कोटि का ही होता है। स्वप्नावस्था में भी अनेक स्वप्नों में लीन रहने के कारण वह स्वप्न के बनावटी सुख को अनुभव करता है। किन्तु सुषुप्तावस्था की गहरी नींद में जीवात्मा आनन्द ही आनन्द में रहता है। आनन्दमय होता है और आनन्द का भोग भी करता है। इस आनन्द को वह गहरी नींद से उठने के बाद इस प्रकार प्रकट करता है 'आज बड़ा आनन्द आया, आज बहुत सुख की नींद सोया।' ऐसे ही परमात्मा भी जागृत अवस्था में सृष्टि संचालन में लगा रहने के कारण और स्वप्नावस्था में सृष्टिरचना की कल्पना में व्यस्त रहने से आनन्द की ओर ध्यान नहीं देता। सृष्टि की प्रलयावस्था में परमात्मा का पूर्ण आनन्दमय स्वरूप अभिव्यक्त होता है और वह आनन्द का भोग या अनुभव भी करता है।

प्राज्ञ नाम वाला

पहिले दो पादों का नाम क्रमशः वैश्वानर और तैजस था। सुषुप्ति

अवस्था के इस तीसरे पाद का नाम प्राज्ञ है, क्योंकि इस अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा न जागृत अवस्था के समान बहि:प्रज्ञ होते हैं, न स्वप्नावस्था के समान अन्त:प्रज्ञ, किन्तु प्रज्ञानघन होते हैं।

यही सर्वेश्वर है

सुषुप्ति अवस्था वाले प्राज्ञ पाद में वर्णित यह परमात्मा ही सबका ईश्वर है, सर्वज्ञ है, सर्वान्तर्यामी है, सब जगत का कारण है, सब प्राणियों की उत्पत्ति और विनाश करने वाला है।

यहाँ शंका हो सकती है कि तीनों पादों में वर्णित तीनों अवस्थाएँ एक परमात्मा की ही हैं, फिर इस प्राज्ञ पाद वाले परमात्मा को सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी आदि क्यों कहा गया है?

इस शंका के समाधान में यही कहा जाता है कि परमात्मा का प्राज्ञ पाद से सूचित रूप ही मूलरूप है। जागृत अवस्था वाले वैश्वानर पाद का परमात्मा सृष्टि का संचालन करने वाला ही है, परन्तु प्राज्ञ पाद में वर्णित परमात्मा किसी एक काम में बंधा हुआ नहीं है।

जैसे परमात्मा के विभिन्न रूप बतलाये गये हैं वैसे ही मनुष्य के भी विभिन्न रूप होते हैं। एक ही मनुष्य किसी का पिता, किसी का पति, किसी का भाई आदि होता है किन्तु प्रत्येक क्षेत्र से विशिष्ट मनुष्य उसी एक-एक क्षेत्र तक सीमित रहता है। उस मनुष्य में यदि इन सब सम्बन्धों की विशेषता बतानी होती है, तब उस मनुष्य का नाम लेकर ही कहेंगे कि वह इन सब का भाई, पिता, पति आदि सम्बन्धों या कार्यों का करने वाला है। यही बात परमात्मा के लिये भी लागू होती है। तीसरे पाद में वर्णित परमात्मा का रूप मूलरूप है। अत: उसी को सर्वेश्वर, सर्वज्ञ आदि कहा गया है। अगले चतुर्थ पाद के परमात्मा को सर्वेश्वर, सर्वज्ञ आदि इसीलिये नहीं कहा गया है क्योंकि वह जगत से संम्बद्ध न होकर जगत से अतीत या परे है।

ब्रह्म का चतुर्थ पाद

तीन पादों में परमात्मा के जो रूप बताये गये हैं उन सबमें 'न' लगा दें तो वह ओंकार के चौथे पाद से सूचित परमात्मा हो जाता है।

न अन्त:प्रज्ञ है, न बहि:प्रज्ञ है, न अन्त:-बहि: प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है। वह अदृष्ट है, अव्यवहार्य है, अग्राह्य है, अलक्षण है, अचिन्त्य है, अव्यपदेश्य है। एकात्मप्रत्ययसार है, प्रपञ्चोपशम है, शान्त है, शिव है, अद्वैत है। उसे चतुर्थ कहते हैं, वह सबका आत्मा (परम आत्मा) है। वही जानने योग्य है।

ओंकार या परमात्मा का चौथा पाद जगत-प्रपञ्च से परे की वस्तु है। उसमें परमात्मा के वास्तविक स्वरूप की झांकी मिलती है। श्रुति कहती है कि– 'जगत्-प्रपञ्च' में ब्रह्म का जो रूप दिखाई पड़ता है, वह तो उसका केवल चौथाई भाग है। उसी चौथे भाग से वह जड़-चेतन जगत में व्याप्त है। उसका शेष तीन चौथाई भाग जगत-प्रपञ्च से ऊपर है–

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि।।

ऋग् १०/९०/४

जगत प्रपञ्च से ऊपर वही तीन चौथाई भाग ओंकार के चौथे पाद से सूचित होता है। वह अवर्णनीय है। नेति, नेति कहकर विराम कर लेना पड़ता है। वह अदृष्ट है, इन आँखों से उसे किसी ने नहीं देखा है। वह अव्यवहार्य है, उसके विषय में कुछ नहीं बताया जा सकता कि वह ऐसा है, या वैसा है। वह अग्राह्य है, किसी बाह्य इन्द्रिय या अन्त:करण अर्थात् मन, बुद्धि, प्राण आदि से उसे ग्रहण या अनुभव नहीं किया जा सकता। वह अलक्षण है उसकी कोई पहिचान या निशानी नहीं है। वह अचिन्त्य है, उसका पूरी तरह चिन्तन नहीं किया जा सकता। वह अव्यपदेश्य है, किसी नाम से उसका निर्देश नहीं हो सकता। हाँ योगी उसका अनुभव तो कर सकते हैं। वे एकात्मप्रत्ययसार के रूप में उसकी अनुभूति पाते हैं। उन्हें 'एक परम आत्मा का प्रत्यक्ष बोध होता है' यही उसकी सत्ता का प्रमाण है। वहाँ जगत्प्रपञ्च का उपशम हो जाता है। वह जगत का उत्पादक, संचालक, धारक, संहारक आदि है, ऐसी कुछ प्रतीति नहीं होती। वह शान्त है, उपासक को भी उसके सान्निध्य से शान्ति मिलती है। वह शिव है, मंगलमय है, कल्याणकारी है। वह अद्वैत है, उसके सामीप्य में, उसमें रमकर, उसमें

घुल-मिलकर साधक को द्वैत होते हुए भी अद्वैत की प्रतीति होती है। प्रभु और मैं एक हो गये हैं ऐसा लगता है। वही सच्चा आत्मा है, परम आत्मा है, परब्रह्म है। उसी को जानना चाहिये, उसी का अनुभव करना चाहिये। यही ओंकार का चतुर्थ पाद है, परब्रह्म का चतुर्थ पाद है।

शुभेच्छा

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्योऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः।।३।।

वैराग्य होने से पहिले जब साधक के मन में यह इच्छा पैदा होती है कि क्या मैं मूर्ख ही रहूँगा? मुझे वेद-शास्त्र पढ़ने चाहियें और सत्पुरुषों का संग करना चाहिये। वैराग्य से पहिली इस इच्छा को विद्वान शुभेच्छा कहते हैं।

विचारणा

शास्त्रसज्जनसम्पर्क वैराग्याभ्यास पूर्वकम्।
सदाचार प्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा।।४।।

शास्त्रों के अध्ययन, सत्संग, वैराग्य और श्रवण, मनन आदि के अभ्यास से मन में सदाचरण करने की प्रवृत्ति को विचारणा कहते हैं।

तनुमानसी

विचारणा शुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी।।५।।

शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से जब विषय-भोगों की ओर से आँख, कान आदि इन्द्रियों का लगाव घटने लगता है यह स्थिति तनुमानसा कहलाती है। मन में सदैव तरह-तरह के विचार या वृत्तियाँ उठती रहती हैं। मन एकाग्र करने के परिणामस्वरूप मन एकमात्र परम तत्व में ही लगने लगता है तब योगी तीसरी ज्ञानभूमि तनुमानसा में पहुँच जाता है। यह अवस्था 'निदिध्यासन' या ध्यान के अभ्यास से उत्पन्न होती है।

सत्त्वापत्ति

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थविरतेर्वशात्।
सत्वात्मनि स्थितेशुद्धे सत्वापत्तिरुदाहृता।।६।।

शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा इन तीन ज्ञान-भूमियों में अभ्यास करने से मन में सांसारिक वस्तुओं की ओर झुकाव समाप्त हो जाता है और वैराग्य की भावना जगने लगती है। इस स्थिति में मन सात्विक वृत्ति से युक्त हो जाता है और शुद्ध हो जाता है। इस अवस्था को सत्वापत्ति कहते हैं। इस अवस्था में शुद्ध सात्विक अन्त:करण में मैं ही ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि) की भावना वाली प्रत्यक्ष वृत्ति उत्पन्न होती है।

सात ज्ञान भूमियों में से शुभेच्छा, विचारण और तनुमानसा ये तीन ज्ञानभूमियाँ 'साधन भूमि' कहलाती हैं। इनमें स्थित योगी साधक कहलाता है। सत्वापत्ति नाम की चौथी ज्ञान भूमि 'फलभूमि' है। ज्ञान के इस स्तर पर स्थित योगी 'ब्रह्मवित्' कहलाता है। क्योंकि उसे ब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। यह सम्प्रज्ञात योग भूमि है। अगली तीन ज्ञानभूमियाँ असम्प्रज्ञात योग भूमियाँ हैं।

असंसक्ति

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफला तु या।
रूढसत्वचमत्कारा प्रोक्तासंसक्ति नामिका।।७।।

इन चार ज्ञान भूमियों के अभ्यास से अन्त:करण सात्विक प्रकाश से परिपूर्ण हो जाता है और संसारिक तथा पारलौकिक विषय-भोगों के प्रति लगाव समाप्त हो जाता है। ज्ञान की यह भूमि असंसक्ति कहलाती है।

सत्वापत्ति भूमि में पहुँचे योगी को सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं किन्तु इनमें न फंसकर आगे बढ़ने वाला योगी पाँचवी ज्ञान भूमि असंसक्ति में पहुँच जाता है।

इस भूमि को प्राप्त योगी समाधि से स्वयं ही उठ सकता है। इस स्थिति को प्राप्त योगी 'ब्रह्मविद्वर' कहलाता है।

पदार्थ भावना

भूमिका पञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया भृशम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्।।८।।
परप्रयुक्तेन चिरं प्रत्ययेनावबोधनम्।
पदार्थ भावना नाम षष्ठी भवति भूमिका।।९।।

पाँच ज्ञानभूमियों के अभ्यास के परिणामस्वरूप योगी अधिकांश समय आत्मचिन्तन में ही रमा रहता है। उसका मन परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी विषय में नहीं लगता। वह आन्तरिक और बाह्य वस्तुओं के बारे में कभी सोचता ही नहीं। ज्ञानभूमि की यह छठी अवस्था 'पदार्थ भावना' या परार्थभाविनी कहलाती है। इस स्थिति को प्राप्त योगी किसी दूसरे व्यक्ति के जगाने पर ही समाधि से बाहर आ पाता है। इस ज्ञानभूमि में पहुँचा हुआ योगी ब्रह्मविद् वरीयान् कहलाता है।

तुर्यगा

षड्भूमिका चिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भनात्।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः।।१०।।

ज्ञान की छह भूमियों के अभ्यास से योगी के मन में भेद बुद्धि समाप्त हो जाती है और वह अपने स्वभाव या स्वरूप में ही स्थित रहता है। योगी की यह ज्ञान स्थिति तुर्यगा कहलाती है। इसमें पहुँचा योगी न तो स्वयं समाधि भंग कर सकता है और न ही कोई अन्य व्यक्ति उसे समाधि से बाहर ला सकता है। इस ज्ञानभूमि को प्राप्त योगी 'ब्रह्मविद् वरिष्ठ' अर्थात् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी कहलाता है। यह योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। श्रुति में इस स्थिति का वर्णन **'आत्मक्रीड आत्मरतिरेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'** इन शब्दों में है। अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त योगी अपने में ही सन्तुष्ट रहता है, उसे किसी से राग-द्वेष नहीं होता। गीता में इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार है–

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। गीता २/५५

शुभेच्छादि त्रयं भूमि भेदाभेदयुतं स्मृतम्।
यथावद्वेद बुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते।।११।।

शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा इन तीन ज्ञान भूमियों में संसार और ब्रह्म के बीच भेद भी लगता है और अभेद भी प्रतीत होता है। साधक को एकाग्रचित्त के समय इस जगत की वास्तविक स्थिति का भान होता है अर्थात् यह जगत ब्रह्म से अलग नहीं है या जगत और ब्रह्म के बीच कोई भेद नहीं है किन्तु जाग्रत अवस्था में अर्थात् लोक व्यवहार के समय उसे जगत और ब्रह्म के बीच भेद प्रतीत होता है।

अद्वैत स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं तुर्यभूमिसुयोगतः।।१२।।

योग की सात ज्ञान भूमियों में से पहली तीन शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा 'साधन भूमि' कहलाती हैं। 'तनुमानसा' ज्ञानभूमि निदिध्यासन अर्थात् ध्यान के अभ्यास से उत्पन्न होती है। इन तीन ज्ञान भूमियों के कारण साधक का मन सात्विक वृत्ति से युक्त हो जाता है और तब शुद्ध सात्विक अन्तःकरण में 'मैं ही ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि) की भावना वाली प्रत्यक्ष वृत्ति उत्पन्न होती है जो सत्वापत्ति भूमि कहलाती है। सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थ भाविनी और तुर्यगा इन चार ज्ञान भूमियों में योगी के मन से भेद-अभेद की भावना पूरी तरह समाप्त हो जाती है या द्वैत बुद्धि नष्ट हो जाती है तथा अद्वैत बुद्धि स्थिर हो जाती है और **तत् त्वमसि, अयमात्माब्रह्म** तथा **सर्वं खलु इदं** ब्रह्म की अद्वैत भावना सदा बनी रहती है। इस अवस्था में योगी को यह जगत् स्वप्न की भांति अवास्तविक या मायामय लगता है।

विच्छिन्नशरदभ्रांश विलयं प्रविलीयते।
सत्वावशेष एवास्ते हे निदाघ दृढीकुरु।।१३।।

शरद ऋतु के बिखरे बादल जैसे आकाश से लुप्त हो जाते हैं वैसे ही योगी के सारे संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं और उसका अन्तःकरण सात्विक वृत्ति से ही सदा युक्त रहता है। हे निदाघ! तुम भी अपने अन्तःकरण में सात्विक वृत्ति को ही स्थिर करो।

पञ्चभूमिं समारुह्य सुषुप्तिपदनामिकाम्।
शान्ताशेषविशेषांश स्तिष्ठत्यैद्वैतमात्रके।।१४।।
अन्तर्मुखतया नित्यं बहिवृत्तिपरोऽपि सन्।
परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते।।१५।।

असंसक्ति नाम की पाँचवी ज्ञानभूमि को सुषुप्ति ज्ञानभूमि भी कहते हैं। इस ज्ञान भूमि में पहुँचे हुए योगी के चित्त में केवल अद्वैत की भावना बनी रहती है अन्य सारी सांसारिक और पारलौकिक वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। सात्विक वृत्ति से परिपूर्ण अन्तःकरण के कारण योगी संसार के कामों में लगा हुआ भी निरन्तर अन्तर्मुख रहता है। संसार और अपने शरीर के आवश्यक काम करने के कारण उसका सात्विक मन थक सा जाता है और वह सांसारिक कामों से उकता कर निद्रालु जैसा दिखता है।

कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूम्यां सम्यग्विवासनः।
सप्तमी गाढसुप्ताख्या क्रमप्राप्ता पुरातनी।।१६।।

ज्ञान की छठी भूमि पदार्थभाविनी के आने पर योगी का मन परब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य विषय में नहीं लगता। असंसक्ति और पदार्थभाविनी भूमियों में अभ्यास करते-करते योगी का मन सभी प्रकार की वासनाओं से पूरी तरह शून्य हो जाता है और वह गाढसुप्ति अर्थात् गहरी समाधि वाली सातवीं ज्ञानभूमि में पहुँच जाता है। इस ज्ञानभूमि में पहुँचा हुआ योगी न तो स्वयं समाधि भंग कर सकता है और न ही अन्य कोई व्यक्ति उसे समाधि से बाहर ला सकता है। ज्ञान की सातवीं भूमि को 'तुर्यगा' या पुरातनी कहा जाता है।

यत्र नासन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः।
केवलं क्षीणमनन आस्तेऽद्वैतेऽतिनिर्भयः।।१७।।

इस ज्ञानभूमि में योगी की न तो सत् अवस्था होती है और न ही असत् अवस्था। उसमें अहम्भाव भी नहीं रहता और न ही अहंकार का अभाव रहता है। उसका मन सभी प्रकार की वासनाओं से क्षीण रहता है और वह निर्भय मन से अद्वैत भाव में मग्न रहता है।

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे।।१८।।

इस श्लोक में समाधि में लीन योगी की स्थिति का वर्णन है। जैसे खुले आकाश के नीचे रखा हुआ घड़ा अन्दर से और बाहर से खाली होता है वैसे ही समाधि में लीन योगी के अन्तःकरण में ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई वृत्ति बची नहीं रहती। ऐसे योगी को अपने से बाहर भी ब्रह्म की अनुभूति या साक्षात् के सिवाय और किसी सांसारिक पदार्थ का भान नहीं होता, इसलिये उसका अन्तःकरण और बहिरिन्द्रियाँ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों से रहित या शून्य होती हैं। समुद्र में डूबा हुआ घड़ा अन्दर और बाहर जल से परिपूर्ण होता है उसी प्रकार समाधिस्थ योगी का अन्तःकरण और बाह्येन्द्रियाँ ब्रह्मभाव की अनुभूति से परिपूर्ण हो जाती हैं। समाधि में लीन योगी को ब्रह्म की सत्ता के सिवाय किसी अन्य पदार्थ या शक्ति का ज्ञान अथवा अनुभूति नहीं होती।

मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव।।१९।।

साधक को ग्रहण या ग्राहक भाव वाला अर्थात् इन्द्रियों की विषयाभिमुखी वृत्ति वाला नहीं होना चाहिये। उसे ग्राह्य भाव या ग्राह्य वृत्ति वाला अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल भूत आदि पदार्थों की ओर भी ध्यान नहीं देना चाहिये। इस प्रकार चित्त की सभी प्रकार की वृत्तियों को त्याग कर मन में जो वृत्ति बची रहे उसमें तन्मय या तल्लीन रहना चाहिये। चित्तवृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर चेतन तत्व; चित्त में सदा के लिये स्थिर हो जाता है। चित्त की विक्षेप अवस्था में चित्तवृत्तियाँ विषयों में फंसी रहती हैं और चंचल बनी रहती हैं। जल में लहरें उठने के कारण जैसे चन्द्रमा का असली प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता वैसे ही चित्तवृत्तियों के चंचल रहने के कारण चेतन तत्त्व भी चित्त में भासित नहीं होता।

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह।
दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भज।।२०।।

दृष्ट अर्थात् स्त्री, धन, अन्न-पान आदि भोग, दर्शन या देखने योग्य पदार्थ और दृश्य अर्थात् सत्व, रज, तम प्रकृति के इन तीन गुणों से बने

सारे संसार को वासना सहित छोड़कर एकाग्र चित्त में जिसका सबसे पहिले आभास होता है केवल उसी आत्म तत्व का चिन्तन करो।

जीवन्मुक्त

यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च।
अस्तङ्गतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते।।२१।।

जो योगी संसार के व्यवहार करता है किन्तु इन सांसारिक कामों को करते समय उसके मन की अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं आता और जिसका व्योम अर्थात् हृदयाकाश सभी विचारों से रहित हो गया है या अस्त हो गया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

नोदेति नास्तमायाति सुखे दुःखे मनःप्रभा।
यथाप्राप्त स्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते।।२२।।

जीवन में सुख या दुख आने पर जिसका मन न प्रसन्न होता है और न ही व्यथित होता है तथा जो अपनी वर्तमान स्थिति में सन्तुष्ट रहता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते।।२३।।

जो सुषुप्ति या गाढनिद्रा में भी जागता रहता है या जिसका मन सदा ब्रह्म भाव में लीन रहता है जो कभी जागता ही नहीं अर्थात् सांसारिक बातों के प्रति सर्वथा उदासीन बना रहता है और जिसका बोध या विषयज्ञान वासना रहित होता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि।
यो अन्तर्व्योमवदच्छन्नः स जीवन्मुक्त उच्यते।।२४।।

जो योगी राग, द्वेष, भय आदि के कारण उत्पन्न परिस्थितियों में इन परिस्थितियों के अनुसार आचरण तो करता है परन्तु राग-द्वेष आदि के कारण जिसका हृदय और मन प्रभावित नहीं होता वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
कुर्वतोऽकुर्वतो वपि स जीवन्मुक्त उच्यते।।२५।।

जिसमें अहंकार या अभिमान की भावना समाप्त हो गई है और जिसकी बुद्धि कोई काम करने पर या न करने पर उस काम में फंसती नहीं है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्ष भयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते।।२६।।

जिसके व्यवहार और उपस्थिति से लोगों को कोई असुविधा नहीं होती और जो लोगों के बीच आकर भी परेशान नहीं होता। जिसमें प्रसन्नता, ईर्ष्या और भय की भावना तनिक भी नहीं रहती वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

यः समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यमपि शीतलः।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते।।२७।।

सभी प्रकार के सांसारिक काम करते हुए भी जिसका मन शान्त रहता है। जो परोपकार के काम करने पर अपने को कृतकृत्य मानता है ऐसा व्यक्ति जीवन्मुक्त होता है।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वांश्चित्तगतान् मुने।
मयि सर्वात्मके तुष्टः स जीवन्मुक्त उच्यते।।२८।।

जो अपने मन की सभी कामनाओं को पूरी तरह त्याग देता है और मेरे ही चिन्तन में पूरी तरह सन्तुष्ट रहता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

चैत्यवर्जित चिन्मात्रे पदे परमपावने।
अक्षुब्धचित्तो विश्रान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते।।२९।।

जो चित्त की विविध वृत्तियाँ त्यागकर चैतन्य-स्वरूप परम पद में एकाग्र चित्त रहता है और परमशान्ति अनुभव करता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

इदं जगदहं सोऽयं दृश्यजातमवास्तवम्।
यस्य चित्ते न स्फुरति स जीवन्मुक्त उच्यते।।३०।।

यह संसार, मैं और वह तथा इस अवास्तविक दृश्य जगत का बोध जिसके चित्त में नहीं होता वह जीवन्मुक्त होता है।

सद्ब्रह्मणि स्थिरे स्फारे पूर्णे विषयवर्जिते।
आचार्यशास्त्रमार्गेण प्रविश्याशु स्थिरो भव।।३१।।

हे निदाघ! सद्गुरु और शास्त्रों द्वारा बताये गये विषय-भोगों से रहित पूर्ण, सुस्पष्ट और स्थिर सद्ब्रह्म में प्रवेश करके अपने मन को स्थिर रखो।

शिवो गुरुः शिवो वेदः शिवो देवः शिवः प्रभुः।
शिवोऽस्म्यहं शिवः सर्वं शिवादन्यत् न किंचन।।३२।।

सद्गुरु, वेदज्ञान, देव, प्रभु और सब कुछ कल्याणकारी प्रभु का ही रूप है। मैं स्वयं भी कल्याणकारी परमात्मा का अंश हूँ कल्याणमय ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।।३३।।

उसी शिव को जानकर धैर्यशाली ब्राह्मण उसी परम तत्व में अपनी बुद्धि स्थिर रखे अनेक शास्त्रों के शब्दजाल में न फंसे क्योंकि यह सब वाणी का विलास ही है।

शुको मुक्तो वामदेवोऽपि मुक्तस्ताभ्यां विना मुक्तिभाजो न सन्ति।
शुकमार्गं ये अनुसन्ति धीराः सद्यो मुक्तास्ते भवन्तीह लोके।।३४।।

शुक देव मुक्त हुए हैं। वामदेव भी मुक्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त और कोई मुक्त नहीं हुआ है। जो धीर पुरुष शुकदेव के मार्ग पर चलते हैं वे जल्दी मुक्त हो जाते हैं।

वामदेवं येऽनुसरन्ति नित्यं मृत्वा जनित्वा च पुनस्पुनस्तत्।
ते वै लोके क्रममुक्ता भवन्ति योगैः सांख्यैः कर्मभिः सत्वयुक्तैः।।३५।।

जो साधक वामदेव के मार्ग पर चलते हैं, वे संसार में बार-बार जन्म-लेकर और मरकर निष्कामकर्म योग, ज्ञान योग और सात्विक कर्मों से क्रममुक्त होते हैं।

शुकश्च वामदेवश्च द्वे सृती देवनिर्मिते।
शुको विहङ्गमः प्रोक्तो वामदेवः पिपीलिका।।३६।।

देवताओं ने शुकमार्ग और वामदेव मार्ग बनाये हैं शुकमार्ग को विहङ्गम मार्ग कहते हैं और वामदेव मार्ग को पिपीलिका मार्ग।

अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षात् विधिमुखेन वा।
महावाक्य विचारेण सांख्ययोग समाधिना।।३७।।

विदित्वा स्वात्मनो रूपं सम्प्रज्ञातसमाधितः।
शुकमार्गेण विरजाः प्रयान्ति परमं पदम्।।३८।।

अतद्व्यावृत्ति अर्थात् यह ब्रह्म नहीं है; यह सत् या वास्तविक नहीं है (नेति, नेति) इस ढंग से, या विधिमुख से अर्थात् ब्रह्म; सत्, चित्, आनन्द स्वरूप है इस प्रकार के इन विधि और निषेधों के मार्गों के द्वारा अथवा अहं ब्रह्मास्मि आदि महावाक्यों पर विचार करके या सांख्य मार्ग (ज्ञान योग), योग मार्ग (निष्कामकर्म योग) और योगशास्त्र में बताई गयी सम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा अपने आत्मा का स्वरूप जानकर रजोगुण से रहित योगी शुकमार्ग से परम पद प्राप्त करते हैं।

यमाद्यासनजायास हठाभ्यासात् पुनः पुनः।
विघ्नबाहुल्यसंजात अणिमादिवशादिह।।३९।।

अलब्ध्वापि फलं सम्यक् पुनर्भूत्वा महाकुले।
पुनर्वासनयैवायं योगाभ्यासं पुनश्चरन्।४०।।

हठयोग के यम, नियम और आसन आदि कठिन योग-क्रियाओं का बार-बार अभ्यास करके, अनेक विघ्न-बाधाएँ पार करके और अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों के वश में पड़कर योगी योगमार्ग को छोड़कर योगभ्रष्ट हो जाता है। फिर अनेक वर्षों के बाद किसी अच्छे कुल में जन्म लेकर वह पूर्व जन्मों की वासनाओं और संस्कारों के कारण फिर योगाभ्यास करने लगता है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।

गीता ६/४१

अनेकजन्माभ्यासेन वामदेवेन वै पथा।
सोऽपि मुक्तिं समाप्नोति तद् विष्णो परमं पदम्।।४१।।

अनेक जन्मों के योगाभ्यास से वामदेव मार्ग पर चलकर योगी मुक्त हो जाता है। यह मुक्ति ही परमात्मा का परम पद या सर्वश्रेष्ठ स्थान कहलाता है।

द्वाविमावपि पन्थानौ ब्रह्मप्राप्तिकरौ शिवौ।
सद्योमुक्तिप्रदश्चैकः क्रममुक्तिप्रदः परः।
अत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।४२।।

ये दोनों मार्ग कल्याणकारी हैं और ब्रह्म साक्षात् कराने वाले हैं। शुकमार्ग से मुक्ति जल्दी मिलती है। वामदेव मार्ग से अनेक जन्मों के बाद धीरे-धीरे अर्थात् क्रम पूर्वक क्रममुक्ति मिलती है। आत्मा और परमात्मा के बीच एकत्व को देख लेने वाले योगी के हृदय में शोक और मोह नहीं रहता।

अर्थवादाः

यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रवर्तते।
तद् दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः।।४३।।

जिस योगी ने बुद्धिपूर्वक अर्थात् भलीभांति ब्रह्मतत्व की अनुभूति कर ली है ऐसे योगी की दृष्टि जिस पर पड़ती है वे सब अपने पापों से मुक्त हो जाते हैं।

खेचरा भूचराः सर्वे ब्रह्मविद् दृष्टिगोचराः।
सद्य एव विमुच्यन्ते कोटिजन्मार्जितैरघैः।।४४।।

पृथ्वी पर और आकाश में रहने वाले जिस किसी भी प्राणी पर ब्रह्मविद् योगी की कृपादृष्टि पड़ती है वे सब अपने करोड़ों जन्मों के पापों से शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं।

।।चतुर्थ अध्याय समाप्त।।

पञ्चम अध्याय

अथ हैनं ऋभुं भगवन्तं निदाघः पप्रच्छ
योगाभ्यास विधिमनुब्रूहि इति। तथेति स होवाच।

निदाघ ने भगवान ऋभु से प्रार्थना की, कि आप मुझे योगाभ्यास की विधि बताइये। ऋभु ने कहा- अच्छा।

पञ्चभूतात्मको देहः पञ्चमण्डलपूरितः।
काठिन्यं पृथिवीमेका पानीयं तद्द्रवाकृतिः।।१।।
दीपनं च भवेत्तेजः प्रचारो वायुलक्षणम्।
आकाशः तत्त्वतः सर्वं ज्ञातव्यं योगमिच्छता।।२।।

योगाभ्यास करने के इच्छुक व्यक्ति को जानना चाहिये कि हमारा शरीर पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों से बना हुआ है और इस शरीर में इन पाँच महाभूतों के गुण हैं। पृथिवी का गुण कठोरता है, जल का गुण द्रव है, अग्नि या तेज का गुण पचाना या प्रकाशित करना है, वायु का गुण गति करना है और आकाश का गुण सब जगह व्याप्त होना है। हमारे शरीर में कठिनता, रक्त-रस आदि के रूप में द्रवत्व, पाचन और गर्मी के रूप में दीपन, रक्त और श्वास-प्रश्वास आदि का एक अंग से दूसरे अंग में आना-जाना गति या प्रचार और शरीर के खाली स्थानों में आकाश की व्यापकता है।

षट्शतान्यधिकान्यत्र सहस्राण्येकविंशतिः।
अहोरात्रवहैः श्वासैर्वायुमण्डलघाततः।।३।।

वायुमण्डल के दबाव से मनुष्य दिन और रात में २१, ६०० बार श्वास-प्रश्वास लेता है।

मनुष्य एक दिन-रात में १८ हजार सात सौ बीस श्वास-प्रश्वास लेता है। एक मिनट में १३ बार श्वास-प्रश्वास के हिसाब से चौबीस घण्टे अर्थात् १४४० मिनट में १८ हजार सात सौ श्वास-प्रश्वास लेता है। इन दिनों मनुष्य व्यस्त जीवन और भाग-दौड़ में फंसा होने के कारण अधिक बार श्वास-प्रश्वास ले रहा है, इसलिये उसकी आयु घटती जा रही है। आजकल भी जो मनुष्य प्राणायाम का अभ्यास नियमित रूप से जितना करते रहेंगे उनकी आयु भी उतनी ही बढ़ती जायेगी।

हमारे शरीर में तमोगुण बढ़ने पर सत्वगुण के प्रकाश और रजोगुण की कर्मशीलता पर आवरण आ जाता है। प्राणायाम के प्रभाव से शरीर और इन्द्रियों की जड़ता और आलस्य छूट जाता है। तमोगुण के कार्य तन्द्रा (खुमारी) और निद्रा भी नष्ट हो जाती है। तब कम देर तक सोने के कारण

कष्ट नहीं होता। शरीर में काम करने की फुर्ती आ जाती है। मन, मोहशून्य हो जाता है और बुद्धि स्वच्छ हो जाती है। विचार-शक्ति और विवेक-शक्ति बढ़ जाती है। विवेक-शक्ति बढ़ने से तत्व-ज्ञान और सूक्ष्म-दर्शन का उदय होता है, मिथ्या और विपर्यय ज्ञान का लोप होता है और शुद्ध ज्ञान का उदय होता है।

तत् पृथिवीमण्डले क्षीणे वलिरायाति देहिनाम्।
तद्वत् आपो गणापाये केशाः स्युः पाण्डुराः क्रमात्।।४।।

पृथिवी के गुण काठिन्य या कठोरता के कम होने पर शरीर में झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं। जल का अंश घटने पर बाल सफेद होने लगते हैं।

तेजःक्षये क्षुधा कान्तिर्नश्यते मारुतक्षये।
वेपथुः सम्भवेन्नित्यं नाम्भसेनैव जीवति।।५।।

तेज (अग्नि) के नष्ट होने पर भूख और शरीर की कान्ति घट जाती है। वायु के कम होने पर शरीर कांपने लगता है और आकाश तत्व घटने पर जीवन ही नष्ट हो जाता है।

इत्थं भूत क्षयान्नित्यं जीवितं भूत धारणम्।

इन पाँच महाभूतों के नष्ट होने पर शरीर दुर्बल हो जाता है। इसलिये पाँच महाभूत ही हमारे जीवन के आधार हैं।

उड्डीयान बन्ध

उड्यानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।।६।।
उड्डियानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते।
उड्डियानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।।७।।

शरीर के खाली स्थानों में सदा गतिशील प्राणवायु (महाखग) उड्डीयान बन्ध लगाने से सुषुम्ना नाड़ी में निरन्तर प्रवाहित होता रहता है, इसलिये इस बन्ध को उड्डीयान बन्ध कहते हैं। उड्डीयान बन्ध के अभ्यास से मृत्यु दूर रहती है अर्थात् यह बन्ध मृत्युरूप हाथी के लिये शेर जैसा है।

तस्य मुक्तिस्तनोः कायात्तस्य बन्धो हि दुष्करः।
अग्नौ तु चालिते कुक्षौ वेदना जायते भृशम्।।८।।
न कार्या क्षुधितेनापि नापि विण्मूत्रवेगिना।
हितं मितं च भोक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा।।९।।

उड्डीयान बन्ध लगाने से शरीर में वायु की गति कम हो जाती है इसलिये यह बन्ध लगाना कठिन होता है। जब पेट में जठराग्नि से भोजन पच रहा हो तब यह बन्ध लगाने से पेट में दर्द होने लगता है। भूखे पेट और मल-मूत्र का वेग होने पर भी यह बन्ध नहीं लगाना चाहिये। साधक को हितकारी और परिमित भोजन कई बार करना चाहिये।

मन्त्र, लय और हठयोग

मृदुमध्यममन्त्रेषु क्रमान्मन्त्रं लयं हठम्।
लयमन्त्र हठा योगा योगो ह्यष्टाङ्ग संयुतः।।१०।।

मृदु साधकों के लिये मन्त्र योग, मध्यम साधकों के लिये लय योग और सामान्य साधकों के लिये हठयोग का अभ्यास करने का विधान है। लययोग, मन्त्र योग और हठयोग ये तीन प्रकार के योग हैं। योग के आठ अंग हैं।

योग के आठ अङ्ग

यमश्च नियमश्चैव तथा चासनमेव च।
प्राणायामस्तथा पश्चात् प्रत्याहारस्तथा परम्।।११।।
धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमो भवेत्।।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ योग के अङ्ग हैं।

दस यम

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।।१२।।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश।

अहिंसा, सत्य, चोरी न करना (अस्तेय), ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धैर्य, नपा-तुला भोजन और शौच ये दस यम कहलाते हैं।

दस नियम

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।।१३।।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीमतिश्च जपो व्रतम्।
एते हि नियमाः प्रोक्ता दशधैव महामते।।१४।।

तपस्या, सन्तोष, ईश्वर विश्वास, दान, ईश्वर पूजन, शास्त्रों के सिद्धान्तों को सुनना, लज्जा, मति (चिन्तन-मनन) जप और व्रत रखना ये दस नियम होते हैं।

ग्यारह आसन

एकादशासनानि स्युश्चक्रादि मुनिसत्तम।
चक्रं पद्मासनं कूर्मं मयूरं कुक्कुटं तथा।।१५।।
वीरासनं स्वस्तिकं च भद्रं सिंहासनं तथा।
मुक्तासनं गोमुखं च कीर्तितं योगवित्तमैः।।१६।।

हे मुनिश्रेष्ठ! चक्रासन आदि ग्यारह आसन योग के जानकारों ने बताये हैं। ये ग्यारह आसन हैं– चक्रासन, पद्मासन, कूर्मासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, सिंहासन, मुक्तासन और गोमुखासन।

प्राणायाम के अंग

पूरकः कुम्भकस्तद्वत् रेचकः पूरकः पुनः।
प्राणायामः स्वनाडीभिस्तस्मान्नाडीः प्रचक्षते।।१७।।

पूरक प्राणायाम के बाद कुम्भक करना चाहिये और कुम्भक (श्वास रोकना) के बाद रेचक (श्वास निकालना) करना चाहिये। प्राणायाम शरीर की नाड़ियों में किया जाता है अतः नाड़ियों के बारे में बताते हैं।

नाडीकन्द

शरीरं सर्वजन्तूनां षण्णवत्यङ्गुलात्मकम्।
तन्मध्ये पायुदेशात्तु द्वयङ्गुलात् परतः परम्।।१९।।
मेढ्रदेशादधस्तात्तु द्वयङ्गुलान्मध्यमुच्यते।
मेढ्राद् द्वयाङ्गुलादूर्ध्वं नाडीनां कन्दमुच्यते।।२०।।

सभी प्राणियों का शरीर उनकी ९६ अंगुलियों जितना होता है। शरीर के बीच में पायु (गुदा) से दो अंगुलि ऊपर और मेढ्र (लिंगमूल) से दो अंगुलि नीचे शरीर का मध्य भाग होता है। मेढ्र से दो अंगुलि ऊपर नाड़ियों का कन्द या मूल (जड़) होता है। इसमें से निकली ७२ हजार नाड़ियाँ सारे शरीर में फैली हुई हैं।

चतुरङ्गुलमुत्सेधं चतुरङ्गुलमायतम्।
अण्डाकारं परिवृतं मेदोमज्जास्थिशोणितैः।।२१।।

कन्द चार अंगुलि ऊँचा और चार अंगुलि चौड़ा तथा अण्डे जैसा होता है। कन्द; चर्बी, मज्जा, हड्डियों और रक्त से घिरा हुआ है।

तत्रैवनाडीचक्रं तु द्वादशारं प्रतिष्ठितम्।
शरीरं ध्रियते येन वर्तते तत्र कुण्डली।।२२।।
ब्रह्मरन्ध्रं सुषुम्णाया वदनेन पिधाय सा।

इस कन्द में बारह अरों (पंखुड़ियों) का नाड़ीचक्र है। यहीं पर कुण्डलिनी शक्ति है जो शरीर को धारण किये रहती है। कुण्डलिनी अपने मुख से सुषुम्ना नाड़ी के मुख को बन्द करके सो रही है।

अलम्बुसा सुषुम्णायाः कुहूर्नाडी वसत्यसौ।।२३।।
अनन्तरारयुग्मे तु वारुणा च यशस्विनी।
दक्षिणारे सुषुम्णायाः पिङ्गला वर्तते क्रमात्।।२४।।

सुषुम्ना के सामने अलम्बुसा और कुहू नाड़ियाँ हैं। उनके दोनों ओर के अरों (पंखुड़ियों) में वारुणा और यशस्विनी नाड़ियाँ हैं। सुषुम्ना के दांये अरे में पिंगला नाड़ी है।

तदन्तराररयोः पूषा वर्तते च पयस्विनी।
सुषुम्ना पश्चिमे चारे स्थिता नाडी सरस्वती।।२५।।

उसके बाद की दो पंखुड़ियों में पूषा और पयस्विनी नाड़ियाँ हैं। सुषुम्ना के पीछे की पंखुड़ी में सरस्वती नाड़ी है।

शङ्खिनी चैव गान्धारी तदनन्तरयोः स्थिते।
उत्तरे तु सुषुम्नाया इडाख्या निवसत्यसौ।।२६।।

सरस्वती के दोनों ओर शंखिनी और गान्धारी नाड़ियाँ हैं। सुषुम्ना के बांयी ओर इडा नाड़ी है।

अनन्तरं हस्तिजिह्वा ततो विश्वोदरी स्थिता।
प्रदक्षिणक्रमेणैव चक्रस्यारेषु नाडयः।।२७।।

इसके बाद प्रदक्षिणा या परिक्रमा के क्रम से अर्थात् बांयी ओर हस्तिजिह्वा और विश्वोदरी नाड़ियाँ चक्र के अरों में स्थित हैं।

वर्तन्ते द्वादश ह्येता द्वादशानिलवाहकाः।
पटवत् संस्थिता नाड्यो नानावर्णाः समीरिताः।।२८।।

इन बारह नाड़ियों में बारह प्राणवायु चलती हैं। ये नाड़ियाँ अनेक रंगों की हैं और शरीर में कपड़े के ताने-बाने की तरह फैली हुई हैं।

पटमध्यं तु यत्स्थानं नाभिचक्रं तदुच्यते।
नादाधारा समाख्याता ज्वलन्ती नादरूपिणी।।२९।।

कपड़े की तरह फैले हुए नाभिजाल के बीच में नाभिचक्र है। यहाँ अनाहत नाद की आधार तेजस्विनी नादरूपी सुषुम्ना नाड़ी है।

पररन्ध्रा सुषुम्ना च चत्वारो रत्नपूरिताः।
कुण्डल्या पिहितं शश्वद् ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्यमम्।।३०।।

सुषुम्ना नाड़ी में चार छिद्र हैं जो रत्नों से युक्त हैं। कुण्डली ने ब्रह्मरन्ध्र के मध्यभाग का छिद्र बन्द किया हुआ है।

एवमेतासु नाडीषु ध्रियन्ते दश वायवः।
एवं नाडीगतिं वायुगतिं ज्ञात्वा विचक्षणः।।३१।।
समग्रीवशिरः कायः संवृतास्यः सुनिश्चलः।

नासाग्रे चैव हृन्मध्ये बिन्दुमध्ये तुरीयकम्।।३२।।
स्रवन्तममृतं पश्येत् नेत्राभ्यां सुसमाहितः।

इन दस प्राणवहा नाड़ियों में दस प्राणवायुएँ रहती हैं। इस प्रकार अपने शरीर की इन नाड़ियों की और प्राणवायुओं की गति को जानकर साधक गर्दन, सिर और शरीर को एक सीध में रखकर, मुख बन्द करके, हिले-डुले बिना अपनी नाक के अगले सिरे पर, हृदय के मध्य में या बिन्दुमध्य या भ्रूमध्य में ध्यान लगाकर ब्रह्मरन्ध्र की पीयूष ग्रन्थि से झरते हुए अमृत रस को देखे।

अपानं मुकुलीकृत्य पायुमाकृष्य चोन्मुखम्।।३३।।
प्रणवेन समुत्थाप्य श्रीबीजेन निवर्तयेत्।

पायु अर्थात् गुदा को सिकोड़ कर अपान वायु को ओंकार जप के साथ उठाना चाहिये और श्रीबीज या ओंकार जप के साथ ही अपान वायु को नीचे ले आना चाहिये।

स्वात्मानं च श्रियं ध्यायेदमृतप्लावनं ततः।।३४।।
कालवञ्चनमेतद्धि सर्वमुख्यं प्रचक्षते।

प्रणव या ओंकार जप के साथ अपान वायु को उठाने का अभ्यास करते समय अपने आत्मा और श्री का ध्यान करना चाहिये तथा पीयूषग्रन्थि से झरते हुए अमृत रस को खेचरी मुद्रा लगाकर जीभ से पीना चाहिये। इस अभ्यास से साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है अत: यह अभ्यास सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

मनसाचिन्तितं कार्यं मनसा येन सिध्यति।।३५।।
जलेऽग्नि ज्वलनाच्छाखा पल्लवानि भवन्ति हि।
नाधन्यं जागतं वाक्यं विपरीता भवेत् क्रिया।।३६।।

इस अभ्यास से साधक अपने मन में जो काम सोचता है वह काम सफल हो जाता है। जल में आग लग सकती है और जले हुए पेड़ में शाखाएँ तथा पत्ते फूट सकते हैं। उसकी वाणी से निकली बात या उसका काम संसार का अशुभ नहीं करता।

मार्गे बिन्दुं समाबध्य वह्निं प्रज्वाल्य जीवने।
शोषयित्वा तु सलिलं तेन कायं दृढं भवेत्।।३७।।

मार्ग में बिन्दु या वीर्य को स्थिर करके अर्थात् ऊर्ध्वरिता बनकर, अपने अन्त:करण में ज्ञानाग्नि प्रदीप्त करके और अमृतरस का पान करके शरीर मजबूत हो जाता है।

गुदयोनिसमायुक्त आकुञ्चत्येककालतः।
अपानमूर्ध्वगं कृत्वा समानोऽन्ने नियोजयेत्।।३८।।

गुदा और योनिस्थान को एक साथ सिकोड़ कर अपान वायु को उठाकर समान वायु से मिलाना चाहिये और इन दोनों प्राणवायुओं को पेट में रोकना चाहिये।

स्वात्मानं च श्रियं ध्यायेदमृतप्लावनं ततः।
बलं समारभेद्योगं मध्यमद्वारमागतः।।३९।।

अपने आत्मा और प्रणव का ध्यान करना चाहिये। योगी खेचरी मुद्रा लगाकर जीभ से अमृतरस को पीये। सुषुम्ना के द्वार पर पहुँच कर योगी भरपूर शक्ति से योगाभ्यास करे।

भावयेदूर्ध्व गत्यर्थं प्राणापानसुयोगतः।
एष योगो वरो देहे सिद्धिमार्ग प्रदर्शकः।।४०।।

प्राण और अपान वायुओं को मिलाकर कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्ना के रास्ते ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाने की भावना करनी चाहिये। यह श्रेष्ठ योग है। इससे सिद्धियों का मार्ग खुल जाता है।

शरीर की आत्मप्रभा का ज्ञान

यथैवापाङ्गतः सेतुः प्रवाहस्य निरोधकः।
तथा शरीरगाच्छाया ज्ञातव्या योगिभिः सदा।।४१।।

जैसे पानी में बना हुआ बांध जल का प्रवाह रोकता है। उसी प्रकार योगियों को अपने शरीर में व्याप्त छाया को अर्थात् चैतन्य आत्म तत्व की

प्रभा को जानना चाहिये। प्राणशक्ति को चैतन्य आत्म तत्व की प्रभा से जोड़ने में योग पुल का काम करता है।

मूलबन्ध

सर्वासामेव नाडीनामेष बन्धः प्रकीर्तितः।
बन्धस्यास्य प्रसादेन स्फुटी भवति देवता।।४२।।

मूलबन्ध का प्रभाव शरीर की सभी नाड़ियों पर होता है। इस बन्ध के अभ्यास से देवता अर्थात् अन्तःकरण में विराजमान आत्मचैतन्य के दर्शन हो जाते हैं।

चतुष्पथ बन्ध

एवं चतुष्पथो बन्धो मार्गत्रयनिरोधकः।
एकं विकासन् मार्गं येन सिद्धाः सुसङ्गताः।।४३।।
उदानमूर्ध्वगं कृत्वा प्राणेन सह वेगतः।
बन्धोऽयं सर्वनाडीनामूर्ध्वं याति निरोधकः।।४४।।

मूलबन्ध के अभ्यास से इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना और मूत्रेन्द्रिय की कुहू नाड़ी ये चारों एक स्थान पर मिल जाती हैं। शरीर में यह स्थान मूलाधार चक्र है। मूलबन्ध से इडा, पिंगला और कुहू इन तीन नाड़ियों के मार्ग बन्द हो जाते हैं और सुषुम्ना का मार्ग या चतुष्पथ खुल जाता है। सुषुम्ना मार्ग के द्वारा सिद्धयोगी ब्रह्म साक्षात्कार का लक्ष्य पूर्ण कर लेते हैं।

मूलबन्ध कण्ठ में रहने वाले उदान वायु को उठाकर प्राण वायु के साथ मिला देता है। जालन्धर बन्ध के साथ मूलबन्ध लगाने से सभी नाड़ियों का मार्ग बन्द हो जाता है और प्राणवायु की गति ऊपर की ओर हो जाती है।

सम्पुटयोग

अयं च सम्पुटो योगो मूलबन्धोऽप्ययं मतः।
बन्धत्रयमनेनैव सिद्धत्यभ्यासयोगतः।।४५।।

मूलबन्ध ही सम्पुट योग है, क्यों कि बन्धों का अभ्यास करने से प्राणवायु, जठराग्नि और अन्तःकरण; कुण्डली शक्ति के साथ सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर जाने लगते हैं और सहस्रार चक्र में पहुँच जाते हैं। मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धर बन्ध ये तीन बन्ध हैं जिन्हें क्रमशः मूलाधारचक्र मणिपूर, विशुद्धचक्र में लगाया जाता है। मूलाधार गुदा के पास, मणिपूर नाभि के पास और विशुद्ध चक्र कण्ठ के पास है।

सम्पुट योग के अभ्यास से ब्रह्मज्ञान

दिवारात्रमविच्छिन्नं यामेयामे यदा यदा।
अनेनाभ्यासयोगेन वायुरभ्यसितो भवेत्।।४६।।

यदि मूलबन्ध लगाने का अभ्यास रात-दिन लगातार किया जाय अथवा प्रत्येक याम या पहर (तीन घण्टे बाद) में किया जाय तो योगी प्राणवायु पर अधिकार कर लेता है।

वायावभ्यसिते वह्निः प्रत्यहं वर्धते तनौ।
वह्नौ विवर्धमाने तु सुखमन्नादि जीर्यते।।४७।।

प्राणवायु पर अधिकार हो जाने से शरीर की गर्मी प्रतिदिन बढ़ती है। जठराग्नि या गर्मी बढ़ने से भोजन आदि खाद्य पदार्थ अच्छी तरह पच जाते हैं।

अन्नस्य परिपाकेन रसवृद्धिः प्रजायते।
रसे वृद्धिं गते नित्यं वर्धन्ते सर्वधातवः।।४८।।

अन्न के अच्छी तरह पचने पर शरीर में रस बढ़ जाते हैं और रसों के बढ़ने से शरीर की सभी धातुएँ भी बढ़ जाती हैं।

धातूनां वर्धनेनैव प्रबोधो वर्धते तनौ।
दह्यन्ते सर्वपापानि जन्मकोट्यर्जितानि च।।४९।।

शरीर की धातुएँ रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा और वीर्य बढ़ने से शरीर में चैतन्य तत्त्व का ज्ञान बढ़ता है। यह ज्ञान बढ़ने योगी के करोड़ों जन्मों के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

शिव और शक्ति का स्थान

गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम्।
शिवस्य बिन्दुरूपस्य स्थानं तद्धि प्रकाशकम्।।५०।।

मूलाधार चक्र; गुदा और लिंग मूल के बीच में है। मूलाधार चक्र का आकार त्रिभुज या त्रिकोण जैसा है। यह स्थान बिन्दुरूप अर्थात् अनाहत नाद वीर्य की श्रेष्ठशक्ति रूप शिव का प्रकाशक स्थान है।

यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता।
यस्मादुत्पद्यते वायुः यस्माद्वह्निः प्रवर्धते।।५१।।

यहाँ पर कुण्डलिनी नाम की पराशक्ति या सर्वश्रेष्ठ शक्ति विद्यमान है। इस शक्ति से प्राणवायु और शरीर की गर्मी उत्पन्न होती है।

यस्मादुत्पद्यते बिन्दुर्यस्मान्नादः प्रवर्धते।
यस्मादुत्पद्यते हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः।।५२।।

इसी कुण्डलिनी शक्ति से बिन्दु या वीर्य, अनाहत नाद, हंस या विशुद्ध तत्व और मन उत्पन्न होते हैं।

मूलाधारादि षट्चक्रं शक्तिस्थानमुदीरितम्।
कण्ठादुपरि मूर्धान्तं शाम्भवं स्थानमुच्यते।।५३।।

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ये छह चक्र शक्ति के स्थान हैं। गले के ऊपर से लेकर सिर के अन्त तक शिव स्थान है।

ब्रह्मध्यान के साथ प्राणायाम

नाडीनामाश्रयः पिण्डो नाड्यःप्राणस्य चाश्रयः।
जीवस्य निलयः प्राणो जीवो हंसस्य चाश्रयः।।५४।।
हंसः शक्तेरधिष्ठानं चराचरमिदं जगत्।

शरीर; नाड़ियों का आश्रय या आधार है। नाड़ियाँ प्राणवायु का आश्रय हैं अर्थात् प्राणवायु हमारे शरीर की विभिन्न नस-नाड़ियों में गति करता है। प्राणवायु में हमारा जीवात्मा रहता है और हमारे जीवात्मा में हंस

अर्थात् विशुद्ध तत्त्व परमात्मा निवास करते हैं। हंस या परमात्मा परम शक्ति के आश्रय स्थल हैं और वे अपनी इसी शक्ति से जड़-चेतन संसार को चला रहे हैं।

निर्विकल्पः प्रसन्नात्मा प्राणायामं समभ्यसेत्।।५५।।
सम्यग्बन्धत्रयस्थोऽपि लक्ष्यलक्षणकारणम्।
वेद्यं समुद्धरेन्नित्यं सत्यसंधानमानसः।।५६।।

साधक को मन के संकल्प-विकल्पों को छोड़ कर मूलाधार, उड्डीयान और जलन्धर इन तीन बन्धों के साथ प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम करते समय उसका मन और बुद्धि प्रसन्न होनी चाहिये। उसे अपने लक्ष्य पर सदा ध्यान लगाये रखना चाहिये क्योंकि लक्ष्य परमात्मा ही जानने योग्य हैं और परमात्मा को जानकर ही हम अपने उद्देश्य या लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये साधक को सत्य की खोज में लगे रहना चाहिये।

रेचकं पूरकं चैव कुम्भमध्ये निरोधयेत्।
दृश्यमाने परे लक्ष्ये ब्रह्मणि स्वयमाश्रितः।।५७।।

साधक को कुम्भक के बीच में रेचक या पूरक नहीं करना चाहिये। कुम्भक प्राणायाम के समय परम लक्ष्य ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर साधक अपने आप ब्रह्म के आश्रित हो जाता है अर्थात् वह मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चार अन्तरिन्द्रियों या अन्तः-करण चतुष्टय के साथ ब्रह्म में लीन हो जाता है। भावार्थ यह है कि योगी को निःसंग रहकर सत्य पर या ब्रह्म पर मन एकाग्र करना चाहिये। यही परम तत्त्व जानने योग्य है और इसी ब्रह्मज्ञान से योगी अपना लक्ष्य देख सकता है।

बाह्यस्थं विषयं सर्वं रेचकः समुदाहृतः।
पूरकं शास्त्रविज्ञानं कुम्भकं स्वगतं मतम्।।५८।।
एवमभ्यासचित्तश्चेत् स मुक्तो नात्र संशयः।

संसार के सारे विषय-भोग, कामनाएँ, चिन्ताएँ आदि रेचक मानी गई हैं अर्थात् ब्रह्मध्यान करते हुए सांसारिक बातों को मन से बिल्कुल निकाल देना चाहिये। शास्त्रों के अध्ययन से उत्पन्न विवेक बुद्धि पूरक कहलाता है। ब्रह्म का ध्यान करना कुम्भक होता है। साधक इस प्रकार कुम्भक करके

अर्थात् साधक केवल ब्रह्म का ध्यान करने का निरन्तर अभ्यास करके निस्सन्देह मुक्त हो जाता है।

कुम्भकेन समारोप्य कुम्भकेनैव पूरयेत्।।५९।।
कुम्भेन कुम्भयेत् कुम्भं तदन्तस्थः परं शिवम्।
पुनरास्फालयेदद्य सुस्थिरं कण्ठमुद्रया।।६०।।

साधक कुम्भक प्राणायाम द्वारा प्राणवायु को रोककर और ब्रह्म ध्यान में लीन रहकर ब्रह्मध्यान के साथ प्राणवायु को अपने शरीर में बार-बार रोके और अन्तरात्मा में विराजमान कल्याणमय ब्रह्म को साक्षात् करे। यदि साधक का मन विचलित हो जाय तो उसे मन पर नियन्त्रण करके कुम्भक प्राणायाम फिर करना चाहिये और जालन्धर बन्ध लगाना चाहिये।

वायूनां गतिमावृत्य धृत्वा पूरककुम्भकौ।
समहस्तयुगं भूमौ समं पादयुगं तथा।।६१।।
वेधक त्रययोगेन चतुष्पीठं तु वायुना।
आस्फालयेन्महामेरुं वायुवक्त्रे प्रकोटिभिः।।६२।।

पूरक और कुम्भक के द्वारा प्राणवायु की गति रोककर समतल भूमि पर पद्मासन में निश्चल बैठकर अपने दोनों हाथों और पैरों को एक सीध में रखकर प्राणवायु की सहायता से ब्रह्मग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि को भेदना चाहिये। इडा, पिंगला, सुषुम्ना और मूत्रेन्द्रिय की नाड़ी कुहू ये चारों मूलाधार में मिलती हैं अत: मूलाधार चतुष्पथ या चतुष्पीठ कहलाता है। मूलबन्ध के अभ्यास से इडा, पिंगला, सुषुम्ना और कुहू मूलाधार चक्र पर मिल जाती हैं। मूलबन्ध; इडा, पिंगला और कुहू नाड़ियों के मार्ग को रोककर सुषुम्ना के मार्ग को या चतुष्पथ को खोल देता है इस मार्ग के द्वारा सिद्ध योगी ब्रह्म साक्षात्कार का लक्ष्य पूरा कर लेते हैं। इस बन्ध का अभ्यास अपान वायु को उठाकर प्राणवायु के साथ मिला देता है। जालन्धर बन्ध के साथ मूलबन्ध सभी नाड़ियाँ का मार्ग रोक देता है और प्राण-अपान वायु की गति ऊपर की ओर हो जाती है। इस प्रक्रिया से कुण्डली के साथ प्राणवायु, अन्त:करण और जठराग्नि सुषुम्ना मार्ग से उठते हैं और सहस्रार चक्र में पहुँच जाते हैं। सहस्रार चक्र या महामेरु में तुरीय चैतन्य तत्व विराजमान है। साधक को इस चैतन्य तत्व में ध्यान मग्न हो जाना चाहिये।

पुटद्वयं समाकृष्य वायुः स्फुरति सत्वरम्।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धाज्जानीयादमृताय वै।।६३।।

भ्रूमध्य में सूर्य, चन्द्र और अग्नि के मिलने पर आज्ञाचक्र के सूर्य और चन्द्र अर्थात् पिंगला और इडा नाड़ियों के दो पात्रों में एकत्र अमृत रस को तथा अग्नि अर्थात् मूलाधार की कुण्डलिनी शक्ति को प्राणवायु जब अपने में समाहित कर लेता है तब प्राणवायु अचानक धड़कने लगता है। इस स्थिति में योगी को जानना चाहिये कि उसके मन पर प्राणवायु का अधिकार समाप्त हो जाने से वह अमर हो रहा है।

मेरुमध्यगता देवाश्चलन्ते मेरुचालनात्।
आदौ संजायते क्षिप्रं वेधोऽस्य ब्रह्मग्रन्थितः।।६४।।

मेरुदण्ड या रीढ़ की हड्डी में स्थित शक्ति केन्द्रों या चक्रों में कुण्डलिनी शक्ति के प्रविष्ट होने पर मेरुदण्ड में कंपकपी होने लगती है। प्राणायाम का अभ्यास बढ़ने से यह कंपकपी होने लगती है। प्राणायाम और ध्यान का अभ्यास गहरा और गहरा होने पर सारा मेरुदण्ड कांपने लगता है। मेरुदण्ड के कांपने से कुण्डलिनी के साथ चक्रों की शक्ति सक्रिय हो जाती है इसी बात को आलंकारिक शब्दों में कहा गया है कि मेरुदण्ड के कांपने से यहाँ पर विराजमान देवता सक्रिय हो जाते हैं। कुण्डलिनी शक्ति के साथ मिलकर षट्चक्रों की शक्तियाँ सहस्रार चक्र में स्थित ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाती हैं।

सूर्य (पिंगला), चन्द्र (इडा) और अग्नि (जठराग्नि) का मिलनस्थान या केन्द्र भ्रूमध्य में स्थित आज्ञा चक्र है। आज्ञाचक्र में स्थित सूर्य और चन्द्र नाड़ियों में सहस्रार से निकले अमृत रस के आने पर मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी अग्नि की गर्मी से चंचल हो उठती है। ऐसी स्थिति में योगी को जानना चाहिये कि कुण्डलिनी के स्फुरण से प्राणवायु के और मन के लीन हो जाने से योगी अमरत्व प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्यसौ।
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्त्वा रुद्रग्रन्थिं भिनत्त्यसौ।।६५।।
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा छित्त्वा मोहमलं तथा।
अनेक जन्म संस्कार गुरुदेव प्रसादतः।।६६।।

योगाभ्यासात्ततो वेधो जायते तस्य योगिनः।
इडा पिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्नानाडिमण्डले।।६७।।
मुद्राबन्धविशेषेण वायुमूर्ध्वं च कारयेत्।

योगी सबसे पहिले ब्रह्मग्रन्थि को भेदता है। इसके बाद वह विष्णुग्रन्थि को और फिर रुद्रग्रन्थि को भेदता है।

रुद्रग्रन्थि को भेदकर तथा अपने पूर्वजन्मों में अर्जित पुण्यकर्मों के द्वारा और गुरुकृपा से अज्ञान के पर्वत को नष्ट करके योगी विदेह योग में प्रतिष्ठित हो जाता है। साथ ही वह आत्म ज्ञान की ज्योति से जान लेता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह कृतकृत्य हो जाता है।

इडा और पिङ्गला के मध्य में प्रकाशित सुषुम्ना में मुद्राओं और बन्धों का अभ्यास करके योगी को प्राणवायु को उठाना चाहिये और तीनों ग्रन्थियों का भेद करना चाहिये।

विघ्न निवृत्ति के लिये प्रणव जप

ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घो मोक्षदायकः।।६८।।
आप्यायनः प्लुतो वापि त्रिविधोच्चारणेन तु।
तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टा निनादवत्।।६९।।

संक्षिप्त ओंकार जप पापों को नष्ट कर देता है। तीन अक्षरों का ओंकार जप या चतुरमात्र ओंकार जप मुक्ति प्रदान करता है। आप्यायन या द्विमात्रिक अथवा प्लुत प्रणव जप समृद्धि प्रदान करता है। इन तीन प्रकार से प्रणव जप करने पर योगी को ऊपर वर्णित सभी फल प्राप्त होते हैं। तैलधारा के समान और दीर्घ घण्टा निनाद या गूंज के समान प्रणव जप करना चाहिये।

ह्रस्वं बिन्दुगतं दैर्ध्यं ब्रह्मरन्ध्रगतं प्लुतम्।
द्वादशान्तगतं मन्त्रं प्रसादं मन्त्र सिद्धये।।७०।।
सर्वविघ्नहरश्चायं प्रणवः सर्वदोषहा।

ओंकार का संक्षिप्त या ह्रस्व जप हृदय तक पहुँचता है। दीर्घ जप

ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचता है प्रणव मन्त्र का प्लुत उच्चारण ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और अन्त:करण आदि सभी बारह अंगों को निर्मल कर देता है।

यह मन्त्र फलदायक है। प्रणवजप सभी विघ्न-बाधाएँ दूर कर देता है और सारी कमियाँ नष्ट कर देता है।

योग की चार अवस्थाएँ

आरम्भश्च घटश्चैव पुनः परिचयस्तथा।।७१।।
निष्पत्तिश्चेति कथिताश्चतस्त्रः भूमिकाः।
करणत्रयसम्भूतं बाह्यं कर्म परित्यजन्।।७२।।
आन्तरं कर्म कुरुते यत्रारम्भ स उच्यते।

योग के चार स्तर या अवस्थाएँ हैं- आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति। शरीर, वाणी और मन इन करणों या उपायों से किये गये सभी- बाह्य कर्मों का त्याग करके साधक जब अन्त:करण में ध्यान करने लगता है तो यह आरम्भावस्था होती है।

वायुः पश्चिमतो वेधं कुर्वन्नापूर्य सुस्थिरम्।।७३।।
यत्र तिष्ठति सा प्रोक्ता घटाख्या भूमिका बुधैः।

बुद्धिमान पुरुष उस अवस्था को घटावस्था कहते हैं जब शरीर में प्राणवायु सुषुम्ना मार्ग से ग्रन्थित्रय का भेद करके अपने स्थान पर प्रतिष्ठित हो जाती है।

न सजीवो न निर्जीवः काये तिष्ठति निश्चलम्।
यत्र वायुः स्थिरः खे स्यात् सेयं प्रथम भूमिका।।७४।।

परिचयावस्था वह है जब शक्ति से पूर्ण प्राणवायु जीवित होती है किन्तु कार्य न करने के कारण मृतावस्था में होती है और सहस्रार में निश्चल प्रतिष्ठित हो जाती है।

यत्रात्मना सृष्टिलयौ जीवन्मुक्तिदशागतः।
सहजः कुरुते योगं सेयं निष्पत्ति भूमिका।।७५।।

निष्पत्ति अवस्था में योगी उत्पत्ति-विनाश का कार्य करके अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को लांघ करके आत्मा 'जीवन्मुक्ति की

अवस्था में स्वयं पहुँच जाती है। यह निष्पत्ति अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि से आती है।

ब्रह्मविद्या के अभ्यास का फल : अर्थवाद, प्रशंसा, स्तुति

एतदुपनिषदं योऽधीते सोऽग्निपूतो भवति।
स वायुपूतो भवति। सुरापानात् पूतो भवति।
स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति। स जीवन्मुक्तो भवति।

यह उपनिषद् पढ़ने वाला कुण्डलिनी शक्ति की अग्नि से प्रदीप्त हो जाता है। वह प्राणवायु के स्पर्श से सहस्रार में पवित्र हो जाता है। वह सहस्रार से झरते हुए अमृत का पान करके सभी पापों से मुक्त हो जाता है। वह ब्रह्मरन्ध्र से परे हिरण्यगर्भ का स्वर्ण चुराने के पाप से दूर जाता है। वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

तदेतदृचाभ्युक्तम्

यह बात यजुर्वेद के इन मन्त्रों में भी कही गई है:-

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्।। यजु० ६/५

सन्त पुरुष विष्णु के परमपद को आकाश में चारों ओर फैले हुए सूर्य के प्रकाश के समान देखते हैं।

तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोः यत् परमं पदम्।।यजु० ३४/४४

ऋषि-महर्षि इस अवस्था से परे व्याप्त इसे समिद्ध करने की इच्छा से जागृत रहकर ज्ञानाग्नि प्रदीप्त करते हैं। यही विष्णु का परम पद है।

।।ओ३म् सहनाववतु इति शान्तिः।।

।।वराहोपनिषद्समाप्त।।

१९

शाण्डिल्योपनिषद्

ओ३म् भद्रं कर्णेभिरिति शान्तिः!!

शाण्डिल्योपनिषत्प्रोक्त यमाद्यष्टाङ्गयोगिनः।
यद्बोधाद्यान्ति कैवल्यं स रामो मे परा गतिः।।

शाण्डिल्योपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें अष्टांग योग के यम, नियम आदि आठ अंगों का विस्तृत वर्णन है।

प्रथम खण्ड

शाण्डिल्यो ह वा अथर्वाणं पप्रच्छ-आत्मलाभोपाय भूतम् अष्टाङ्गयोगम् अनुब्रूहीति।।१।।

शाण्डिल्य ने अथर्वा ऋषि से निवेदन किया कि आप मुझे आत्मज्ञान कराने वाले अष्टांग योग का उपदेश देने की कृपा कीजिये।

स होवाच अथर्वा - यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टाङ्गानि।।२।।

अथर्वा ने बताया कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ योग के अंग हैं।

तत्र दश यमाः। तथा नियमाः। आसनानि अष्टौ। त्रयः प्राणायामाः।
पञ्च प्रत्याहाराः। तथा धारणा। द्विप्रकारं ध्यानम्। समाधिस्त्वेकरूपः।।३।।

दस यम हैं। दस नियम हैं। आठ आसन हैं। तीन प्राणायाम हैं। पाँच प्रत्याहार हैं। धारणा भी पाँच प्रकार की है। ध्यान दो तरह का होता है और समाधि का स्वरूप एक होता है।

दस यम

तत्राहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, जप, क्षमा, धृति, मिताहार, शौचानि चेति यमा दश।।४।।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, जप, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ये दस यम हैं।

अहिंसा

तत्राहिंसा नाम मनोवाक् काय कर्मभिः सर्वभूतेषु सर्वदाऽक्लेशजननम्।।५।।

मन, वचन और शरीर के कामों से सभी प्राणियों को दुख न देना अहिंसा कहलाती है।

सत्य

सत्यं नाम मनो वाक् कायकर्मभिः भूतहित यथार्थाभिभाषणम्।।६।।

मन, वचन और शरीर के कामों से प्राणियों की भलाई के लिये वास्तविक बात कहना सत्य होता है।

अस्तेय

अस्तेयं नाम मनोवाक् कायकर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहा।।७।।

मन, वचन, और कर्म से परायी चीजों के लिये मन में लोभ न करना अस्तेय होता है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिःसर्वत्र मैथुनत्यागः।।८।।

सभी परिस्थितियों में मन, वचन, कर्म से सभी परिस्थितियों में पर मैथुन कभी न करना ब्रह्मचर्य होता है।

दया

दया नाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः।।९।।

सभी प्राणियों पर सभी जगह कृपा करना दया कहलाती है।

आर्जव

आर्जवं नाम मनोवाक्कायकर्मणां विहिताविहितेषु जनेषु प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा एकरूपत्वम्।।१०।।

मनुष्यों द्वारा मन, वचन, कर्म से किये जाने वाले या न किये जाने वाले कार्यों को करने या न करने के प्रति समान भाव बनाये रखना आर्जव या सरलता कहलाती है।

क्षमा

क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु ताडनपूजनेषु सहनम्।।११।।

प्रिय या अप्रिय सभी परिस्थितियों में निन्दा या स्तुति को सहन करना क्षमा मानी गई है।

धृति

धृतिर्नाम अर्थहानौ स्वेष्टबन्धु वियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतःस्थापनम्।।१२।।

आर्थिक हानि होने पर या अपने प्रिय सम्बन्धी का वियोग हो जाने आदि सभी परिस्थितियों में मन विचलित न होने देना धैर्य कहलाता है।

मिताहार

मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेषक सुस्निग्ध मधुराहारः।।१३।।

पेट का चौथाई भाग खाली रखकर चिकना और मीठा भोजन करना मिताहार या नपा-तुला भोजन करना मिताहार है।

शौच

शौचं नाम द्विविधं बाह्यमान्तरं चेति। तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यम्। मनःशुद्धिरान्तरम्। तद् अध्यात्मविद्यया लभ्यम्।।१४।।

शौच या सफाई दो तरह की होती है– बाहर की और अन्दर की। मिट्टी, पानी आदि से शरीर और स्थान की सफाई ब्राह्य शौच कहलाती है।

मन की शुद्धि अन्दर का शौच होती है। अध्यात्म विद्या के द्वारा मन की शुद्धि की जाती है।

।।प्रथम खण्ड समाप्त।।

द्वितीय खण्ड

दस नियम

तप:सन्तोषास्तिक्य दान ईश्वरपूजन सिद्धान्तश्रवणह्रीमति जपो व्रतानि दश नियमा:।।१।।

तपस्या, सन्तोष, ईश्वर विश्वास, दान, ईश्वर भक्ति, शास्त्रों के सिद्धान्तों को सुनना, लज्जा, सद्बुद्धि, जप और व्रत पालन ये दस काम नियम कहलाते हैं।

तप

तत्र तपो नाम विध्युक्त कृच्छ्र चान्द्रायणादिभि: शरीरशोषणम्।।२।।

शास्त्रों में बताई गई विधि से कृच्छ्र और चान्द्रायण आदि उपवासों से शरीर को दुर्बल करना तपस्या मानी गई है।

सन्तोष

सन्तोषो नाम यदृच्छालाभसन्तुष्टि:।।३।।

संयोगवश लाभ होने पर सन्तुष्ट रहना सन्तोष कहलाता है।

आस्तिक्य

आस्तिक्यं नाम वेदोक्त धर्माधर्मेषु विश्वास:।।४।।

वेद में बताये गये धार्मिक अनुष्ठानों और अधार्मिक कामों में विश्वास करना आस्तिक्य होता है।

दान

दानं नाम न्यायार्जितस्य धनधान्यादे: श्रद्धयार्थिभ्य:प्रदानम्।।५।।

न्यायपूर्वक उचित तरीकों से कमाये गये धन और अन्न को याचकों को श्रद्धापूर्वक देना दान होता है।

ईश्वरपूजन

ईश्वरपूजनं नाम प्रसन्नस्वभावेन यथाशक्ति विष्णुरुद्रादि पूजनम्।।६।।

प्रसन्नमन से विष्णु, शिव आदि की यथाशक्ति पूजा करना ईश्वर पूजन होता है।

सिद्धान्तश्रवण

सिद्धान्तश्रवणं नाम वेदान्तार्थविचारः।।७।।

वेदान्त शास्त्र की बातों के अभिप्राय पर विचार करना सिद्धान्त श्रवण कहलाता है।

ह्री

ह्रीर्नाम वेदलौकिकमार्ग कुत्सितकर्मणि लज्जा।।८।।

वेद विरुद्ध और सांसारिक बुरे काम करने में लज्जा ह्री होती है।

मति

मतिर्नाम वेदविहित कर्ममार्गेषु श्रद्धा।।९।।

वेदों में बताये गये कामों को श्रद्धा के साथ करना मति कहलाता है।

जप

जपो नाम विधिवद् गुरूपदिष्ट वेदाविरुद्ध मन्त्राभ्यासः। तद् द्विविधं वाचिकं मानसं चेति। मानसं तु मनसा ध्यान युक्तम्। वाचिकं द्विविधम् उच्चैः उपांशु भेदेन। उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलम्। उपांशु सहस्रगुणम्। मानसं कोटिगुणम्।।१०।।

गुरु द्वारा बताई गई विधि के साथ वेदों के अविरुद्ध मन्त्रों का अभ्यास जप कहलाता है। जप दो प्रकार से किया जाता है– वाचिक और मानसिक। मानसिक जप मन में ध्यानपूर्वक किया जाता है। वाचिक जप दो प्रकार से

किया जाता है– जोर-जोर से बोलकर तथा उपांशु जप। ओठ बन्द रखकर जीभ और कण्ठ से इस तरह जप करना कि पास बैठा व्यक्ति सुन न सके उपांशु जप कहलाता है। जोर-जोर से बोलकर जप करने का फल शास्त्रों के अनुसार मिलता है। उपांशु जप का फल हजार गुना मिलता है और मानसिक जप का फल करोड़ गुना मिलता है।

व्रत

व्रतं नाम वेदोक्त विधिनिषेधानुष्ठाननैयत्यम्।।११।।

वेद में बताये गये अनुष्ठानों को नित्य करना और वेदों के विरुद्ध अनुष्ठान न करना व्रत कहलाता है।

।।द्वितीय खण्ड समाप्त।।

तृतीय खण्ड

आसन

स्वस्तिक गोमुख पद्म वीर सिंह भद्र मुक्त मयूराख्यानि आसनानि अष्टौ।

स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त और मयूर ये आठ आसन हैं।

स्वस्तिकासन

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते।।१।।

जांघों और घुटनों के पास पैरों के तलुए लगाकर और कमर सीधी रखकर बैठने से स्वस्तिकासन होता है। साधारणरूप से यह आसन पालथी लगाकर बैठना भी कहलाता है।

गोमुखासन

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा।।२।।

बांयी जांघ पर दांये पैर की एड़ी लाकर और एड़ी को पीठ के पास लगाकर और दांयी जांघ के ऊपर से बांयी एड़ी को पीठ के पास लगाकर बैठने से मुड़े हुए दोनों घुटने गाय के मुँह जैसे दिखने लगते हैं, इसलिये यह आसन गोमुखासन कहलाता है।

इस श्लोक में गोमुखासन की पूरी विधि स्पष्ट नहीं है। प्रचलित विधि के अनुसार दांया पैर बांयी जांघ पर रखा जाता है। बांया पैर मोड़कर योनिस्थान के नीचे रखना चाहिये। इस तरह सीधे बैठने से दोनों घुटने पास आ जाते हैं और गाय के मुँह जैसे दिखने लगते हैं। अब दांया हाथ पीठ के पीछे ले जाकर बांये कन्धे की ओर उठाना चाहिये और बांया हाथ मोड़कर बांये कन्धे के पीछे ले जाकर दोनों हाथों की अंगुलियाँ आपस में फंसा लेनी चाहियें। गर्दन उठाकर बांयी कोहनी का सिरा देखते रहना चाहिये। इसी तरह बांये हाथ को पीठ के पीछे ले जाकर दांये हाथ की अंगुलियाँ पकड़नी चाहियें और दांयी कोहनी का सिरा देखते रहना चाहिये।

गोमुखासन के नियमित अभ्यास से कन्धों और गर्दन का दर्द दूर हो जाता है। जकड़े हुए कन्धे खुल जाते हैं। कम्प्यूटर पर देर तक काम करने वालों को यह आसन करना चाहिये। गोमुखासन दिन में किसी भी समय कुर्सी पर बैठे-बैठे भी किया जा सकता है।

पद्मासन

अङ्गुष्ठेन निबन्ध्नीयात् हस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च
ऊर्वोरुपरि शाण्डिल्य कृत्वा पादतले उभे।
पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामपि पूजितम्।।३।।

दोनों जांघों के ऊपर दोनों पैर मोड़कर बैठने से पद्मासन होता है। दोनों हाथ पीठ के पीछे ले जाकर पैरों के अंगूठे पकड़ने चाहियें। पैरों के अंगूठे बद्ध पद्मासन में पकड़े जाते हैं। यह आसन सभी साधक लगाते हैं।

वीरासन

एकं पादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि संस्थितः।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदीरितम्।।४।।

एक पैर को दूसरे पैर की जांघ पर रखकर और दूसरे पैर को पहिले पैर की जांघ पर रखने से वीरासन होता है।

इन दिनों प्रचलित विधि के अनुसार वीरासन; पहिले वज्रासन में बैठकर फिर दोनों जांघों को लगभग १८ इंच तक फैलाकर अपने नितम्ब भूमि से लगाकर और सीधे बैठकर किया जाता है। इस स्थिति में पैरों के तलुए और एड़ियाँ ऊपर आकाश की ओर रहनी चाहियें।

सिंहासन

दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम्।
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्य च।।५।।
व्यक्तवक्त्रो निरीक्षेत् नासाग्रं सुसमाहितः।
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिभिः सदा।।६।।

दांये और बांये पैर की एड़ियाँ अण्डकोशों के नीचे और सीवनी की बगल में उलट कर इस तरह रखनी चाहियें कि दांयी एड़ी, बांयी जांघ और नितम्ब के नीचे आ जाये और बांयी एड़ी दांयी जांघ और नितम्ब के नीचे आ जाये।

हथेलियाँ और अंगुलियाँ फैलाकर घुटनों के ऊपर रखकर और मुँह खोलकर तथा जीभ निकाल कर नाक के अगले भाग पर देखते हुए मन एकाग्र कर बैठने से सिंहासन होता है।

सिद्धासन

योनिं वामेन सम्पीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम्।
भ्रूमध्ये च मनोलक्ष्यं सिद्धासनमिदं भवेत्।।७।।

गुदा और लिंग के बीच का भाग योनि कहलाता है। यहाँ पर बांये पैर की एड़ी लगाकर और लिंगमूल पर अर्थात् पेडू के पास दांयी एड़ी रखकर पैरों के पंजे जांघों और पिण्डलियों के बीच फंसा लेने चाहियें। इस तरह शरीर का सारा भार बांयी एड़ी के ऊपर आ जाता है। भौंहों के बीच में एकटक देखते रहना चाहिये।

भद्रासन

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोःक्षिपेत्।
पादपार्श्वे तु पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम्।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधि विषापहम्।।८।।

दांये और बांये पैरों की एड़ियाँ अण्डकोशों के नीचे और सीवनी के पास लगानी चाहियें। जांघों पर हाथ जमाकर स्थिर बैठने से भद्रासन होता है। इस आसन के अभ्यास से सारे रोग और विषों के प्रभाव नष्ट हो जाते हैं।

मुक्तासन

सम्पीड्य सीविनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः।
सव्यं दक्षिणगुल्फेन मुक्तासनमुदीरितम्।।९।।

बांयी एड़ी से सीवनी को दबाकर और बांयी एड़ी को दांयी एड़ी से दबाकर बैठने से मुक्तासन होता है। मुक्तासन और सिद्धासन बहुत कुछ एक जैसे ही हैं।

मयूरासन

अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां तु करद्वयोः।
हस्तयोः कूर्परौ चापि स्थापयेन्नाभिपार्श्वयोः।।१०।।
समुन्नतशिरःपादो दण्डवत् व्योम्नि संस्थितः।
मयूरासनमेतत्तु सर्वपापप्रणाशनम्।।११।।

दोनों हथेलियाँ जमीन पर रखकर और कोहनियाँ नाभि से लगाकर हाथों पर सारा शरीर उठाकर तथा दोनों पैर सीधे करके मयूरासन किया जाता है। इस आसन के अभ्यास से पेट के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं।

शरीरान्तर्गताः सर्वे रोगाः विनश्यन्ति। विषाणि जीर्यन्ते।।१२।।
येन केनासनेन सुख धारणं भवत्यशक्तस्तत् समाचरेत्।।१३।।
येनासनं विजितं तेन जगत्त्रयं विजितं भवति।।१४।।

इन आसनों के अभ्यास से सारे रोग नष्ट हो जाते हैं। शरीर पर विषों

का प्रभाव दूर हो जाता है। कमजोर व्यक्ति जिस किसी आसन पर भी सुख पूर्वक बैठ सके उसे उसी आसन को लगाकर बैठना चाहिये। जो साधक आसन-विजय कर लेता है अर्थात् एक ही आसन लगाकर बहुत देर तक बैठा रह सकता है वह तीनों लोकों को जीत लेता है।

यमनियमाभ्यां संयुक्तः पुरुषः प्राणायामं चरेत्।
तेन नाड्यः शुद्धा भवन्ति।।१५।।

यम-नियम का अभ्यास करते हुए मनुष्य को प्राणायाम करना चाहिये। प्राणायाम करने से शरीर की नाड़ियों का मल दूर हो जाता है।

।।तृतीय खण्ड समाप्त।।

चतुर्थ खण्ड

नाड़ी संख्या आदि की जिज्ञासा

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ-केनोपायेन नाड्याः शुद्धाः स्युः। नाड्यः कतिसंख्याकाः। तासाम् उत्पत्ति कीदृशी। तासु कति वायवः तिष्ठन्ति। तेषां कानि स्थानानि। तत् कर्माणि कानि। देहे यानि यानि विज्ञातव्यानि तत् सर्वं मे ब्रूहीति।।१।।

शाण्डिल्य ने अथर्वा से पूछा-किस उपाय से शरीर की नाड़ियों का मल दूर किया जाता है? हमारे शरीर में कितनी नाड़ियाँ हैं? ये कैसे उत्पन्न होती हैं? इनमें कौन-कौन सी प्राणवायु रहती है? इन प्राणवायुओं के स्थान कहाँ पर हैं? इनके क्या कार्य हैं? शरीर में हमें जो कुछ जानना चाहिये वह सब आप मुझे बताने की कृपा कीजिये।

स होवाचाथर्वा। अथेदं शरीरं षण्णवत्यङ्गुलात्मकं भवति।।२।। शरीरात् प्राणो द्वादशाङ्गुलाधिको भवति। शरीरस्थं प्राणमग्निना सह योगाभ्यासेन समं न्यूनं वा यः करोति स योगिपुङ्गवो भवति।।३।।

अथर्वा ने शाण्डिल्य को बताया कि हमारा शरीर छियानवें (९६) अंगुली लम्बा है। शरीर की लम्बाई से बारह अंगुलि अधिक प्राणवायु होता है अर्थात् प्राणवायु शरीर से बारह अंगुलि तक बाहर आता-जाता है। शरीर

में स्थित प्राणवायु को जो साधक योगाभ्यास से शरीर की अग्नि के समान या कम कर सकता है वह श्रेष्ठ योगी होता है। अर्थात् जो दीर्घ कुम्भक कर सकता है वह श्रेष्ठ योगी होता है।

अग्नि का स्थान

देहमध्ये शिखिस्थानं त्रिकोणं तप्तजाम्बूनदप्रभं मनुष्याणाम्। चतुष्पदां चतुरस्रम्। विहङ्गानां वृत्ताकारम्। तन्मध्ये शुभा तन्वी पावकी शिखा तिष्ठति।।४।।

मनुष्यों के शरीर के बीच में अग्नि स्थान है। यह स्थान त्रिभुज की आकृति का है और तपाये हुए सोने जैसा चमकीला है। चौपायों के शरीरों में अग्निस्थान चौकोर और पक्षियों में गोलाकार होता है। इन त्रिकोण, वृत्त आदि के बीच में पवित्र और पतली सी अग्नि शिखा है।

गुदात् द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्राद्व्यङ्गुलादधो देहमध्यं मनुष्याणां भवति। चतुष्पदां हृन्मध्यं। विहगानां तुन्दमध्यम्। देहमध्यं नवाङ्गुलं चतुरङ्गुलमुत्सेधायतमण्डाकृति।।५।।

गुदा से दो अंगुलि ऊपर और लिङ्गमूल से दो अङ्गुली नीचे मनुष्यों के शरीर का मध्यभाग होता है। चौपायों के शरीर का मध्यभाग हृदय होता है। पक्षियों का पेट शरीर का मध्य भाग होता है। मनुष्य शरीर का मध्यभाग नौ अंगुलि लम्बा और चार अंगुलि मोटा आयताकार अण्डे जैसा होता है। यहाँ पर सम्भवतः कन्द का उल्लेख किया गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार शरीर के बीच से नौ अंगुल ऊपर मनुष्यों में कन्द होता है। कन्द चार अंगुल चौड़ा और चार अंगुल लम्बा होता है। यह कन्द अण्डे जैसा है। इस पर पतली त्वचा या झिल्ली है।

नाभिचक्र में जीवात्मा का भ्रमण

तन्मध्ये नाभिः। तत्र द्वादशारयुतं चक्रम्। तच्चक्रमध्ये पुण्यपापप्रचोदितो जीवो भ्रमति।।६।। तन्तुपञ्जरमध्यस्थलूतिका यथा भ्रमति तथा चासौ तत्र प्राणश्चरति। देहेऽस्मिञ्जीवः प्राणारूढो भवेत्।।७।।

इसके बीच में नाभि है। नाभि में बारह पंखुड़ियों का चक्र है। इस चक्र में पाप और पुण्य से चंचल जीव घूमता रहता है। जाले में जैसे मकड़ी घूमती रहती है वैसे ही नाभिचक्र में प्राण गति करता रहता है। इस शरीर में जीवात्मा प्राणवायु के सहारे घूमता रहता है।

कुण्डलिनी का स्वरूप और उसकी चेष्टा

नाभेस्तिर्यगोर्ध्वं कुण्डलिनी स्थानम्। अष्टप्रकृतिरूपाष्टधा कुण्डलीकृता कुण्डलिनी शक्तिर्भवति। यथावद् वायुसंचारं जलान्नादीनि परितः स्कन्धः पार्श्वेषु निरुध्यैनं मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रं योगकालेऽपानेनाग्निना च स्फुरति। हृदयाकाशे महोज्ज्वला ज्ञानरूपा भवति।।८।।

नाभि से हटकर ऊपर-नीचे कुण्डलिनी का स्थान है। कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकृतिरूपों वाली और आठ कुण्डलियों वाली है। इसने अपने चारों ओर प्राणवायु तथा अन्न-जल आदि की गति को रोका हुआ है। कुण्डलिनी शक्ति ने ब्रह्मरन्ध्र को अपने मुख से बन्द किया हुआ है। योगाभ्यास से इसे अपान वायु की अग्नि से जगाकर हृदयाकाश में पहुँचाया जाता है। वहाँ पहुँचकर कुण्डलिनी शक्ति अत्यन्त दीप्तिमय और ज्ञानरूपा हो जाती है।

कुण्डलिनी शक्ति का उपरोक्त वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है। यह सामान्य रूप से समझ में नहीं आता है। इसलिये हठयोग के अन्य ग्रन्थों के अनुसार कुण्डलिनी का वर्णन इस प्रकार हैः–

षट्चक्र

शरीर में चेतना के अनेक केन्द्र हैं, जिन्हें योग में चक्र या पद्म कहा जाता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ये छह चक्र हैं।

मूलाधार चक्र

रीढ़ की अन्तिम हड्डी के निचले छोर पर यह चक्र है जो त्रिक का केन्द्र स्थान है। मूलाधार चक्र गुदामूल से दो अंगुलि ऊपर और मेढ़ अर्थात् लिंगमूल

से दो अंगुलि नीचे होता है। यह चक्र पृथिवी तत्व का मुख्य स्थान है। पृथिवी तत्व का स्थान होने के कारण इसका गुण गन्ध है। यह चक्र नीचे की ओर चलने वाले अपान वायु का मुख्य स्थान है। मूलाधार चक्र पृथ्वी तत्व से उत्पन्न होने वाली मल-त्याग की शक्ति गुदा कर्मेन्द्रिय का भी स्थान है।

इस चक्र के नीचे त्रिकोण यन्त्र जैसा सूक्ष्म योनिमण्डल है जिसके मध्य कोण से सुषुम्णा (सरस्वती) नाड़ी, दक्षिण कोण से पिंगला (यमुना) नाड़ी और बांये कोण से इडा (गंगा) नाड़ी निकलती है। इसलिये इसे मुक्तत्रिवेणी भी कहते हैं।

तान्त्रिक ग्रन्थों के अनुसार इस योनिमण्डल के बीच में तेजोमय रक्तवर्ण क्लीं बीजरूप कन्दर्प नाम का स्थिर वायु विद्यमान है, जिसके मध्य में ब्रह्मनाड़ी के मुख में स्वयम्भू लिङ्ग है। इसमें कुण्डलिनी शक्ति तीन कुण्डल में लिपटी हुई शंख के गोल आकार जैसी सोई रहती है। मूलशक्ति अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का आधार होने के कारण यह चक्र मूलाधार चक्र कहलाता है।

कुण्डलिनी शक्ति

इस ब्रह्माण्ड में जितनी शक्तियाँ है, उन सब को ईश्वर ने हमारे शरीर रूपी पिण्ड के इस भाग में एकत्र कर दिया है। मूलाधार चक्र के नीचे त्रिकोण यन्त्र जैसे योनिमण्डल के बीच वाले कोण से निकली सुषुम्ना नाड़ी का मुख साधारण अवस्था में बन्द रहता है। सुषुम्ना नाड़ी त्रिकोण योनिमण्डल के बीच से मेरुदण्ड या रीढ़ की हड्डी के भीतर से होती हुई ऊपर की ओर चलती है। सुषुम्ना नाड़ी का मुख बन्द रहने के कारण शरीर में इसकी शक्ति अविकसित रहती है। इस त्रिकोण योनिमण्डल के दांये और बांये कोणों से क्रमशः पिंगला और इडा नाड़ियाँ निकलती हैं। प्राणशक्ति, इडा और पिंगला के रास्ते छह चक्रों को छूती हुई मस्तिष्क की ओर चलती है। प्राणशक्ति हमारे सारे शरीर में प्रवाहित होती रहती है।

इसी त्रिकोण योनिमण्डल के बीच में अत्यन्त सूक्ष्म दिव्य शक्तिवाली नाड़ी लिपटी हुई पड़ी है। यह ऐसी सर्पिणी है जो साढ़े तीन लपेट मारकर

और अपनी पूँछ मुँह में दबाकर शंख जैसी आकृति में सो रही है। इसी नाड़ी को कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। यह नाड़ी प्रयोग न करने के कारण सोई हुई सी रहती है। शरीर में इसका कोई कार्य दिखाई नहीं देता। किन्तु जब यह नाड़ी अपने लपेट खोलकर सुषुम्ना नाड़ी में चली जाती है तब यह जाग जाती है। जैसे किसी कमरे में लगे बिजली के बल्ब आदि बटन दबाते ही प्रकाश देने लगते हैं वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर शरीर के सारे चक्र और नाड़ियाँ प्रकाशित और शक्तिसम्पन्न हो जाती हैं। कुण्डलिनी शक्ति जिस-जिस चक्र पर पहुँचती है वह चक्र अधोमुख से ऊर्ध्वमुख होकर कमल के फूल की तरह खिलता जाता है और विकसित होता जाता है। कुण्डलिनी शक्ति के आज्ञाचक्र पर पहुँचते ही सम्प्रज्ञात समाधि लग जाती है। सहस्रार या ब्रह्मरन्ध्र पर कुण्डलिनी शक्ति के पहुँचने पर असम्प्रज्ञात समाधि लगने लगती है। इस अवस्था में योगी को सारी सृष्टि का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

शरीर के शुद्ध होने पर मन में सात्विक विचार बढ़ते जाते हैं। पवित्र अन्तःकरण, ईश्वर की सच्ची भक्ति और वैराग्य की परिपक्व अवस्था में मन एकाग्र होने पर निश्चल ध्यान से कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है। भस्त्रिका प्राणायाम, महावेध, महामुद्रा, खेचरी मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, अश्विनी मुद्रा, योनिमुद्रा और शक्तिचालिनी मुद्रा आदि कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में सहायक होती हैं। किन्तु ये सब बाह्य साधन हैं।

कुण्डलिनी के मुख का सुषुम्णा में प्रवेश ध्यान की परिपक्व अवस्था में ही हो सकता है। ध्यान के बिना बाह्य साधनों से कुण्डलिनी शक्ति को क्षोभ पहुँचाने से मूर्च्छा जैसी अवस्था आ सकती है जो बेहोशी और सुषुप्ति अवस्था से तो ऊँची है किन्तु वास्तविक स्वरूपावस्थिति नहीं है और न ही उसमें सूक्ष्म जगत का कोई अनुभव हो सकता है। कुण्डलिनी जागृत करने का सबसे उत्तम उपाय मूलाधार चक्र से लेकर सहस्रार चक्र तक सब चक्रों का भेदन करना है।

कठ आदि उपनिषदों में वर्णित नाचिकेत अग्नि ही कुण्डलिनी शक्ति है। योगी त्रिनाचिकेत हो जाने पर जन्म-मरण के बन्धन से तर जाता है। उसका शरीर योगाग्निमय हो जाता है–

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः।

प्राप्तस्ययोगाग्निमयं शरीरम्।।श्वेताश्वतर उपनिषद्।। २/१२।।

अर्थात् योगाभ्यास की तपस्या से तपकर योगी का शरीर रोगों, बुढ़ापे और मृत्यु को भगा देता है।

नाक के बांये स्वर में इडा से और दांये स्वर में पिंगला नाड़ी से श्वास-प्रश्वास होता है। इन दोनों नाड़ियों के बीच सुषुम्णा की स्थिति है। सुषुम्णा के अन्दर भी कई सूक्ष्म नाड़ियाँ होती हैं जिनमें चित्रिणी नाड़ी भी है। चित्रिणी नाड़ी कुण्डलिनी शक्ति का मार्ग है। सुषुम्णा के दोनों ओर की नाड़ियाँ इडा और पिंगला; कुण्डलिनी शक्ति के दो कुण्डल (कान की बालियाँ) हैं, अत: इस शक्ति का नाम कुण्डलिनी है। सम्पूर्ण सृष्टि को चलाने वाली महाकुण्डली शक्ति है, जो अव्यक्त है। जीव को चलाने वाली व्यक्त शक्ति कुण्डलिनी है। कुण्डलिनी शक्ति के प्रकट होने पर वेग उत्पन्न होता है। इस वेग से जो प्रथम स्फोट (शब्द) होता है, उसे नाद कहते हैं।

बिजली जैसी चमकीली कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन कुण्डलियाँ मारे सांप की भांति कन्द के ऊपर सुषुम्णा के द्वार पर सोती रहती है। योगी शक्तिचालन मुद्रा से इसे जगाकर सुषुम्णा के रास्ते ब्रह्मरन्ध्र में ले जाते हैं। मस्तिष्क में ब्रह्मरन्ध्र तक कुण्डलिनी शक्ति को ले जाने का अभ्यास कुण्डलिनी योग कहलाता है।

तैजस तत्व प्रधान सुषुम्णा के साथ मानसिक रश्मियों के संघर्षण से उत्पन्न विद्युत् जैसी ज्योति (विशोका ज्योति पातंजल योग सूत्र १/३६) का आलंकारिक रूप ही कुण्डलिनी है। सूर्य की किरणों के स्पर्श से जैसे कमल खिल जाते हैं वैसे ही मन की रश्मियाँ पड़ने पर देहगत आभ्यन्तरिक चक्र या केन्द्र प्रकाशित होकर दिखने लगते हैं। सम्भवत: इसी भाव के आधार पर इन केन्द्रों (चक्रों) को कमल का नाम दे दिया गया है।

कुटिलांगी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती, बालरण्डा आदि कुण्डलिनी के अनेक नाम हैं।

कुण्डलिनी जागरण में चेतावनी

कुण्डलिनी शक्ति को जगाने का कोई भी प्रयत्न करने से पहिले

साधक के अन्त:करण में आवश्यक परिवर्तन अनिवार्य रूप से होना चाहिये। इसके लिये साधक को अपनी अन्तश्चेतना के केन्द्र को शरीर के मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर इन तीन चक्रों से हटा कर ऊपर के अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्रों पर लाना चाहिये। मानसिक शक्ति कुण्डलिनी शरीर के तीन निचले चक्रों में निष्क्रिय रहती है। ये तीन चक्र काम वासना के केन्द्र हैं और जबतक ये तीनों चक्र सक्रिय रहते हैं तबतक कुण्डलिनी निष्क्रिय रहती है। इसलिये कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिये काम वासना पर पूरी तरह नियन्त्रण करना अनिवार्य और आवश्यक है। यदि काम वासना को पूरी तरह नियन्त्रित किये बिना शक्तिचालन, प्राणायाम आदि हठयोग की क्रियाओं से कुण्डलिनी शक्ति संयोगवश जग जाती है तो यह शक्ति साधक को पतन के गर्त्त में ढकेल देती है, जिसका परिणाम विनाशकारी होता है। साधक के भोग और कामवासनमय जीवन पर पूरी तरह नियन्त्रण न हो पाने पर कुण्डलिनी शक्ति के जाग जाने पर उसकी कामवासना की प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ जाती है और वह पतन के मार्ग पर चलने लगता है। इसलिये साधक को कुण्डलिनी शक्ति जगाने का कोई भी प्रयत्न करने से पहिले अपनी काम वासना पर पूरी तरह नियन्त्रण लगाना चाहिये। उसे शास्त्र अध्ययन, ईश प्रार्थना, जप और धारणा-ध्यान आदि के अभ्यास से अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्रों को सक्रिय करना चाहिये और कुण्डलिनी शक्ति को इन चक्रों में प्रवाहित करने का प्रयत्न करना चाहिये।

चौदह मुख्य नाड़ियाँ

मध्यस्थ कुण्डलिनीमाश्रित्य मुख्या नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति। इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरा, कुहूः, शङ्खिनी, पयस्विनी, अलम्बुसा, गान्धारीति नाड्य-श्चतुर्दश भवन्ति।।९।।

बीच में स्थित कुण्डलिनी के चारों ओर चौदह मुख्य नाड़ियाँ मनुष्य शरीर में होती हैं। इनके नाम हैं—

इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी,

विश्वोदरा, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलम्बुसा और गान्धारी ये चौदह नाड़ियाँ हैं।

सुषुम्णा नाड़ी

तत्र सुषुम्ना विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते। गुदस्य पृष्ठभागे वीणादण्डाश्रिता मूर्धपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रेति विज्ञेया व्यक्ता सूक्ष्मा वैष्णवी भवति।।१०।।

इन चौदह नाड़ियों में सुषुम्ना विश्व को धारण करने वाली और मोक्ष के मार्ग में पहुँचाने वाली कहलाती है। गुदा के पीछे वीणादण्ड जैसी रीढ़ की हड्डी के सहारे सुषुम्ना नाड़ी सिर तक ब्रह्मरन्ध्र में जाती है। सुषुम्ना नाड़ी अत्यन्त सूक्ष्म और अनुभवगम्य है।

सुषुम्ना नाड़ी क्या है?

इस सम्बन्ध में चार मत हैं। श्रुति के अनुसार हृदय से ऊपर गई नाड़ी विशेष ही सुषुम्ना है। तन्त्रशास्त्र के 'षट्चक्र निरूपण' ग्रन्थ में तीन प्रकार के मत हैं। किसी मत में रीढ़ या पीठ की हड्डी में सुषुम्ना है और उसके दोनों ओर इडा और पिंगला हैं-

''मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे, मध्ये सुषुम्ना नाडी।''

मेरुदण्ड या रीढ़ की हड्डी के बाहर चन्द्र (इडा) और सूर्य (पिंगला) नाड़ियाँ बांयी और दांयी ओर हैं। इनके बीच में सुषुम्ना है।

दूसरे तन्त्र के अनुसार

मेरोर्वामि स्थिता नाडी इडा चन्द्रामृते शिवे।
दक्षिणे सूर्यसंयुक्ता पिङ्गला नाम नामतः।।
तद् बाह्ये तु तयोर्मध्ये सुषुम्ना वह्नि संयुता।

मेरुदण्ड के बांयी ओर इडा नाड़ी है जो कल्याणकारी चन्द्र रूपी अमृत से परिपूर्ण है। रीढ़ की हड्डी के दांयी ओर सूर्य तत्व प्रधान पिंगला

नाड़ी है। रीढ़ की हड्डी के बाहर ही इडा और पिंगला के बीच में अग्नियुक्त सुषुम्ना नाड़ी है।

इस मत में तीनों नाड़ियों को ही मेरु (मेरुदण्ड-रीढ़ की हड्डी) के बाहर कहा गया है। मतान्तर में मेरु के बीच में ही ये तीनों नाड़ियाँ रहती हैं–

''मेरोर्मध्यपृष्ठगतास्तिस्रो नाड्यः प्रकीर्त्तिताः।''

(निगमतत्त्वसार)

शरीर की चीर-फाड़ करके इन नाड़ियों को देख पाने की सम्भावना नहीं है। वस्तुतः मस्तिष्क या सहस्रार से जो स्नायुएँ या ज्ञानवाहिनी तन्त्रिकाएँ मेरुदण्ड के भीतर और बाहर होकर मलद्वार तक फैली हुई हैं, जिनके द्वारा बोध (ज्ञान) और चेष्टा होती है, वे सुषुम्ना, इडा और पिंगला हैं।

सुषुम्ना के चारों ओर अन्य नाड़ियों के स्थान

सुषुम्नायाः सव्यभागे इडा तिष्ठति। दक्षिणभागे पिङ्गला। इडायां चन्द्रश्चरति। पिङ्गलायां रविः। तमोरूपश्चन्द्रः। रजोरूपः रविः। विषभागो रविः अमृतभागश्चन्द्रमा।

तावेव सर्वकालं धत्तः। सुषुम्ना काल भोक्त्री भवति। सुषुम्नापृष्ठपार्श्वयोः सरस्वती कुहूः भवतः। यशस्विनी कुहू मध्ये वारुणी प्रतिष्ठिता भवति। पूषा सरस्वती मध्ये पयस्विनी भवति। गान्धारी सरस्वतीमध्ये यशस्विनी भवति। कन्दमध्ये अलम्बुसा भवति। सुषुम्ना पूर्व भागे मेढ्रान्तं कुहूर्भवति। कुण्डलिन्या अधश्चोर्ध्वं वारुणी सर्वगामिनी भवति। यशस्विनी सौम्या च पादागुष्ठान्तमिष्यते। पिङ्गला चोर्ध्वगा याम्यनासान्तं भवति। पिङ्गलायाः पृष्ठतो याम्यनेत्रान्तं पूषा भवति। याम्यकर्णान्तं यशस्विनी भवति। जिह्वया ऊर्ध्वान्तं सरस्वती भवती। आसव्यकर्णान्तमूर्ध्वगा शंखिनी भवति। इडापृष्ठभागात् सव्यनेत्रान्तगता गान्धारी भवति। पायु-मूलादधोर्ध्वगाऽ-लम्बुसा भवति। एतासु चतुर्दशनाड़ीष्वन्या नाड्यः सम्भवन्ति। तास्वन्यास्तास्वन्या भवन्तीति विज्ञेयाः। यथाऽश्वत्थादिपत्रं शिराभिर्व्याप्तमेवं शरीरं नाडिभिर्व्याप्तम्।।११।।

सुषुम्ना के बांयी ओर इडा नाड़ी है। सुषुम्ना के दांयी ओर पिंगला नाड़ी है। इडा नाड़ी में चन्द्रमा रहता है। पिंगला में सूर्य गति करता है। चन्द्रमा का स्वरूप तामसिक गुण का है। सूर्य का स्वरूप राजसिक गुण वाला है। सूर्य में विष का भाग है, चन्द्रमा में अमृत का भाग है। विष और अमृत सम्पूर्ण काल को अपने अधीन रखते हैं। सुषुम्ना काल भोक्त्री अर्थात् काल को नष्ट कर देने वाली है।

सुषुम्ना के पीछे दोनों ओर सरस्वती और कुहू नाड़ियाँ हैं। यशस्विनी और कुहू के बीच में वारुणी नाड़ी है। पूषा और सरस्वती के बीच में पयस्विनी है। गान्धारी और सरस्वती के बीच में यशस्विनी नाड़ी है। कन्द के बीच में अलम्बुसा होती है। सुषुम्ना के अगले भाग में मेढ्र अर्थात् लिंगमूल के अन्त तक कुहू नाड़ी है। कुण्डलिनी के नीचे और ऊपर सब जगह जाने वाली वारुणी नाड़ी है। सौम्य नाड़ी यशस्विनी पैर के अंगूठों के अन्त तक गई हुई है। ऊपर जाने वाली पिंगला नाक के दाहिने सुर के अन्त तक चली गई है। पिंगला के पीछे दांयी आँख के अन्त तक पूषा नाड़ी है। दांये कान के अन्त तक यशस्विनी नाड़ी है। जीभ के ऊपरी भाग तक सरस्वती है। बांये कान के अन्त तक ऊपर जाने वाली नाड़ी शंखिनी है। इडा के पिछले भाग से बांयी आँख के अन्त तक गान्धारी है। गुदामूल के नीचे और ऊपर अलम्बुसा नाड़ी है। इन चौदह नाड़ियों के अन्दर और नाड़ियाँ भी हैं। इन नाड़ियों के भी अन्दर और अनेक नाड़ियाँ हैं। पीपल आदि के पत्ते में जैसे तन्तु फैले रहते हैं उसी प्रकार हमारे शरीर में नाड़ियाँ फैली हुई हैं।

प्राण आदि दस वायुओं के स्थान और कार्य

प्राणापानसमानोदानव्याना नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया
एते दश वायवः सर्वासु नाडीषु चरन्ति।।१२।।

प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय ये दस प्राणवायुएँ शरीर की सभी नाड़ियों में गति करती हैं।

आस्य नासिका कण्ठ नाभि पादाङ्गुष्ठद्वयकुण्डल्यधोश्चोर्ध्वभागेषु प्राणः संचरति।

मुख, नाक, कण्ठ, नाभि, पैरों के दोनों अंगूठों और कुण्डलिनी के ऊपर-नीचे प्राणवायु गति करता है।

श्रोत्राक्षिकटिगुल्फ घ्राणगलस्फिग्देशेषु व्यानः संचरति।

कान, आँख, कमर, पैरों की एड़ी, नाक, गले और नितम्बों में व्यान वायु चलता है।

गुदमेढ्रोरुजानूदर वृषण कटिजंघानाभिगुदाग्न्यगारेष्वपानः संचरति।

गुदा, लिंगमूल, घुटनों, पेट, अण्डकोषों, कमर, जांघ, नाभि, गुदा और पक्वाशय में अपान वायु गति करता है।

सर्वसन्धिस्थः उदानः।

उदान वायु शरीर के सभी अंगों के जोड़ों में रहता है।

पादहस्तयोरपि सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी समानः। भुक्त अन्न-रसादिकं गात्रेग्निना सह व्यापयन् द्विसप्ततिसहस्त्रेषु नाडीमार्गेषु चरन् समानवायुरग्निना सह साङ्गोपाङ्ग कलेवरं व्याप्नोति।

समान वायु हाथ-पैरों और शरीर के सभी अंगों में व्याप्त रहता है। खाये हुए अन्न और रसीले पदार्थों आदि को शरीर की अग्नि के साथ मिलाकर शरीर की बहत्तर हजार नाड़ियों में घूमता हुआ समान वायु अग्नि के साथ मिलकर शरीर के अंग-प्रत्यंग में व्याप्त रहता है।

नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिसम्भवाः। तुन्दस्थं जलमन्नं च रसादिषु समीरितं तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि पृथक् कुर्यात्। अग्नेरुपरि जलं स्थाप्य जलोपर्यन्नादीनि संस्थाप्य स्वयमपानं संप्राप्य तेनैव सह मारुतः प्रयाति देहमध्यगतं ज्वलनम्।

नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय ये पाँच सहायक प्राणवायु त्वचा, अस्थि (हड्डी) आदि से उत्पन्न होती हैं। पेट में आये अन्न, जल और रसीले पदार्थों में पेट में गति करता हुआ प्राणवायु इन खाद्य पदार्थों को अलग करता है।

प्राणवायु पेट की अग्नि के ऊपर जल रखकर और इस जल में अन्न

आदि खाद्य पदार्थ डालकर स्वयं अपान वायु से मिल जाता है। प्राणवायु; अपान वायु के साथ मिलकर शरीर में गर्मी उत्पन्न करता है।

वायुना पालितो वह्निरपानेन शनैर्देहमध्ये ज्वलति। ज्वलनो ज्वालाभिः प्राणेन कोष्ठमध्यगतं जलम् अत्युष्णमकरोत्। जलोपरि समर्पितं व्यञ्जनसंयुक्तमन्नं वह्निसंयुक्तवारिणा पक्वमकरोत्। तेन स्वेदमूत्रजलरक्तवीर्य रूपरसपुरीषादिकं प्राणः पृथक् कुर्यात्।

वायु से प्रदीप्त अग्नि अपान वायु के साथ मिलकर शरीर में धीरे-धीरे जलती रहती है। यह अग्नि प्राणवायु से प्रदीप्त होकर पेट में आये जल को बहुत गर्म कर देती है। इस गर्म पानी में रखा हुआ अन्न और अन्य खाद्य पदार्थ पानी की गर्मी से पक जाते हैं। पके हुए इस भोजन में से प्राणवायु पसीने, मूत्र, जल, खून, वीर्य रूपी रसों को और मल आदि को अलग-अलग कर देता है।

समानवायुना सह सर्वासु नाडीषु रसं व्यापन् श्वासरूपेण देहे वायुश्चरति।

प्राणवायु; समान वायु के साथ शरीर की सभी नस-नाड़ियों में रक्त-रस आदि पहुँचाता हुआ श्वास के रूप में सारे शरीर में गति करता रहता है।

नवभिः व्योमरन्ध्रैः शरीरस्य वायवः कुर्वन्ति विण्मूत्रादि विसर्जनम्।

शरीर के नौ छिद्रों से प्राण आदि वायुएँ शरीर से मल-मूत्रादि निकालती हैं। यहाँ पर शरीर के नौ छिद्र या द्वार बताये गये हैं, वे इस प्रकार है–

दो आँख, दो कान, नाक के दो सुर, मुख, मुदा और मूत्रेन्द्रिय।

निश्वासोच्छ्वासकासश्च प्राणकर्मोच्यते।

श्वास लेना और श्वास छोड़ना और खांसना ये काम प्राणवायु करती है।

विण्मूत्रादिविसर्जनम् अपानवायुकर्म।

अपानवायु शरीर से मल-मूत्र आदि निकालती है।

हानोपादानचेष्टादि व्यान कर्म।

लेना, छोड़ना और चेष्टा आदि करना व्यान वायु करती है।

देहस्योन्नयनादिकम् उदानकर्म।

शरीर को उठाना आदि उदान वायु करती है।

शरीर पोषणादिकं समानकर्म।

समान वायु; शरीर का पालन-पोषण आदि करती है।

उद्गारादि नागकर्म। निमीलनादि कूर्मकर्म। क्षुत्करणं कृकर कर्म। तन्द्रा देवदत्तकर्म। श्लेषमादि धनञ्जय कर्म।।१३।।

डकार आदि लेना नागवायु से होता है। पलकें झपकाने आदि काम कूर्म वायु करती है। कृकर वायु भूख अनुभव कराती है। आलस्य और निद्रा लाने का काम देवदत्त वायु करती है। कफ आदि निकालने का काम धनंजय करती है।

एवं नाडीस्थानं वायुस्थानं तत्कर्म च सम्यक् ज्ञात्वा नाडी संशोधनं कुर्यात्।।१४।।

शरीर की मुख्य नाड़ियों के स्थान और दस प्राण-वायुओं के स्थान तथा इनके कार्यों को समझकर साधक को नाड़ियों की शुद्धि या सफाई करनी चाहिये।

।।चतुर्थखण्ड समाप्त।।

पञ्चम खण्ड

योग के अधिकारी और योगमठ के लक्षण

यमनियमयुतः पुरुषः सर्वसङ्गविवर्जितः कृतविद्यः सत्यधर्मरतो जितक्रोधो गुरुशुश्रूषानिरतः पितृमातृविधेयः स्वाश्रमोक्तसदाचारविद्वच्छिक्षितः फलमूलोदकान्वितं तपोवनं प्राप्य रम्यदेशे ब्रह्मघोषसमन्विते स्वधर्मनिरतब्रह्मवित् समावृते फलमूलपुष्पवारिभिः सुसम्पूर्णे देवायतने नदीतीरे ग्रामे नगरे वापि सुशोभनमठं नात्युच्चनीचायतमल्पद्वारं गोमयादिलिप्तं सर्वरक्षासमन्वितं कृत्वा तत्र वेदान्तश्रवणं कुर्वन् योगं समाचरेत्।।१४।।

यमों और नियमों का पालन करने वाले पुरुष को सभी प्रकार के साथियों को छोड़कर, शास्त्रों का स्वाधाय करके, सत्यधर्म का पालन करते हुए, क्रोध पर नियन्त्रण करके, अपने गुरु की सेवा करते हुए, माता-पिता की आज्ञा का पालन करते हुए, अपने आश्रम के सदाचारों का पालन करते हुए, विद्वानों से शिक्षा प्राप्त करके, कन्द-मूल फलों और जल से युक्त ऐसे तपोवन में जाकर जहाँ पर ब्रह्मघोष होता रहता हो, अपने-अपने धर्मों का पालन करने वाले ब्रह्मवित् रहते हों, कन्दमूल, फल, पुष्प और जल से परिपूर्ण मन्दिर हो ऐसे स्थान पर चाहे वह नदी के किनारे हो या किसी नगर या ग्राम के पास हो वहाँ पर अच्छा मठ बनवाये। यह मठ बहुत ऊँची या नीची जगह पर नहीं होना चाहिये। इसका दरवाज़ा बड़ा नहीं होना चाहिये। यह मठ गाय के गोबर आदि से लीपकर साफ करना चाहिये। इसमें सभी प्रकार की सुरक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। वहाँ पर विद्वानों से वेदान्त शास्त्र सुनते हुए योगाभ्यास प्रारम्भ करना चाहिये।

आदौ विनायकं सम्पूज्य स्वेष्टदेवतां नत्वा पूर्वोक्तासने स्थित्वा प्राङ्मुख उदङ्मुखो वापि मृद्वासनेषु जितासनगतो विद्वान् समग्रीवशिरोनासाग्रदृग्भ्रूमध्ये शशभृद् बिम्बं पश्यन् नेत्राभ्याम् अमृतं पिबेत्।

सबसे पहिले गणेश पूजन करके अपने इष्ट देव को प्रणाम करके ऐसे आसन पर बैठे जो बहुत ऊँचा या बहुत नीचा न हो। यह आसन मुलायम होना चाहिये। इस आसन पर पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठना चाहिये। सबसे पहिले आसन जय का अभ्यास करना चाहिये अर्थात् पद्मासन या सिद्धासन आदि किसी आसन में दो-तीन घण्टों तक बिना हिले-डुले बैठने का अभ्यास कर लेना चाहिये। आसन पर बैठकर गर्दन और सिर सीधा रहना चाहिये। दृष्टि नाक के अगले भाग पर टिकी रहनी चाहिये। भ्रूमध्य में चन्द्रमा को देखते हुए सहस्त्रार से झरने वाले अमृत रस का पान करना चाहिये।

नाड़ीशोधन प्राणायाम

द्वादशमात्रया इडया वायुमापूर्य उदरे स्थितं ज्वालावलीयुतं रेफबिन्दुयुक्तम् अग्निमण्डलयुतं ध्यायेत् रेचयेत् पिङ्गलया। २।।

इडा नाड़ी से अर्थात् नाक के बांये सुर से बारह मात्रा या बारह बार ओ३म् जपते हुए प्राणवायु भरनी चाहिये। कुम्भक के समय पेट में स्थित लपटों से युक्त 'रं' अक्षर से युक्त अग्निमण्डल का ध्यान करना चाहिये। यथाशक्ति प्राणवायु को रोक कर श्वास को पिंगला नाड़ी से अर्थात् नाक के दांये सुर से झटका दिये बिना धीरे-धीरे निकालना चाहिये।

पुनः पिङ्गलया आपूर्य कुम्भयित्वा रेचयेदिडया।।३।।

इसके बाद नाक के दांये सुर से श्वास भरकर और इसे यथाशक्ति रोककर नाक के बांये सुर से निकालना या रेचन करना चाहिये।

त्रिचतुस्त्रिचतुः सप्तत्रिचतुर्मासपर्यन्तं त्रिसन्धिषु तदन्तरालेषु च षट्कृत्व आचरेत् नाडी शुद्धिर्भवति। ततः शरीरे लघुदीप्ति वह्निवृद्धिनादाभिव्यक्तिः भवति।।४।।

४३ दिनों तक या तीन महीनों, चार महीनों, सात महीनों तक या एक वर्ष तक प्रातः, सायम् और दोपहर दिन की इन तीन सन्धियों पर और इन तीन सन्धियों के बीच इस प्रकार दिन में छह बार यह नाड़ी शोधन प्राणायाम करने से शरीर की सभी नाड़ियों से मल निकल जाता है। नाड़ीशुद्धि हो जाने पर शरीर में हल्कापन अनुभव होने लगता है। शरीर की कान्ति बढ़ जाती है। शरीर की गर्मी बढ़ जाती है और अनाहत नाद सुनाई देने लगता है।

।।पञ्चम खण्ड समाप्त।।

षष्ठ खण्ड

प्राणापान समायोगः प्राणायामो भवति। रेचक पूरक कुम्भक भेदेन स त्रिविधः।।१।। ते वर्णात्मकाः। तस्मात् प्रणव एव प्राणायामः।।२।।

प्राणवायु और अपानवायु को प्राणायाम के द्वारा मिलाया जाता है। रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायाम के ये तीन अंग है। रेचक, पूरक और

कुम्भक वर्णात्मक हैं अर्थात् रेचक, पूरक और कुम्भक प्रणव अक्षर ओ३म् के अ, उ और म् हैं इसलिये प्राणायाम प्रणवस्वरूप है।

पद्मासनस्थः पुमान्नासाग्रे शशभृद् बिम्बज्योत्स्नाजाल वितानिताकारमूर्ती रक्ताङ्गी हंसवाहिनी दण्डहस्ता बाला गायत्री भवति। उकारमूर्तिः श्वेताङ्गी तार्क्ष्यवाहिनी युवती चक्रहस्ता सावित्री भवति। मकारमूर्तिः कृष्णाङ्गी वृषभवाहिनी वृद्धा त्रिशूलधारिणी सरस्वती भवति।।३।। अकारादित्रयाणां सर्वकारणमेकाक्षरं परं ज्योतिः प्रणवं भवति इति ध्यायेत्।।४।।

मनुष्य को पद्मासन में बैठकर अपनी नाक के अगले भाग पर चन्द्रमण्डल की चांदनी से घिरी अ अक्षर वाली लाल रंग की हंस पर सवार हाथ में दण्ड धारण किये हुए लड़की का ध्यान करना चाहिये। लड़की की यह प्रतिमा गायत्री का स्वरूप है। उ अक्षर वाली सफेद रंग की गरुड़ पर सवार और हाथ में चक्र धारण किये हुए युवती सावित्री का ध्यान करना चाहिये। म अक्षर वाली काले रंग की साण्ड पर सवार हाथ में त्रिशूल पकड़े हुए वृद्धा स्त्री सरस्वती का ध्यान करना चाहिये। अ, उ, म् अक्षरों का एकमात्र कारण परमज्योतिस्वरूप एक अक्षर प्रणव या ओ३म् है।

प्राणायाम के अभ्यास की विधि

इडया बाह्याद् वायुमापूर्य षोडशमात्राभिरकारं चिन्तयन् पूरितं वायुं चतुःषष्टि मात्राभिः कुम्भयित्वा ओंकारं ध्यायन् पूरितं पिङ्गलया द्वात्रिंशत् मात्रया मकारमूर्तिध्यानेन एवं पुनः पुनः कुर्यात्।।५।।

इडा स्वर से अर्थात् नाक के बांये स्वर से बाहर की वायु को अ अक्षर को सोलह बार जपते हुए फेफड़ों में भरना चाहिये। इस प्राणवायु को चौंसठ बार ओ३म् का जप करते हुए रोकना चाहिये। फिर अन्दर की प्राणवायु को म अक्षर की प्रतिमा का बत्तीस बार ध्यान करते हुए पिङ्गला नाड़ी से अर्थात् दांये स्वर से धीरे-धीरे निकाल देना चाहिये।

इस विधि से प्राणायाम का अभ्यास बार-बार करना चाहिये।

।।षष्ठ खण्ड समाप्त।।

सप्तम खण्ड

अथासनदृढो योगी वशी मितहिताशनः सुषुम्नानाडीस्थमलशोधनार्थं योगी बद्धपद्मासनो वायुं चन्द्रेण आपूर्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा सूर्येण रेचयित्वा पुनः सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण विरेच्य यया त्यजेत् तया सम्पूर्य धारयेत्।

बहुत समय तक एक ही आसन पर बैठे रहने वाले इन्द्रिय संयमी योगी को हितकारी मिताहार करना चाहिये। सुषुम्ना नाड़ी का मल दूर करने के लिये उसे पद्मासन में बैठकर नाड़ी शोधन प्राणायाम करना चाहिये। इसके लिये सबसे पहिले चन्द्र स्वर अर्थात् नाक के बांये स्वर से वायु फेफड़ों में भरकर और इसे यथाशक्ति रोककर सूर्य स्वर से अर्थात् नाक के दांये स्वर से धीरे-धीरे निकालना चाहिये। फिर सूर्य स्वर से ही वायु भरकर इसे यथाशक्ति रोककर चन्द्र स्वर से निकाल देना चाहिये। इस प्रकार नाक के जिस स्वर से प्राणवायु निकाली जाय उसी स्वर से भरकर रोककर दूसरे स्वर से निकालनी चाहिये।

प्राणायाम में पूरक, कुम्भक और रेचक का अनुपात १:४:२ होना चाहिये। यह संकेत पिछले प्रकरण में भी किया जा चुका है।

तदेते श्लोका भवन्तिः–

नाडीशोधन प्राणायाम से सम्बद्ध श्लोक इस प्रकार हैं–

प्राणं प्रागिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत् पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्धवा त्यजेद्वामया।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वताम् शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः।।१।।

प्राणायाम के प्रारम्भ में प्राणवायु को इडा नाड़ी अर्थात् बांये सुर से भरकर यथाशक्ति रोककर पिङ्गला नाड़ी अर्थात् दांये स्वर से निकाल देना चाहिये। अब पिंगला नाड़ी से श्वास भरकर और रोककर बांये स्वर से निकालना (रेचन) चाहिये। इस प्रकार सूर्य और चन्द्र स्वरों से नाडीशोधन प्राणायाम का अभ्यास सदा करने से संयमी पुरुषों की नाड़ियाँ तीन महीने में शुद्ध या साफ हो जाती हैं।

प्रतिदिन प्राणायामों की संख्या

प्रातर्मध्यन्दिनं सायमर्धरात्रे तु कुम्भकान्।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्ययसेत्।।२।।

सवेरे, दोपहर, शाम और आधी रात में चार बार कुम्भक प्राणायाम अस्सी बार तक करने चाहियें। प्राणायामों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिये।

प्राणायाम में प्रगति

कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तिष्ठति उत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं महत्।।३।।

पद्मासन में प्राणायाम का अभ्यास करने पर जब श्वास कुछ देर तक रोके रखने का अभ्यास हो जाता है तब शरीर में पसीना आने लगता है। प्राणायाम में प्रगति की यह पहली अवस्था होती है। प्राणवायु रोकने का अभ्यास और अधिक बढ़ने पर शरीर में कंपकपी आने लगती है। यह स्थिति लगभग डेढ़-दो मिनट तक कुम्भक होने पर आती है। कुम्भक की अवधि और अधिक बढ़ने पर सारा शरीर अचानक उछल जाता है।

इस अवस्था में शून्यावस्था भी आती है अर्थात् योगी को अपने शरीर की सुध नहीं रहती। कुम्भक का अभ्यास तीन मिनट से अधिक बढ़ने पर यह अवस्था आती है। कुम्भक का अभ्यास अत्यधिक बढ़ने पर आसन उत्त्थान की अवस्था आती है अर्थात् योगी का सारा शरीर आकाश में उठ जाता है। सुनने में यह अवस्था काल्पनिक लगती है किन्तु आसन उत्त्थान सिद्ध योगी कहीं न कहीं अवश्य मिलते हैं।

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्।
दृढता लघुता चापि तस्य गात्रस्य जायते।।४।।

प्राणायाम में आये पसीने से योगी को अपना शरीर मलना चाहिये। इससे उसका शरीर मजबूत और हल्का हो जाता है।

अभ्यास के समय भोजन का नियम

अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्य भोजनम्।
ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तावत् नियमग्रहः।।५।।

प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करने पर साधक को दूध और चावल का भोजन करना चाहिये। प्राणायाम का अभ्यास बढ़ने पर आहार में इस प्रकार का नियम नहीं रहता, परन्तु अच्छा यही रहता है कि साधक लम्बे समय तक आधा दूध और आधा पानी मिलाकर सेवन करे। इससे प्राणायाम में प्रगति जल्दी होती है।

प्राणायाम के अभ्यास में सावधानी

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद् वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्।।६।।

जैसे शेर, हाथी, बाघ आदि जंगली जानवरों को धीरे-धीरे वश में किया जाता है उसी प्रकार प्राणवायु पर धीरे-धीरे अधिकार करना चाहिये। प्राणायाम के अभ्यास में धैर्य न रखने पर और जल्दबाजी करने से साधक के शरीर में कम्प आदि अनेक रोग हो जाते है और साधक का शरीरान्त भी हो सकता है। इसलिये प्राणवायु जब तक सुषुम्ना नाड़ी में नहीं चलने लगता तबतक प्राणायाम के अभ्यास में बहुत सावधानी बरतनी चाहिये। प्राणायाम की उचित विधि इस प्रकार है:–

युक्तं युक्तं त्यजेद् वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत्।
युक्तं युक्तं बध्नीयात् एवं सिद्धिमवाप्नुयात्।।७।।

कुम्भक के बाद प्राणवायु को विधिपूर्वक धीरे-धीरे इस प्रकार निकालना चाहिये कि शरीर में किसी भी प्रकार का झटका न लगने पाये। प्राणवायु को युक्ति पूर्वक ही भरने और रोकने से योगी को प्राणायाम के अभ्यास में जल्दी ही सफलता मिल जाती है।

नाड़ीशुद्धि से मनोन्मनी अवस्था

यथेष्ट धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्।।८।।

नाड़ीशोधन प्राणायाम में काफी समय तक कुम्भक करने का अभ्यास

हो जाने पर भूख बढ़ जाती है, शरीर स्वस्थ हो जाता है और कानों में अनाहत नाद सुनाई देने लगता है।

विधिवत् प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद् विशति मारुतः।।९।।
मारुते मध्यसंचारे मनः स्थैर्यं प्रजायते।
यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी।।१०।।

विधि पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करने से शरीर की सभी नाड़ियों से मल निकल जाता है। नाडी-शुद्धि हो जाने पर प्राणवायु सुषुम्ना के बन्द द्वार या मुख को खोलकर सुषुम्ना में चलने लगता है। जालन्धर बन्ध, उड्डीयान बन्ध और मूलबन्ध तथा खेचरी मुद्रा के साथ विधिपूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करने पर ही शरीर की नस-नाड़ियों का मल नष्ट होता है। प्राणवायु के सुषुम्ना में चलने पर मन एकाग्र हो जाता है। भलीभांति मन एकाग्र होने की अवस्था ही उन्मनी अवस्था होती है।

तीन बन्धों का प्रयोग

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डीयानकः।।११।।

पूरक (श्वास भरने) के बाद जालन्धर बन्ध लगाना चाहिये। कुम्भक (श्वास रोकने) के बाद और रेचक (श्वास निकालते) शुरू करते समय उड्डीयान बन्ध लगाना चाहिये। पूरक के बाद जालन्धर बन्ध लगाना और कुम्भक के बाद तथा रेचक करते हुए उड्डीयान बन्ध लगाना सभी कुम्भक प्राणायामों में करने का नियम है। नाभि को पीठ से लगाकर उड्डीयान बन्ध किया जाता है।

अधस्तात् कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः।।१२।।

नीचे अर्थात् गुदा को सिकोड़कर मूलबन्ध लगाकर कण्ठकूप में ठोडी लगाकर अर्थात् जालन्धर बन्ध लगाकर और पेट में उड्डीयान बन्ध लगाकर

प्राणायाम करने से प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में चलने लगती है। यदि इन तीनों बन्धों के साथ खेचरी मुद्रा लगाकर कुम्भक प्राणायाम किया जाता है तो विशेष लाभ होता है।

प्राणापान मिलने का परिणाम

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत्।
योगी जराविमुक्तः सन् षोडशो वयसा भवेत्।।१३।।

मूलबन्ध लगाकर अपान वायु को ऊपर उठाकर और प्राणवायु को कण्ठ से नीचे ले जाकर जो योगी प्राणायाम का अभ्यास करता है, वह बुढ़ापे से छूटकर सोलह वर्ष की आयु वाले तरुण व्यक्ति जैसा हो जाता है।

'पूरकान्ते तु कर्तव्यः' और **'अधस्तात् कुञ्चनेन'** इन दो श्लोकों में बताया गया है कि कौन सा बन्ध कब लगाना चाहिये तथा मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध कैसे लगाने चाहियें। **'अपानमूर्ध्वमाकृष्य'** में इन तीनों बन्धों का लाभ बताया गया है। इन तीनों श्लोकों में उड्डीयान बन्ध लगाने की विधि नहीं बताई गई है। सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता के छठे अध्याय की व्याख्या में लिखा है कि मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध लगाने पर नाभि से नीचे का पेट स्वयं अन्दर खिंचने लगता है और उड्डीयान बन्ध लग जाता है।

कपाल शोधन

सुखासनस्थो दक्षनाड्या बहिःस्थं पवनं समाकृष्याकेशनखाग्रं कुम्भयित्वा सव्यनाड्या रेचयेत्। तेन कपालशोधनं वातनाडीगतसर्व-रोगविनाशनं भवति।।१३-१।।

सुखासन में अर्थात् पालथी मारकर बैठकर दांये स्वर से बाहर की वायु को खींचकर इस प्राणवायु को यथाशक्ति रोककर बांये स्वर से धीरे-धीरे निकालना चाहिये। यह कपाल शोधन क्रिया है अर्थात् इस प्राणायाम से सिर के आँख, नाक, कान, मस्तिष्क, गले सभी अंगों की शुद्धि हो जाती है और शरीर की नाड़ियों में विकृतवायु के रुकने से हुए सभी रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

उज्जायी प्राणायाम

हृदयादिकण्ठपर्यन्तं सस्वनं नासाभ्यां शनैः पवनमाकृष्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा इडया विरेच्य गच्छंस्तिष्ठन् कुर्यात्। तेन श्लेष्महरं जठराग्निवर्धनं भवति।।१३-२।।

नाक के दोनों स्वरों से शब्द करते हुए धीरे-धीरे इतना श्वास भरना चाहिये कि हृदय से लेकर गले तक प्राणवायु भर जाय। इसे यथाशक्ति रोककर बांये सुर से धीरे-धीरे निकाल देना चाहिये। यह उज्जायी प्राणायाम चलते-फिरते कभी भी और कहीं भी किया जा सकता है। इस प्राणायाम से कफ दूर हो जाता है और भूख बढ़ जाती है।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार उज्जायी प्राणायाम में मुँह बन्द करके दोनों सुरों से श्वास भरते हुए गले को सिकोड़ कर शब्द करते हुए वायु को मुँह से गले में और कण्ठ से हृदय तक ले जाना चाहिये। शरीर की नाड़ियों के दोष, जलोदर रोग और शरीर की धातुओं में उत्पन्न सभी विकार उज्जायी प्राणायाम से नष्ट हो जाते हैं। यह प्राणायाम बैठकर या चलते-फिरते हुए भी किया जा सकता है।

घेरण्ड संहिता के अनुसार उज्जायी प्राणायाम करने से कफ से उत्पन्न रोग, अपचन, वायु विकार, आमवात, तपेदिक, खांसी, बुखार और तिल्ली की खराबी के रोग नहीं होते।

सीत्कारी प्राणायाम

वक्त्रेण सीत्कार पूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्। तेन क्षुत् तृष्णा आलस्य निद्रा न जायन्ते।।१३-३।।

सी-सी की आवाज करते हुए मुँह से श्वास भरनी चाहिये। इसे यथाशक्ति रोककर नाक के दोनों सुरों से धीरे-धीरे निकालना चाहिये। सीत्कारी प्राणायाम करने से भूख-प्यास नष्ट हो जाती है और शरीर में आलस्य तथा नींद नहीं आती है।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार दोनों ओठों के बीच में जीभ लाकर सी-सी शब्द करते हुए मुँह से श्वास भरना चाहिये। सीत्कारी प्राणायाम का

अभ्यास करने से शरीर रूप और लावण्य से सम्पन्न होकर कामदेव जैसा सुन्दर हो जाता है। सीत्कारी प्राणायाम से शरीर में शीतलता आती है इसलिये यह प्राणायाम सर्दियों में नहीं करना चाहिये। कफ प्रकृति वाले मनुष्यों को भी सीत्कारी और शीतली प्राणायाम नहीं करने चाहियें।

शीतली प्राणायाम

जिह्वया वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्। तेन गुल्मप्लीहद् ज्वर पित्तक्षुधादीनि नश्यति।।१३-४।।

दोनों ओठों से जीभ बाहर निकाल कर और इसे पक्षी की चोंच जैसा पतला और नोकीला बनाकर वायु खींचनी चाहिये। इस प्रकार पूरक करके थोड़ी देर तक कुम्भक कर नाक के दोनों सुरों से वायु को धीरे-धीरे निकालना चाहिये। पेट की गांठ (रसौली), जिगर-तिल्ली आदि के रोग, बुखार, पित्त-विकार, भूख-प्यास और सांप आदि विषैले जन्तुओं के विष शीतली प्राणायाम के अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं।

दो प्रकार के कुम्भक प्राणायाम

अथ कुम्भकः स द्विविधः सहितः केवलश्चेति। रेचक पूरक युक्त सहितः। तद् वर्जितः केवलः। केवल सिद्धिपर्यन्तं सहितमभ्यसेत्। केवलकुम्भके सिद्धे त्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति। केवलकुम्भकात् कुण्डलिनी बोधो जायते।।१३-५।।

कुम्भक प्राणायाम दो प्रकार का होता है– सहित कुम्भक और केवल कुम्भक। जो कुम्भक प्राणायाम रेचक-पूरक के साथ किया जाता है वह सहित कुम्भक होता है। रेचक और पूरक से रहित केवल कुम्भक प्राणायाम होता है। केवल कुम्भक प्राणायाम में श्वास चाहे अन्दर हो या बाहर उसे वहीं रोक देना होता है और श्वास-प्रश्वास बन्द रखना होता है। केवल कुम्भक प्राणायाम का भली भांति अभ्यास होने तक रेचक -पूरक के साथ सहित कुम्भक करते रहना चाहिये। केवल कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास अच्छी तरह हो जाने पर योगी के लिये तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। केवल कुम्भक का अभ्यास करने से कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है।

कुम्भक अभ्यास का फल

ततः कृशवपुः प्रसन्नवदनो निर्मललोचनोऽभिव्यक्तनादो निर्मुक्तरोगजालो जितबिन्दुः पट्वग्निर्भवति।।१३-६।।

केवल कुम्भक के अभ्यास से योगी का शरीर छरहरा हो जाता है। उसके मुख पर सन्तोष की प्रसन्नता छाई रहती है। उसकी आँखें निर्मल हो जाती हैं। उसके शरीर में अनाहत नाद सुनाई देने लगता है। उसके शरीर के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। उसका वीर्यपात नहीं होता और उसके शरीर की उष्णता या जीवनीशक्ति बढ़ जाती है।

वैष्णवी मुद्रा

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।१४।।

वैष्णवी मुद्रा से प्राणलय होता है और प्राणलय से चित्त का लय होता है। शरीर के मूलाधार से लेकर सहस्रार चक्र या ब्रह्मरन्ध्र तक किसी भी आन्तरिक चक्र पर अन्त:करण एकाग्र करके और आँखों की पलकें झपके बिना ही किसी बाह्यलक्ष्य पर दृष्टि एकाग्र कर ध्यान करने का अभ्यास वैष्णवी मुद्रा कहलाता है। सभी शास्त्रों में यह मुद्रा गुप्तरूप से वर्णित है।

खेचरी मुद्रा से ब्रह्मदर्शन

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि। मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा शून्याशून्य विवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवी।।१५।।

अपने शरीर के अन्दर किसी चक्र में योगी का मन एकाग्र हो जाने पर ध्येय लक्ष्य में प्राणवायु सहित मन लीन हो जाता है और उसकी अपलक तथा स्थिर दृष्टि, आँखें खुली रहने पर भी बाह्य जगत् को या नीचे पड़ी हुई किसी वस्तु को नहीं देखतीं। एक ही लक्ष्य में एकतान लगी रहने वाली यह कल्याणकारिणी खेचरी मुद्रा होती है।

एकतान चित्त का अभिप्राय है कि जिस स्थान (ध्येय) पर चित्त लगा

हुआ है उसी पर चित्त का लगे रहना तथा बीच में किसी और वृत्ति या विचार का चित्त में न उठना। इस खेचरी मुद्रा के निरन्तर अभ्यास के बाद योगी अपने अन्तःकरण में स्फुरित (प्रकट) अत्यन्त कल्याणमय तत्त्व परब्रह्म को साक्षात् करता है। यह तत्त्व बड़ा विचित्र है। यह न तो शून्य है और न ही अशून्य अर्थात् ध्येयाकार वृत्ति होने के कारण शून्य से विचित्र और अन्त में ध्येयाकार वृत्ति का भी अभाव हो जाने के कारण अशून्य से भी विलक्षण वास्तविक परम तत्त्व है। हठयोगप्रदीपिका में वैष्णवी मुद्रा को शाम्भवी मुद्रा कहा गया है।

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पन्द भावेन यः।
ज्योतीरूपमशेषबाह्य रहितं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत् परमस्ति वस्तुविषयं शाण्डिल्य विद्धीह तत्।।१६।।

आधी खुली आँखों से नाक के अगले भाग पर दृष्टि जमाकर, या नाक से बारह अंगुलि दूर तक एकटक दृष्टि लगाकर तथा शरीर, इन्द्रियों और मन को निश्चल या स्थिर रखकर, चन्द्र और सूर्य नाड़ियों में बहने वाली प्राणवायु को भी लीन करके अर्थात् बहुत सूक्ष्म बनाकर नाक के अन्दर ही हल्का श्वास-प्रश्वास करते हुए मन को एकाग्र करके योगी; ज्योति स्वरूप अर्थात् सारे संसार को प्रकाशित करने वाली सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पादक, प्रत्येक दृष्टि से परिपूर्ण, स्वयं प्रकाशमान, सारे विश्व की साक्षी स्वरूप उस वास्तविक सर्वोत्कृष्ट सत्ता को साक्षात् प्राप्त करता है। हे शाण्डिल्य! तुम भी इस परम तत्व को जानो।

यहाँ पर **चन्द्रार्कौ अपि का** भाव यह भी है कि इडा और पिंगला नाड़ियों में चलने वाली प्राणवायु को मानसिक शक्ति के तेज से सुषुम्ना में लीन कर देने पर योगी अपने अन्दर-बाहर का सब कुछ भुला देने वाली ब्रह्मानन्द की नदी में बहने लगता है।

उन्मनीमुद्रा

तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयन्भ्रुवौ।
पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्।।१७।।

नाक के अगले भाग पर जो चमक दिखाई देती है वहाँ पर दृष्टि एकाग्र करके दोनों भौंहों को थोड़ा सा उठाना चाहिये। वैष्णवी और खेचरी आदि मुद्राओं के अभ्यास की तरह मन को शरीर के अन्दर किसी चक्र पर एकाग्र करना चाहिये। इस तरह का अभ्यास उन्मनी मुद्रा कहलाता है। उन्मनी मुद्रा का अभ्यास करने से जल्दी ही उन्मनी अवस्था आ जाती है। सुषुम्ना नाड़ी में प्राणवायु की गति होने पर मन एकाग्र हो जाने या मन का लय हो जाने की अवस्था मनोन्मनी या उन्मनी अवस्था कहलाती है।

तस्मात् खेचरीमुद्रामभ्यसेत्। तत उन्मनी भवति। ततो योगनिद्रा भवति। लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः कालो नास्ति।।१७-१।।

इसलिये खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। खेचरी मुद्रा के अभ्यास से उन्मनी अवस्था आने के बाद योगनिद्रा आ जाती है। योगनिद्रा में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है और मन या चित्त अपने ध्येय विषय में एकाग्र हो जाता है। योगनिद्रा प्राप्त योगी के लिये काल नष्ट हो जाता है।

ब्रह्म प्राप्ति का साधन

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम्।
मनसा मन आलोक्य शाण्डिल्य त्वं सुखी भव।।१८।।

कुण्डलिनी शक्ति में मन एकाग्र करके और कुण्डलिनी शक्ति को मन से परिपूर्ण करके अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति पर ध्यान केन्द्रित करके कुण्डलिनी शक्ति को मन के साथ मिलाकर सोई हुई कुण्डलिनी को जगाकर मन अर्थात् अन्तःकरण से बुद्धि को देखकर अर्थात् मन के द्वारा बुद्धि को वश में रखकर मन में परमात्मा के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप का ध्यान करके हे शाण्डिल्य! तुम सुखी हो जाओ।

खमध्ये कुरु चात्मानम् आत्ममध्ये च खं कुरु।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तय।।१९।।

ख अर्थात् आकाश स्वरूप पूर्णब्रह्म में अपने आत्मा का स्वरूप मिला देना चाहिये और अपने आत्मस्वरूप में पूर्ण ब्रह्म को मिला देना चाहिये।

इस प्रकार अपने को और समस्त जगत को ब्रह्ममय या ब्रह्म से परिपूर्ण बनाकर कुछ भी नहीं सोचना चाहिये।

'अहं ब्रह्मास्मि', 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इन महावाक्यों की भावना निरन्तर करने से साधक का मन, बुद्धि और आत्मा, ब्रह्ममय बन जाता है। उसे सब ओर ब्रह्म का अस्तित्व अनुभव होने लगता है।

मन के लय से ब्रह्म प्राप्ति

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका।
सर्वचिन्तां परित्यज्य चिन्मात्रपरमो भव।।२०।।

समाधिस्थ योगी को बाह्य संसार के विषय भोगों के बारे में नहीं सोचना चाहिये। उसे मन में निरन्तर उठने वाली कल्पनाओं, आशाओं और कामनाओं के बारे में भी नहीं सोचना चाहिये। बाह्य संसार की और मन की सभी प्रकार की चिन्ताएँ और संकल्प-विकल्प त्याग कर योगी को परवैराग्य के द्वारा आत्माकार वृत्ति को भी त्याग देना चाहिये। आत्माकार वृत्ति त्याग देने पर स्वरूपावस्थिति रूप जीवन्मुक्ति हो जाती है। सभी चिन्ताएँ छोड़कर योगी को चैतन्य स्वरूप ब्रह्म का ही ध्यान करते रहना चाहिये।

कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा।
तथा च लीयमानं सन् मनस्तत्त्वे विलीयते।।२१।।

जैसे कपूर को आग में डालने पर कपूर, आग से मिलकर अपना स्वरूप छोड़ देता है और आग ही बन जाता है। जैसे सेंधा नमक पानी में घुलकर अपना आकार त्यागकर पानी जैसा हो जाता है। उसी तरह परम तत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्व में मन को लगा देने से मन भी आत्माकार अर्थात् परमात्मतत्वमय हो जाता है।

ज्ञेयं सर्वप्रतीतं च तज्ज्ञानं मन उच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः।।२२।।

इस जगत में जो कुछ भी जानने योग्य (ज्ञेय) लग रहा है, वह सब और इन पदार्थों का ज्ञान; मन के संकल्प-विकल्पों के कारण ही हो रहा है। किन्तु मन के परमात्मतत्त्व में लीन हो जाने पर यह सारा दृश्य जगत (ज्ञेय)

और इसका ज्ञान एक ही साथ नष्ट हो जाता है। सांसारिक पदार्थों और उनके ज्ञान के नष्ट हो जाने पर योगी के अन्तःकरण में ब्रह्मभाव के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु या भावना शेष नहीं रह जाती।

ज्ञेयवस्तु परित्यागात् विलयं याति मानसम्।
मानसे विलयं याते कैवल्यमवशिष्यते।।२३।।

इस दृश्य जगत की जानने योग्य (ज्ञेय) वस्तुओं का विचार मन से निकाल देने पर मन परम-ब्रह्म में लीन हो जाता है। मन के ब्रह्मतत्व में लीन (लय) हो जाने पर कैवल्य अर्थात् आत्मा का अद्वितीय (दूसरे से रहित) शुद्ध स्वरूप बच रहता है।

योग और ज्ञान से मनोलय

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं मुनीश्वर।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्।।२४।।

हे मुनीश्वर! मन को नष्ट या लय करने के दो ही साधन हैं योग और ज्ञान। योग का अभिप्राय है मन की वृत्तियों पर लगाम लगा देना और ज्ञान का अभिप्राय है संसार की तथा अध्यात्म विद्या की पूरी तरह समीक्षा करना।

तस्मिन् निरोधिते नूनमुपशान्तं मनो भवेत्।
मनःस्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते।।२५।।
सूर्यालोक परिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा।

मन की वृत्तियों को रोक देने से मन निश्चय ही शान्त हो जाता है। मन की भाग-दौड़ समाप्त हो जाने पर इस संसार की सत्ता योगी के लिये नष्ट हो जाती है।

जैसे सन्ध्या के समय सूर्य का प्रकाश न रहने पर प्राणियों की गतिविधि और काम काज बन्द हो जाते हैं।

मन के लय से प्राणस्पन्द का निरोध

शास्त्रसज्जनसम्पर्क वैराग्याभ्यासयोगतः।।२६।।
अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वं संसारवृत्तिषु।

यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात्।।२७।।
एकतत्त्वदृढाभ्यासात् प्राणस्पन्दो निरुध्यते।

शास्त्रों के स्वाध्याय, सज्जनों की संगति, वैराग्य और योगाभ्यास से अनास्था में अर्थात् निवृत्ति मार्ग में विश्वास जम जाने पर ब्रह्म ही सत्य है और यह संसार मिथ्या है (ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या) यह ज्ञान हृदय में प्रकट हो जाता है। अपने मन के अनुकूल ध्येय या लक्ष्य पर दीर्घकाल तक ध्यान करने से अपने इष्ट ध्येय के साथ एकत्व की भावना से अन्त:करण व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर के किसी एक ही रूप के आध्यात्मिक भाव में या धारणा में अर्थात् एकरूप आलम्बन में ध्यान करने के अभ्यास से या एकतत्त्व दृढ़ाभ्यास से प्राणवायु की हलचल रुक जाती है एकतत्त्व-अभ्यास का अर्थ है किसी इष्ट तत्त्व में चित्त लगाना। प्रधान तत्त्व ईश्वर पर मन को लगाना, ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर की निरन्तर उपासना एकतत्त्वाभ्यास कहलाता है। ईश्वर विषयक किसी एक तत्त्व को लेकर अभ्यास करने से चित्त के विक्षेप नष्ट हो कर चित्त निर्मल और एकाग्र हो जाता है। चित्त की संस्कार वृत्ति के उदय के प्रति प्रतिक्षण ध्यान रखने से एकतत्त्वाभ्यास सुगम हो जाता है।

एकतत्त्व का अभ्यास

योग साधना के अन्तराय या विघ्न ये नौ हैं– **व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व।**

ये नौ विघ्न रहने से चित्त स्थिर नहीं हो सकता अपितु चंचल होता है। इन नौ अन्तरायों के अतिरिक्त चित्त में विक्षेप उत्पन्न करने वाले चार प्रकार के विघ्न भी हैं जो इस प्रकार हैं—

दुख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास-प्रश्वास।

ये विघ्न भी योगाभ्यास में साधक की प्रगति नहीं होने देते।

इन अन्तरायों और विघ्नों को दूर करने के लिये महर्षि पतञ्जलि ने एक तत्त्व के अभ्यास का आदेश दिया है। एकतत्त्वाभ्यास में किसी मनोरम

या प्रीतिकर तत्व का ध्यान करना चाहिये। ध्यान के समय मन किसी दूसरी वस्तु की ओर नहीं जाने देना चाहिये और ध्येय पदार्थ पर ही रोके रखना चाहिये। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि किसी भी विषय वस्तु पर इन्द्रियों को नहीं लगाना चाहिये। इससे मन चंचल हो जाता है। भगवान के गुणों पर ही ध्यान लगाना अच्छा है। ध्यान स्थूल वस्तु से शुरू करके सूक्ष्म वस्तु पर लगाने का नियम है। ईश्वर द्वारा बनाये इस विराट् और विस्मयजनक विश्व का समग्र स्थूल रूप में ध्यान करने का विधान है। मनुष्य द्वारा बनाई गई किसी वस्तु पर ध्यान करने से उल्टा फल होता है। एकतत्त्वाभ्यास में भगवत् तत्त्व ही सर्वोत्तम है। इससे शारीरिक यन्त्र और क्रियाएँ एकतान में आ जाती हैं। शरीर और इन्द्रियों से भगवान द्वारा निर्दिष्ट कर्म करने से और उनके प्रति ध्यान रखने से एकतत्त्वाभ्यास हो जाता है। आसन, मुद्रा और प्राणायाम आदि के साथ-साथ शरीर, मन और श्वास-प्रश्वास को स्थिर रखने से चित्त के विक्षेप नष्ट हो जाते हैं। भगवान के प्रति श्रद्धा-भक्ति न रखने से ईश्वर तत्त्व या एक तत्त्व लाभ करना कठिन है। ईश्वर में एकतत्त्वाभ्यास करना ही सर्वोत्तम है।

पूरकाद्यनिलायामाद्दृढाभ्यासादखेदजात्।।२८।।
एकान्तध्यान योगाच्च प्राणस्पन्दो निरुध्यते।

रेचक, पूरक और कुम्भक के साथ प्राणायाम का अभ्यास दीर्घकाल तक करने से और एकान्त स्थान में ध्यान करने से प्राणों की गति सूक्ष्म हो जाती है।

सूक्ष्म प्राणायाम

स्वाभाविक रूप से श्वास निकालने के समय प्रश्वास वायु नाक से लगभग बारह अंगुलि तक बाहर जाता है। नाड़ी शोधन के अभ्यास से प्रश्वास वायु १२ अंगुलि से घटकर ११, १०, ९, ८ अंगुलि तक बाहर जाने लगता है और अन्त में नाक से बाहर आता ही नहीं। नाक के अन्दर ही प्रश्वास वायु समाप्त हो जाता है। प्राणायाम में जब श्वास-प्रश्वास नाक से बाहर आता ही नहीं, नाक के अन्दर ही रहता है और कुम्भक करने या

श्वास रोकने में अधिक कष्ट होता ही नहीं इसी का नाम सूक्ष्म प्राणायाम है। सूक्ष्म प्राणायाम या प्राणस्पन्द का निरोध होने से मन की एकाग्रता बढ़ती जाती है।

प्राणायाम के लाभ

प्राणायाम के प्रभाव से शरीर और इन्द्रियों का आलस्य छूट जाता है। तमोगुण की प्रवृत्ति, तन्द्रा और निद्रा भी नष्ट हो जाती है। थोड़ी देर तक सोने पर भी शरीर को कष्ट नहीं होता। शरीर की कार्यशक्ति बढ़ जाती है। मन; मोहशून्य हो जाता है और बुद्धि स्वच्छ होती है। विचार-शक्ति और विवेक-शक्ति बढ़ती है। विवेक-शक्ति बढ़ने से तत्त्व-ज्ञान और सूक्ष्म दर्शन होने लगता है। मिथ्या ज्ञान और विषम ज्ञान नष्ट होकर शुद्ध ज्ञान उदित होता है।

प्राणायाम से हमारे शरीर, इन्द्रियों, मन और चित्त की मलिनता और अशुद्धि नष्ट हो जाती है और विशुद्धि की भावना उदित होती है। स्वाभाविक स्थिति में हमारी आँख, कान आदि इन्द्रियों में मलिनता रहती है। इसलिये हमारी इन्द्रियाँ दुर्बल हैं। इनकी मलिनता नष्ट हो जाने पर हमारी इन्द्रियाँ शक्ति सम्पन्न हो जाती हैं और इनको प्रकृति की सूक्ष्म वस्तुओं को देखने की शक्ति मिलती है। तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि के तन्मात्र (सूक्ष्म स्वरूप) देखने की भी शक्ति मिलती है। दूर दर्शन और दूर श्रवण आदि की शक्ति भी उत्पन्न होती है। जब तक इन्द्रियों में मलिनता रहेगी तब तक दूरदर्शन आदि की अतीन्द्रिय शक्ति प्राप्त नहीं होती है। प्राणायाम से इन्द्रियों की मलिनता नष्ट हो जाती है और सूक्ष्म तत्वों का दर्शन होता है।

प्राणों का गतिविच्छेद

रेचक के बाद पूरक न करना और पूरक के बाद रेचक न करना ही गति-विच्छेद कहलाता है। गति-विच्छेद में श्वास-प्रश्वास बन्द किया जाता है। श्वास-प्रश्वास का गति-विच्छेद बाहर होता है और चित्त का गति-विच्छेद अन्दर होता है। चित्त सदा चंचल रहता है। चित्त की चंचलता का नाम ही

चित्त की गति है। श्वास-प्रश्वास स्थिर होने से प्राणशक्ति का गतिविच्छेद होता है और चित्त स्थिर होने से चित्त का गति-विच्छेद होता है। जिस समय कुम्भक होगा, उसी समय अन्दर चित्त को भी स्थिर रखना होगा। प्राण शक्ति ही चित्त को चंचल करती है। चित्त को स्थिर करना और प्राणशक्ति को स्थिर करना एक ही बात है। बाहर कुम्भक के द्वारा प्राणशक्ति को स्थिर किया जाता है और भीतर चित्त को स्थिर करके प्राणशक्ति को स्थिर किया जाता है। ध्यान के द्वारा चित्त को स्थिर रखना या चित्त को बिल्कुल शून्यवत् रखना आवश्यक है। यदि कुम्भक के समय चित्त में चंचलता रहे तो विविध चिन्ताएँ आकर चित्त पर आक्रमण करती हैं अत: इससे सुफल के बदले कुफल ही होगा। इससे अनिष्ट की भी आशंका रहती है। इसलिये बाहर जैसे कुम्भक करना वैसे ही भीतर भी चित्त को पूरी तरह स्थिर रखना है। प्राणशक्ति को अन्दर और बाहर दोनों तरफ से रोकना या गतिहीन करना पड़ेगा। तब ही प्राणायाम हो जायेगा।

ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभवात्।
सुषुप्ते संविदा जाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।२९।।

कांसे का घण्टा बजने के बाद जारी गूंज की तरह प्लुत अर्थात् ऊँचे और दीर्घ स्वर से प्रणवनाद का उच्चारण करने से या प्रणवनाद की सर्वोत्कृष्ट अवस्था का अनुसन्धान करने से बाहर के और मन के विविध प्रकार के ज्ञानों का प्रवाह रुक जाता है अथवा विषयज्ञान का प्रवाह सुषुप्त हो जाता है। प्रणवजप की ऐसी अवस्था में भी प्राणस्पन्द या प्राणशक्ति रुक जाती है।

ईश्वर वाचक प्रणव या ओ३म् का जप करने के लिये 'ओ' कार का थोड़े समय तक एवं 'म' कार का प्लुत वा दीर्घ तथा एकतान भाव से उच्चारण करना चाहिये। परन्तु बोलकर उच्चारण करने की अपेक्षा पूर्णत: मानसिक उच्चारण ही श्रेष्ठ है। जिस जप में जिह्वा थोड़ी सी भी नहीं हिलती वही उत्तम जप होता है। प्रणवादि मन्त्रों का नियमित ओर दीर्घकाल तक जप करने से मन लीन हो जाता है। प्रणवमन्त्र अर्थात् ओंकार का जप और साथ-साथ उसके अर्थ का ध्यान करना ही उपासना है। सदा प्रणवजप और

प्रणव का अर्थ करते-करते जब चित्त निर्मल हो जाता है तब प्रत्यक्-चैतन्य अर्थात् शरीर के अन्दर आत्मा के विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। तब किसी प्रकार का विघ्न नहीं होता और निर्विघ्न जप से समाधि लाभ होता है।

शुरू में जप और ध्यान टूट जाता है। इससे निराश नहीं होना चाहिये। धैर्य के साथ जप और उसकी अर्थभावना या ध्यान करने से आत्म-चेतना का उदय होगा। तब विषय-भोग में अरुचि आ जायेगी। मन्त्र का जप, ईश्वर का ध्यान और समाधि साधना ही अच्छी लगेगी। ओंकार जप में शरीर बिल्कुल नहीं हिलता। शरीर निश्चल और स्थिर न होने से ध्यान या समाधि की स्थिति नहीं आती है।

ओंकार जप श्वास-प्रश्वास के साथ भी किया जा सकता है। श्वास और प्रश्वास के साथ जप करने में भी अर्थ भावना की जरूरत है। जिसके साथ हम दीर्घ काल तक रहते हैं वह अपना हो जाता है।

ओंकार जप और अर्थ भावना से ईश्वर का संग होता है और दीर्घकाल तक जप तथा उपासना करने से ईश्वर अपना बन जाता है। जिसके संग में हम रहते हैं उसके गुण भी हमें मिलते हैं। यदि हमारा चित्त भगवत् चिन्तन में लीन रहे और भगवान के नाम तथा मर्मार्थ का स्मरण करे अर्थात् निरन्तर जप करे तो हमारी चेतना विषयों को छोड़कर ईश्वराभिमुखीन हो जायेगी।

तालुमूलगतां यत्नात् जिह्वयाक्रम्य घण्टिकाम्।
ऊर्ध्वरन्ध्रं गते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।३०।।

तालु के अन्त में लटकते हुए कौए या छोटी जीभ को पार करके जीभ को नाक के छिद्रों के रास्ते ऊपर ले जाने पर भी प्राणस्पन्द रुक जाता है। खेचरी मुद्रा में जीभ को कौए के पार ले जाकर नाक के छेदों के रास्ते ऊपर भ्रूमध्य में पहुँचाया जाता है।

प्राणे गलितसंवित्तौ तालूर्ध्वं द्वादशान्तगे।
अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।३१।।

धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास बढ़ने पर और षण्मुखी मुद्रा का अभ्यास करने से साधक को बाह्य जगत् के विषयों का और मन में उठने वाले विचारों का ज्ञान नहीं रहता।

इस स्थिति में खेचरी मुद्रा के द्वारा जीभ को भ्रूमध्य में पहुँचाकर तालु

से ऊपर स्थित द्वादशान्त अर्थात् सहस्त्रार चक्र में जाने पर प्राणों की गति रुक जाती है।

द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे।
संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।३२।।

बहि: कुम्भक अर्थात् प्राणवायु को बाहर रोक कर रखने का अभ्यास करने से भी प्राणों पर अधिकार हो जाता है। श्वास छोड़ते समय प्राणवायु नाक से बाहर अंगुलि तक बाहर जाता है। नासाग्र के इस स्थान में जो स्वच्छ आकाश है वहाँ पर ध्यान करने से मन की चंचलता और मन के संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं और प्राणों की गति रुक जाती है।

भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।३३।।

भौंहों के बीच आज्ञाचक्र में आँखों की पुतली देखने का अभ्यास शान्त या समाप्त होने पर चेतना के एकतान हो जाने पर अर्थात् जिस स्थान पर चित्त लगा हुआ है उसी पर चित्त के लगे रहने पर तथा बीच में किसी और वृत्ति या विचार के चित्त में न उठने पर भी प्राणस्पन्द हो जाता है।

ओमित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं ज्ञेयात्मकं शिवम्।
असंस्पृष्ट विकारांशं प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।३४।।

ब्रह्मज्ञान से भी प्राणशान्ति हो जाती है। ओंकार के अर्थ पर विचार करने से उत्पन्न शुद्धज्ञान के उदय होने पर भी प्राणस्पन्द रुक जाता है।

चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने।
अवासनमनोध्यानात् प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।३५।।

ईश्वर का ध्यान करने से वासनाओं का नाश हो जाने पर भी प्राणस्पन्द हो जाता है। हृदय के एकान्त आकाश में अर्थात् चिदाकाश में बहुत समय तक ध्यानमग्न रहने पर यह अनुभूति होने लगती है कि चिदाकाश के अतिरिक्त कुछ भी वास्तविक नहीं है। यह ज्ञान होने पर मन की वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और केवल ध्येय ही की अनुभूति या साक्षात्कार होता है। तब भी प्राणस्पन्द रुक जाता है।

एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासंकल्पकल्पितैः।
नानादेशिक वक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुध्यते।।३६।।

उपरोक्त वर्णित उपायों तथा अन्य उपायों का दीर्घकाल तक अभ्यास करने से भी प्राणस्पन्द रुक जाता है।

कुम्भक प्राणायाम से सुषुम्ना भेद के द्वारा परमपद की प्राप्ति

आकुञ्चनेन कुण्डलिन्याः कवाटमुद्घाट्य मोक्षद्वारं विभेदयेत्।।३६-१।।

मूलबन्ध के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति पर दबाव डालकर सुषुम्ना का मुख खोलकर मोक्षद्वार अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र का भेद करना चाहिये। भावार्थ यह है कि केवल कुम्भक का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर प्राणवायु की गति रुक जाती है। यह अवस्था आने पर सुषुम्ना का मुँह बन्द करके सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है। कुण्डलिनी शक्ति मार्ग में आने वाले स्वाधिष्ठान आदि षट्चक्रों में से होती हुई **ब्रह्मरन्ध्र** में या सहस्त्रार चक्र में प्रविष्ट हो जाती है।

येन मार्गेण गन्तव्यं तद् द्वारं मुखेनाच्छाद्य प्रसुप्ता
कुण्डलिनी कुटिलाकारा सर्पवद् वेष्टिता भवति।।३६-२।।
सा शक्तिर्येन चालिता स्यात् स तु मुक्तो भवति। सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेत् योगिनां मुक्तये भवति। बन्धनाय अधो मूढानाम्।।३६-३।। इडादिमार्गद्वयं विहाय सुषुम्ना मार्गेण गच्छेत् तत् विष्णोः परमं पदम्।।३६-४।।

सुषुम्ना के जिस मार्ग से जन्म-मरण का दुख नष्ट करने वाले ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा जाता है उस द्वार को अपने मुख से रोककर सांप की भाँति कुण्डली मारकर कुण्डलिनी सोई रहती है। इस कुण्डलिनी शक्ति को मन एकाग्र करके और सावधानी के साथ प्राणायाम के अभ्यास से प्राण को वश में करके जगाया जाता है। जो योगी इस कुण्डलिनी शक्ति को जगा लेता है वह मुक्त हो जाता है।

गोरक्षपद्धति के अनुसार योगाभ्यास द्वारा प्राण और मन को वश में कर लेने पर कुण्डलिनी शक्ति; सुषुम्ना नाड़ी के रास्ते ब्रह्मरन्ध्र तक उसी

तरह चली जाती है जैसे सूई में पिरोया हुआ तागा कपड़े में। कुण्डलिनी सोये हुए साँप जैसी और कमलनाल के तन्तु जैसी अत्यन्त सूक्ष्म है। प्राणवायु के द्वारा अपान वायु की धौंकनी से प्रज्वलित कालाग्नि की गर्मी से मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है और सुषुम्ना के रास्ते ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है। जैसे चाबी से ताला खोलकर बन्द दरवाजा खोल दिया जाता है उसी तरह योगी कुण्डलिनी शक्ति को ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचाकर मोक्ष का मार्ग खोल देता है।

यह कुण्डलिनी शक्ति यदि कण्ठ से ऊपर अर्थात् विशुद्ध चक्र को भेद करके और आज्ञाचक्र को पार करके ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर विश्राम करती है तो इस अवस्था को प्राप्त योगी की मुक्ति हो जाती है। यदि कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर इन तीन चक्रों में ही सक्रिय रहती है तो योगी जन्म-मरण के बन्धन में फंसा रहता है। इसका कारण यह है कि हमारे शरीर के उपरोक्त तीनों चक्र कामवासना के केन्द्र हैं और अधिकांश व्यक्ति सांसारिक व्यवहारों में जीवन भर फंसे रहते हैं। संसार के विषय भोग व्यक्ति को मोक्ष मार्ग पर जाने ही नहीं देते। जो योगी प्राणायाम, शक्तिचालन आदि मुद्राओं और मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध तथा जालन्धर बन्धों के अभ्यास से इडा और पिंगला नाड़ियों अर्थात् नाक के बांये और दांये स्वरों को सुषुम्ना में चलाने में सफल हो जाता है वह कुण्डलिनी शक्ति को ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा कर परमात्मा के परमपद को प्राप्त कर लेता है।

मन से युक्त प्राणवायु को सुषुम्ना में ले जाने की विधि

मरुदभ्यसनं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा।।३७।।

साधक को सभी प्रकार के प्राणायामों का अभ्यास एकाग्र मन से करना चाहिये। बुद्धिमान साधक को प्राणायाम करते हुए अपने मन को इधर-उधर नहीं भटकने देना चाहिये।

दिवा न पूजयेद् विष्णुं रात्रौ नैव प्रपूजयेत्।
सततं पूजयेद् विष्णुं दिवारात्रं न पूजयेत्।।३८।।

इस श्लोक में बताया गया है कि योगी को मानसिक शक्ति के साथ प्राणायाम करते हुए प्राणवायु को इडा और पिंगला नाड़ियों के मार्ग से हटाकर सुषुम्ना नाड़ी में चलाने का अभ्यास करना चाहिये।

साधक को मानसिक शक्ति के साथ विष्णु को अर्थात् प्राण को दिवा अर्थात् सूर्य नाड़ी या पिंगला नाड़ी में नहीं चलाना चाहिये। उसे प्राणवायु को रात्रि अर्थात् चन्द्र नाड़ी या इड़ा स्वर में भी नहीं चलाना चाहिये। इडा और पिंगला नाड़ियों के मार्गों को छोड़कर साधक को सुषुम्ना नाड़ी के महापथ में प्राणवायु को ले जाने का प्रयत्न करना चाहिये।

इसी प्रकार के श्लोक हठयोगप्रदीपिका और 'पवन स्वरोदय' में भी मिलते हैं।

खेचरी मुद्रा का अभ्यास

सुषिरो ज्ञानजनकः पञ्चस्रोतः समन्वितः।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा त्वं हि शाण्डिल्य तां भज।।३९।।

योगी शून्य में अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में खेचरी मुद्रा द्वारा प्राणवायु को ले जाने का अभ्यास करते हैं। सुषुम्ना नाड़ी में प्राणवायु के चलने पर मूलाधार, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार इन पाँच चक्रों में क्रमशः विश्व, विराट्, तुरीय आदि ब्रह्म सृष्टि के पाँच स्वरूपों का ज्ञान होता है। इसीलिये ब्रह्म का निर्विकल्प ज्ञान प्राप्त करने के लिये खेचरी मुद्रा लगाई जाती है क्योंकि खेचरी मुद्रा सिद्ध होने पर यह ज्ञान होता है।

सव्यदक्षिणनाडीस्थो मध्ये चरति मारुतः।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः।।४०।।

नाक के बांये और दांये स्वरों में अर्थात् इडा और पिंगला नाड़ियों में चलने वाला प्राणवायु जब मध्य नाड़ी में या सुषुम्ना नाड़ी में चलने लगता है तब सुषुम्ना नाड़ी में निस्सन्देह खेचरी मुद्रा लग जाती है।

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्।
तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम्।।४१।।

इडा और पिंगला नाड़ियों के बीच जो शून्य या खाली आकाश है

वहाँ भी प्राणवायु को ले जाया जाता है। यह खेचरी मुद्रा के अभ्यास से किया जाता है। खेचरी मुद्रा में जीभ को उलटकर नाक के सुरों के छिद्रों के रास्ते भ्रूमध्य में या आज्ञाचक्र में ले जाया जाता है। भ्रूमध्य में जो खाली स्थान या आकाश है वहाँ पर जीभ निरन्तर लगाये रखने का अभ्यास किया जाता है। इसी खाली स्थान के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है। आज्ञाचक्र की आकृति सफेद रंग के दो दलों या पंखुड़ियों के कमल जैसी है। इन दोनों पंखुड़ियों से पीनियल ग्लैण्ड (Pineal Gland) और पीयूष ग्रन्थि (Pituitavy Gland) का संकेत समझना चाहिये। आज्ञा चक्र पर मन तथा प्राण स्थिर हो जाने पर सम्प्रज्ञात समाधि लगने लगती है। मूलाधार चक्र से चलने वाली इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ आज्ञाचक्र पर मिल जाती हैं, अत: यह स्थान युक्त त्रिवेणी भी कहलाता है।

आज्ञा चक्र ही सभी शास्त्रों में हृदय-स्थल कहा गया है किन्तु मोटी बुद्धि वाले स्थूल हृदय को ही हृदय मानते हैं—

तदेव हृदयं नाम सर्व शास्त्रादिसम्मतम्।
अन्यथा हृदि किं चास्ति प्रोक्तं यत् स्थूलबुद्धिभिः।।

योग स्वरोदय

यह आज्ञा चक्र ही शिवनेत्र या दिव्य दृष्टि का साधन है।

चिन्तामणि

महाभारत के सौप्तिक पर्व में युद्ध समाप्त होने पर जब अश्वत्थामा ने शिविर में सोती हुई पाण्डव सेना और पाण्डवों के पुत्रों को मार डाला तब द्रौपदी आमरण अनशन पर बैठ गई। उसने पाण्डवों से कहा जब तक आप अश्वत्थामा को मारकर उसके मस्तक की मणि लाकर नहीं देंगे मैं अनशन नहीं तोडूँगी।

पाण्डवों ने जंगल में भटकते हुए अश्वत्थामा को पकड़ लिया। उन्होंने व्यास जी के कहने पर अश्वत्थामा को नहीं मारा किन्तु उसके मस्तक की मणि निकाल ली। यह मणि साधारण पत्थर का टुकड़ा नहीं थी। यह वह चिन्तामणि है जो प्रत्येक मनुष्य के माथे में होती है। सोचने-विचारने की शक्ति ही मनुष्य की विशेषता है। अश्वत्थामा के माथे से जिस मणि को

निकाल लेने की बात कही गई है वह वास्तव में उसकी पीनियल-ग्रन्थि का ही निकालना था। यह ग्रन्थि मनुष्यों के भ्रूमध्य में होती है।

सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बतले पुनः।
संस्थिता व्योमचक्रे सा मुद्रा नाम्ना च खेचरी।।४२।।

सूर्य और चन्द्र नाड़ियों या नाक के दांये और बांये स्वरों के बीच आधार या आश्रय (सहारे) से रहित जो खाली स्थान है वहाँ पर जीभ को ले जाने की क्रिया खेचरी मुद्रा कहलाती है।

व्योम चक्र अर्थात् कई आकाशों का समूह।

हठयोग के अनुसार हमारे शरीर में पाँच आकाश हैं जो भ्रूमध्य में मिलते हैं। ये इस प्रकार है:–

१ श्वेत वर्ण का ज्योतिरूप आकाश। २ रक्तवर्ण का प्रकाशस्वरूप आकाश। ३ धूम्रवर्ण (धुएँ के रंग) का महाकाश। ४ नीलवर्ण (नीले रंग) का तत्त्वाकाश और ५ विद्युत् वर्ण का सूर्य आकाश।

खेचरी मुद्रा की विधि

छेदनचालनदोहैः कलां परां जिह्वां कृत्वा दृष्टिं भ्रूमध्यभागे स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते। जिह्वा चित्तं च खे चरति तेनोर्ध्वजिह्वः पुमानमृतो भवति।।४२-१

जीभ की जड़ में नीचे का तन्तु (तांतुआ) काटकर, जीभ को हाथ की अंगुलियों से खींचकर और गाय के थन से दूध निकालने की तरह दुहकर इतना लम्बा कर लिया जाता है कि वह उलट कर नाक के सुरों में पहुँच कर भौंहों के बीच तक जाने लगती है। सिर के छेद में जीभ को उलटा करके डालने से खेचरी मुद्रा होती है। मन भ्रूमध्य के आकाश या खाली स्थान पर टिका रहता है। खेचरी मुद्रा का नियमित अभ्यास करने वाला योगी दीर्घजीवी होता है।

हमारे काग या छोटी जीभ के पीछे नाक के दोनों सुरों के सिरे हैं। जीभ को काग के पीछे ले जाकर इस छेद में पहुँचा कर खेचरी मुद्रा की

जाती है। इस छेद में गई हुई जीभ धीरे-धीरे ऊपर बढ़ती जाती है और दोनों भौंहों के बीच तक पहुँच जाती है।

अभ्यास के समय प्राणजय का उपाय

वाममूलपादेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्य ऊर्ध्वतो वायुं धारयेत्। तेन सर्वक्लेशहानिः। ततः पीयूषमिव विषं जीर्यति। क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वगादि दोषा नश्यन्ति। एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः।।४२-२।।

बांये पैर की एड़ी से योनिस्थान (गुदा और लिंग के बीच का स्थान) को दबाना चाहिये और दांया पैर सीधा फैलाकर इसकी अंगुलियों और पंजे को दोनों हाथों से पकड़ना चाहिये। अब जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध लगाकर प्राणवायु को सुषुम्ना में भेजने का प्रयत्न करना चाहिये। यह अभ्यास महामुद्रा कहलाता है। इस मुद्रा का अभ्यास करने से शरीर के सारे कष्ट दूर हो जाते हैं। यदि साधक विष भी खा ले तो वह भी अमृत की तरह पच जाता है। महामुद्रा के अभ्यास से तपेदिक, पेट आदि की गांठ, गुदा का फोड़ा, अपचन और चमड़ी के रोग नष्ट हो जाते हैं। यह महामुद्रा प्राणवायु को वश में करने का उपाय है और सभी प्रकार की मृत्यु को रोकने वाली है।

महाबन्ध

वामपाद पार्ष्णिं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणचरणं वामोरूपरि संस्थाप्य वायुमापूर्य हृदये चिबुकं निधाय योनिमाकृष्य मनोमध्ये यथाशक्ति धारयित्वा स्वात्मानं भावयेत्। तेनापरोक्षसिद्धिः।।४२-३।।

बांये पैर की एड़ी से योनिस्थान को दबाना चाहिये और दांया पैर बांये पैर की जांघ पर रखना चाहिये। पूरक प्राणायाम से प्राणवायु भरकर जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध लगा कर मन को सुषुम्ना नाड़ी पर यथाशक्ति एकाग्र करना चाहिये और मैं ही ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि) की भावना करनी चाहिये।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार प्राणवायु को यथाशक्ति रोककर धीरे-धीरे निकालना चाहिये। बांयी ओर से महाबन्ध का अभ्यास करने के बाद दांये पैर से योनि स्थान को दबाकर महाबन्ध लगाना चाहिये।

इसी प्रकार बांयी ओर से महामुद्रा का अभ्यास करने में बाद दांये पैर की एड़ी से योनिस्थान को दबाकर और बांया पैर फैलाकर महामुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। महामुद्रा और महाबन्ध का अभ्यास बांयी और दांयी ओर से समान संख्या में करना चाहिये। बांये पैर की एड़ी से योनिस्थान को दबाकर कुम्भक प्राणायाम के साथ महामुद्रा का अभ्यास करने से प्राणवायु शरीर के बांये भाग में रहता है। दांये पैर की एड़ी से योनिस्थान को दबाकर महामुद्रा का अभ्यास करने से प्राणवायु शरीर के दांये भाग में रहता है।

सिद्धपुरुष महामुद्रा का अभ्यास करते हैं क्योंकि इससे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से उत्पन्न शोक, मोह आदि दोष और बुढ़ापा, मृत्यु आदि शरीर के दोष भी नष्ट हो जाते हैं। इसी कारण श्रेष्ठ मनुष्य इसकी प्रशंसा करते हैं। इस मुद्रा को महामुद्रा इसीलिये कहते हैं क्योंकि इसके अभ्यास से मृत्यु आदि महान दोष शान्त हो जाते हैं–

महाक्लेशान् मरणादींश्च मुद्रयति शमयति इति महामुद्रा।

सभी रोगों को नष्ट करने की साधना विशेष धारणा

बाह्यात् प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम्।
नाभिमध्ये च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नतः।।४३।।
धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्या कालेषु वा सदा।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवेद्योगी गतक्लमः।।४४।।

बाहर के वायुमण्डल से प्राणवायु को भरकर इसे यत्नपूर्वक पेट में रोकना चाहिये। इस प्राणवायु को नाभि के बीच में, नाक के अगले भाग पर और पैर के अंगूठे पर मानसिक भावना द्वारा लगाना चाहिये। यह अभ्यास सन्ध्या के समय सदा करना चाहिये। इसे करने से योगी का शरीर सभी रोगों से छूट जाता है और योगी को योगाभ्यास करने में थकान नहीं होती।

नासाग्र आदि पर संयम करने से अनेक सिद्धियाँ

नासाग्रे वायु विजयं भवति। नाभिमध्ये सर्वरोगविनाशः।
पादाङ्गुष्ठधारणाच्छरीरलघुता भवति।।४४-१।।

नासाग्र पर संयम करने पर प्राणवायु पर विजय हो जाती है। 'संयम' योगशास्त्र का विशेष शब्द है। इसका अर्थ है किसी एक ही लक्ष्य या ध्येय में धारणा, ध्यान और समाधि का एक साथ अभ्यास। नाभि के मध्य में संयम करने पर सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। पैर के अंगूठे पर संयम करने से शरीर में हल्कापन आता है।

शीतली प्राणायाम

रसनाद् वायुमाकृष्य यः पिबेत् सततं नरः।
श्रमदाहौ तु न स्यातां नश्यन्ति व्याधयस्तथा।।४५।।

दोनों ओठों से जीभ बाहर निकाल कर और इसे पक्षी की चोंच जैसा नोकीला बनाकर वायु खींचनी चाहिये। इस प्रकार पूरक करके और थोड़ी देर कुम्भक करके नाक के दोनों सुरों से वायु को धीरे-धीरे निकालना चाहिये। शीतली प्राणायाम से परिश्रम करने की थकान नहीं होती और शरीर के रोग नष्ट हो जाते हैं।

सन्ध्ययोर्ब्राह्मणः काले वायुमाकृष्य यः पिबेत्।
त्रिमासात्तस्य कल्याणी जायते वाक् सरस्वती।।४६।।

सवेरे ब्राह्ममुहूर्त्त में और शाम को दिन-रात की सन्धि समय में जो विद्वान व्यक्ति शीतली प्राणायाम का अभ्यास तीन मास तक करता है तो उसकी वाणी कल्याणमयी हो जाती है और इस पर सरस्वती देवी विराजने लगती है।

एवं षण्मासाभ्यासात् सर्वरोग निवृत्तिः।
जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत्।
यः पिबेदमृतं विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते।।४७।।

शीतली प्राणायाम का छह महीने तक अभ्यास करने से शरीर के सभी रोग दूर हो जाते हैं।

जो विद्वान् जीभ से वायु खींचकर जीभ के अन्त में प्राणवायु को रोकता है और ब्रह्मरन्ध्र से झरने वाले अमृत रस का पान करता है उसका सदा कल्याण होता है।

आत्मन्यात्मानमिडया धारयित्वा भ्रुवोन्तरे।
विभेद्य त्रिदशाहारं व्याधिस्थोऽपि विमुच्यते।।४८।।

इडा नाडी से अर्थात् बांये सुर से प्राणवायु भरकर इस प्राणवायु को अपनी भौहों के बीच में ले जाकर और चन्द्रमण्डल को भेदकर जो अमृत रस पीता है ऐसा योगी बीमार होने पर भी मुक्त हो जाता है। सहस्रार से झरने वाला अमृत खेचरी मुद्रा द्वारा जीभ को भ्रूमध्य में लगाकर पीया जाता है।

नाडीभ्यां वायुमारोप्य नाभौ तुन्दस्य पार्श्वयोः।
घटिकैकां वहेद्यस्तु व्याधिभिः स विमुच्यते।।४९।।

जो योगी नाक के दोनों सुरों से प्राणवायु भरकर इस प्राणवायु को पेट में नाभि के दोनों ओर एक घड़ी तक रोकता है उसके सारे रोग नष्ट हो जाते हैं।

मासमेकं त्रिसन्ध्यं तु जिह्वयारोप्य मारुतम्।
विभेद्य त्रिदशाहारं धारयेत्तुन्दमध्यमे।।५०।।
ज्वराः सर्वेऽपि नश्यन्ति विषाणि विविधानि च।
मुहूर्त्तमपि यो नित्यं नासाग्रे मनसा सह।।५१।।
सर्वं तरति पाप्मानं तस्य जन्मशतार्जितम्।

तीन सन्ध्याओं अर्थात् प्रातः, सायम् और आधी रात के समय जो योगी एक महीने तक जीभ से वायु भरकर और खेचरी मुद्रा के द्वारा चन्द्र मण्डल को भेदकर अमृत रस का पान करता है तथा प्राणवायु को पेट में रोकता है उसके सभी प्रकार के ज्वर और विविध-प्रकार के विषों का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

जो साधक नासाग्र पर मन को एक मुहूर्त्त के लिये भी एकाग्र करता है उसके सैकड़ों जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। नासाग्र आदि में चन्द्र का स्थान माना गया है।

तारसंयमात् सकलविषयज्ञानं भवति।

तारक अर्थात अपनी प्रतिभा से उत्पन्न ज्ञान में संयम करने से सभी प्रकार का ज्ञान होता है।

पातञ्जल योग दर्शन के विभूतिपाद का अन्तिम सूत्र इस प्रकार है—

तारकं सर्व विषयं सर्वथाविषयम् अक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।। ३/५४

विवेक से उत्पन्न ज्ञान तारक, सर्वविषय, सर्वथा-विषय तथा अक्रम है।

तारक अर्थात् अपनी प्रतिभा से उत्पन्न ज्ञान सर्वविषय अर्थात् इस ज्ञान के द्वारा सभी कुछ जाना जा सकता है। सर्वथाविषय अर्थात् अतीत, अनागत तथा वर्तमान सभी विषयों के अवान्तर विषयों के साथ सर्वथा ज्ञान होता है। अक्रम अर्थात् एक ही क्षण में बुद्धि में आये हुए सर्वविषयों का सर्वथा ग्रहण होता है। यह विवेकज ज्ञान परिपूर्ण है।

नासाग्रे चित्तसंयमात् इन्द्रलोक ज्ञानम्।

नाक के अगले भाग पर मन का संयम करने से इन्द्रलोक का ज्ञान हो जाता है।

तदर्धश्चित्तसंयमात् अग्निलोकज्ञानम्।

नासाग्र से नीचे चित्तसंयम करने से अग्निलोक का ज्ञान होता है।

चक्षुषि चित्तसंयमात् सर्वलोकज्ञानम्।

दांयी आँख में चित्त संयम करने से सभी लोकों का ज्ञान होता है।

श्रोत्रे चित्तस्य संयमात् यमलोक ज्ञानम्।

दांये कान में चित्त का संयम करने से यमलोक का ज्ञान होता है।

तत्पार्श्वे संयमान्निर्ऋति लोक ज्ञानम्।

कान के पास चित्त संयम करने से निर्ऋति लोक का ज्ञान होता है।

पृष्ठ भागे संयमात् वरुणलोक ज्ञानम्।

पीछे के भाग में संयम करने से वरुण लोक का ज्ञान होता है।

वामकर्णे संयमात् वायुलोकज्ञानम्।

बांये कान में संयम करने से वायुलोक का ज्ञान होता है।

कण्ठे संयमात् सोमलोकज्ञानम्।

गले में संयम करने से चन्द्रलोक का ज्ञान होता है।

वामचक्षुषि संयमात् शिवलोकज्ञानम्।

बांयी आँख में संयम करने से शिवलोक का ज्ञान होता है।

मूर्ध्नि संयमात् ब्रह्मलोक ज्ञानम्।

सिर में संयम करने से ब्रह्मलोक का ज्ञान होता है।

पादाधोभागे संयमात् अतल लोक ज्ञानम्।

पैर के निचले भाग में संयम करने से अतल लोक का ज्ञान होता है।

पादे संयमात् वितललोक ज्ञानम्।

पैर में संयम करने से वितल लोक का ज्ञान होता है।

पादसन्धौ संयमात् नितललोक ज्ञानम्।

पैरों के जोड़ों पर संयम करने से नितललोक का ज्ञान होता है।

जङ्घे संयमात् सुतल लोक ज्ञानम्।

जांघ पर संयम करने से सुतल लोक का ज्ञान होता है।

जानौ संयमात् महातल लोक ज्ञानम्।

घुटनों में संयम करने से महातल लोक का ज्ञान होता है।

ऊरौ चित्तसंयमात् रसातल लोकज्ञानम्।

छाती में संयम करने से रसातल लोक का ज्ञान होता है।

कटौ चित्तसंयमात् तलातललोकज्ञानम्।

पीठ पर चित्त का संयम करने से तलातल लोक का ज्ञान होता है।

नाभौ चित्तसंयमात् भूलोकज्ञानम्।

नाभि में चित्त का संयम करने से भू (पृथ्वी) लोक का ज्ञान होता है।

कुक्षौ संयमात् भुवर्लोकज्ञानम्।

कोख में संयम करने से भुव: लोक का ज्ञान होता है।

हृदि चित्तस्य संयमात् स्वर्लोकज्ञानम्।

हृदय में चित्त का संयम करने से स्वर्लोक का ज्ञान होता है।

हृदयोर्ध्वभागे चित्तसंयमात् महर्लोकज्ञानम्।

हृदय के ऊपरी भाग में चित्त का संयम करने से मह:लोक का ज्ञान होता है।

कण्ठे चित्तसंयमात् जनोलोकज्ञानम्।

कण्ठ में चित्त का संयम करने से जन:लोक का ज्ञान होता है।

भ्रूमध्ये चित्तसंयम्यात् तपोलोकज्ञानम्।

भौंहों के बीच में चित्त का संयम करने से तप लोक का ज्ञान होता है।

मूर्ध्नि चित्तसंयमात् सत्य लोकज्ञानम्।

सिर में चित्त का संयम करने से सत्य लोक का ज्ञान होता है।

धर्माधर्म संयमात् अतीत अनागतज्ञानम्।

धर्म और अधर्म में संयम करने से बीते हुए और आने वाले समय की घटनाओं का ज्ञान होता है।

तत्तज्जन्तु ध्वनौ चित्तसंयमात् सर्वजन्तुरुतज्ञानम्।

अलग-अलग पशुओं की आवाज़ पर संयम करने पर सभी पशुओं की आवाज का ज्ञान होता है।

संचितकर्मणि चित्तसंयमात् पूर्वजातिज्ञानम्।

पूर्वजन्मों के कर्मों पर चित्त का संयम करने पर पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

परचित्ते चित्त संयमात् परचित्त ज्ञानम्।

दूसरे व्यक्ति के मन पर चित्त का संयम करने पर उस व्यक्ति के मन की बात पता चल जाती है।

कायरूपे चित्तसंयमात् अन्याद् अदृश्य रूपम्।

शरीर के रूप में संयम करने से दूसरे लोग योगी को नहीं देख पाते। इस सम्बन्ध में पातञ्जलयोग दर्शन के विभूति पाद का यह सूत्र द्रष्टव्य है:-

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्ति स्तम्भे चक्षुःप्रकाश असम्प्रयोगेऽ-न्तर्द्धानम्।। ३/२१

शरीर के रूप में संयम करने से रूप की जो ग्राह्यशक्ति है वह स्तम्भित हो जाती है। ग्राह्यशक्ति स्तम्भित हो जाने पर या रुक जाने पर चक्षु प्रकाश के अविषयीभूत होने अर्थात् आँखों का प्रकाश योगी के शरीर तक नहीं पहुँच पाता इस कारण योगी का शरीर अन्तर्धान हो जाता है। इस सिद्धि से योगी के शब्द आदि भी सुनाई नहीं देते हैं।

जादूगर जो ऐन्द्रजालिक युद्ध दिखाते हैं, उसमें वे जादूगर केवल संकल्प करते हैं कि दर्शक इन-इन रूपों को देखें। इसी कारण दर्शक जादूगर के संकल्प या दृढ़ इच्छाशक्ति के प्रभाव से वही देखते हैं जो जादूगर दिखाना चाहता है।

बले चित्तसंयमात् हनुमानादिबलम्।

शारीरिक बल में चित्त संयम करने पर हनुमान, भीम आदि जैसा शारीरिक बल आ जाता है।

पातञ्जल योग दर्शन का निम्नलिखित सूत्र देखिये:-

बलेषु हस्तिबलादीनि।।३/२४।।

हाथी के बल में संयम करने पर हाथी जैसा बल होता है। बलवत्ता की धारणा करके उसमें चित्त एकाग्र करने पर महाबल आता है। शरीर की सारी मांसपेशियों में ज्ञानपूर्वक इच्छाशक्ति के प्रयोग का अभ्यास करने से शारीरिक बल बढ़ता है यह बात व्यायाम के विशेषज्ञ जानते हैं। बल में संयम करना उसी की पराकाष्ठा है।

सूर्ये चित्त संयमात् भुवनज्ञानम्।

सूर्य में चित्त का संयम करने से लोकों का ज्ञान होता है।

इस बारे में पातञ्जल योग दर्शन का सूत्र इस प्रकार है:-

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।।३/२६।।

सूर्य में संयम करने पर भुवनज्ञान होता है।

सूर्यद्वार

यहाँ पर सूर्य का अर्थ सूर्यद्वार है। सूर्यद्वार का निश्चय करने के लिये पहिले सुषुम्ना का निश्चय करना चाहिये।

श्रुति कहती है **'तत्र श्वेतः सुषुम्ना ब्रह्मयानः'** अर्थात् हृदय से ऊपर जाने वाली सफेद (ज्योतिर्मय) नाड़ी सुषुम्ना नाड़ी है। अन्य श्रुति है **'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा'** (मुण्डक उप० १/२/११)

अर्थात् वे सूर्यद्वार से अव्यय आत्मा में या अविनाशी आत्मा में पहुँचते हैं।

'प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय'।। मुण्डक उप २/२/७।।

आत्मा अन्नमय कोश या स्थूल शरीर के अन्दर हृदय के पास प्रतिष्ठित है। अत: हृदय; आत्मा और शरीर का सन्धि स्थल है। तात्पर्य यह है कि शरीर का सबसे प्रकाशशील अंश ही हृदय है। साधारणरूप में वक्ष:स्थल ही हमारे अहम्भाव का केन्द्र है। इसलिये वक्ष:स्थल में अतिप्रकाशशील या सूक्ष्मतम बोधमय अंश ही हृदय है।

इसी प्रकार हृदय से मस्तक की ओर जाने वाली सूक्ष्म बोध धारा ही सुषुम्ना है। स्थूल शरीर में सुषुम्ना दिखाई नहीं देती, परन्तु ध्यान द्वारा इसे देखा जा सकता है। आधुनिक शास्त्र के मत में रीढ़ के बीच में सुषुम्ना है। परन्तु प्राचीन श्रुतिशास्त्र के मत में हृदय से ऊपर मस्तिष्क को जाने वाली विशेष नाड़ी सुषुम्ना है।

वास्तव में कशेरुका मज्जा (Spinal Cord) न्यूमोगैस्ट्रिक नर्व और कैरोटिड आरट्री (हृदय से मस्तिष्क को खून पहुँचाने वाली धमनी) इन तीनों के बीच में स्थित सूक्ष्मतम बोधवह अंश ही सुषुम्ना है। खून के बिना मस्तिष्क क्षण भर में ही निष्क्रिय हो जाता है। कशेरुका मज्जा और न्यूमोगैस्ट्रिक नर्व के बिना भी रक्त की गति तथा शरीर के बोध आदि रुक जाते हैं। अत: ये तीन स्रोत ही प्राणधारण का (अर्थात् मुण्डक उपनिषद् कथित आत्मा के साथ अन्नमय कोश या स्थूल शरीर के सम्बन्ध का) मूल कारण है। इसलिये इनके बीच में स्थित सबसे सूक्ष्म प्रकाशशील अंश ही सुषुम्ना है। योगी ज्ञानपूर्वक शारीरिक अभिमान (शारीरिक क्रिया को बन्द करके) भलीभांति त्याग देते हैं। और इसके बाद बचे हुए सूक्ष्मतम प्रकाशशील अंशों को सबसे बाद में त्याग कर विदेह हो जाते हैं। यह सुषुम्ना रूप द्वार ही सूर्यद्वार है। सूर्य के साथ इसका कुछ सम्बन्ध रहने के कारण इसे सूर्यद्वार कहते हैं। मैत्रायणी उपनिषद् के अनुसार —

अनन्ता रश्मय तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि।

ऊर्ध्वमेक: स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम्।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन यान्ति परां गतिम्।।६/३०।।

अर्थात् हृदय में दीपक की भांति स्थित वस्तु की जो अनन्त किरणें हैं उनमें से एक ऊपर या मस्तिष्क में है जो सूर्य मण्डल को भेदकर उठी है। उसी के द्वारा ब्रह्मलोक को पारकर परमा गति प्राप्त होती है। अत: ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की एक धारा ही सुषुम्नाद्वार या सूर्यद्वार होता है। जो ब्रह्मयानपथ से जाते हैं वे सूर्यमण्डल में पहुँच कर वहाँ से ब्रह्मलोक में जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है–

स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते; यथा लम्बरस्य खं तेन ऊर्ध्वम् आक्रमते।।५/१०/१।।

अर्थात् वह ब्रह्मपथगामी आदित्य में आता है। वह अपने अंग सूक्ष्म करके सूर्य को छेद करते हैं, जैसे लम्बर नाम के बाजे के बीच में छेद रहता है। उस छेद से ही वह ऊर्ध्वगति करता है। इसीलिये सुषुम्ना को सूर्यद्वार कहते हैं।

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की इस धारा में संयम करने से भुवनज्ञान होता है। ये लोक-लोकान्तर स्थूल और सूक्ष्म हैं, तथा इनके अन्तर्गत अवीचि आदि अन्धकारपूर्ण लोक भी हैं, अत: उनका दर्शन स्थूल और भौतिक प्रकाश से नहीं हो सकता। सूर्य के प्रकाश से इन लोकों को नहीं देखा जा सकता। परन्तु जिस इन्द्रियों के या ऐन्द्रियिक प्रकाश में आलोक की आवश्यकता नहीं है, जो अपने ही आलोक से अपने को देखता है, ऐसी इन्द्रियशक्ति से ही भुवनज्ञान होता है। सूर्यद्वार का अर्थ सूर्य नहीं है, इसका एक कारण यह है कि सूर्य में संयम करने से सूर्य का ही ज्ञान होगा, ब्रह्मादि लोकों का ज्ञान कैसे होगा?

पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड (Microcosm and Macrocosm) के सामञ्जस्य के अनुसार ही सुषुम्ना नाड़ी और लोकों की एकता कही गई है। लोकातीत आत्मा सभी प्राणियों में है। बुद्धिसत्व, विभु है। वह इन्द्रियादिरूप वृत्ति द्वारा संकुचित सा होकर रहता है। इस बुद्धि का आवरण जितना ही टूटता या कम होता है उतना ही बुद्धि का विभुत्व प्रकट होता है तथा प्राणी की भी

उच्चतर लोकों में गति होती है। अतः बुद्धि के प्रकाशावरण क्षय की प्रत्येक अवस्था के साथ एक-एक लोक सम्बद्ध है। बुद्धि की दृष्टि से दूर या पास कुछ नहीं है, अतः प्रत्येक प्राणी की बुद्धि तथा ब्रह्मादि लोक एकत्र रहा करते हैं, केवल बुद्धि की वृत्ति शुद्ध करने से ही इन लोकों में पहुँचने की शक्ति होती है।

भूः आदि लोक

भूः लोक केवल पृथ्वी नहीं है, परन्तु इस पृथ्वी के साथ बंधे हुए बहुत बड़े और सूक्ष्म लोक ही भूर्लोक हैं। देवों का निवास सुमेरु पर्वत सूक्ष्म लोक है। इसे हम अपनी आँखों से नहीं देख सकते। इस प्रकार के लोक-लोकान्तरों का विवरण प्राचीन योग विद्या में चला आ रहा है। बौद्धों ने भी इसे स्वीकार किया है। किन्तु इस सूत्र का विवरण विशुद्ध नहीं है। मूल में किसी योगी ने लोक-लोकान्तरों का अनुभव करके इसे बताया था, परन्तु उस समय के मनुष्य समाज के पास खगोल तथा भूगोल का सम्यक् ज्ञान न होने के कारण यह अनुभव विकृत हो गया है। इसमें भी सन्देह नहीं कि यह विवरण बहुत समय तक कण्ठस्थ रहने के बाद लिखा गया है।

सूक्ष्म दृष्टि से अन्तरिक्ष में लोक दिखेंगे, परन्तु स्थूल दृष्टि से लगता है कि पृथ्वी; सूर्य के चारों ओर घूम रही है। प्राचीन लोगों को भूगोल का विस्तृत ज्ञान नहीं था। इसलिये वे साक्षात्कारी योगी का विवरण भली भांति नहीं समझ सके।

भाष्यकार ने इसी विवरण को लिख दिया है।

द्वीपों में पुण्यात्मा देव या देवयोनि तथा मनुष्य या परलोक गये हुए मनुष्य बसते हैं, अतः द्वीप समूह सूक्ष्म लोक होंगे। पृथिवी के बहुत कम व्यक्ति पुण्यात्मा हैं। बाकी अपुण्यात्मा कहाँ बसते हैं? यदि वे इन द्वीपों में नहीं रहते, तो पृथ्वी इन द्वीपों से बाहर है, यह कहना चाहिये।

निष्कर्ष यह है कि ये सब द्वीप सूक्ष्म लोक हैं। सप्त पाताल भी भूर्लोक के (पृथ्वी के नहीं) अन्दर सूक्ष्म-लोक हैं। सप्तनिरय (नरक) भी सूक्ष्म दृष्टि से पृथ्वी का बाहर-भीतर जैसा दिखता है वैसे ही लोक हैं। अवीचि

(तरंगहीन या जड़), घन (दृढ़ या ठोस पृथ्वी), सलिल (पानी या ठोस की अपेक्षा कम ठोस पार्थिव अंश), अनल (अग्नि), अनिल (पार्थिव-वायुकोश), आकाश (वायु की विरल अवस्था) और तम (अन्धकारमय शून्य) - ये सब अवस्थाएँ स्थूल पृथ्वी-सम्बन्धी हैं। ये सब अवस्थाएँ सूक्ष्म करण युक्त (सूक्ष्म इन्द्रिय युक्त) परन्तु रुद्ध शक्तित्व (शक्ति के रुकने से) से कष्टमय चित्तयुक्त नरकवासियों में जिस रूप से ज्ञात होती है वे ही अवीचि आदि नरक है।

दुःस्वप्नरोग (Night mare) में 'इन्द्रियों की शक्ति रुक गई है' ऐसा ज्ञान होने से कार्य करने की सामर्थ्य नहीं रहती है, परन्तु मन जाग्रत होकर पाशबद्ध सा कष्ट पाया करता है। नरकवासी भी उसी प्रकार की चित्तावस्था प्राप्त करते हैं। लोभ तथा भूख अत्यधिक रहने से लेकिन उनके पूरे होने की शक्ति न रहने से जैसी हालत होती है, नरकवासियों की हालत भी वैसी ही होती है। जो पृथ्वी और पार्थिव भोगों को ही सार मानकर पूरी तन्मयता से क्रोध, लोभ-मोहपूर्वक पापाचरण करते हैं, अपनी क्षुद्रता एवं परलोक और परमार्थ के बारे में कभी नहीं सोचते, वे ही अवींचि लोक में जाते हैं। पृथ्वी की अन्दर की प्रचण्ड अग्नि उनको जला नहीं सकती, क्यों कि उनका शरीर सूक्ष्म होता है। परन्तु अपनी सूक्ष्मता न जानने से तथा स्थूल पदार्थ के सिवाय अन्य सूक्ष्म पदार्थ-सम्बन्धी संस्कार उनमें न रहने से केवल उस स्थूल अग्नि के ज्ञान के कारण जलते से रहते हैं।

पृथ्वी में जिस प्रकार तिर्यक् जातियाँ (पशु-पक्षी की योनियाँ) हैं उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर धारियों में भी सात पातालों में रहने वालों में तिर्यक् जातियाँ होती हैं।

भूर्लोक के पिछले भाग से देवलोक आरम्भ होता है। भूपृष्ठ (पृथिवी का पिछला भाग) का अर्थ पृथिवी का पिछला भाग नहीं है अपितु पृथिवी के वायुस्तर के कोश से भी बहुत ऊपर भूपृष्ठ या मेरुपृष्ठ है।

पातालवासी तथा औपपादिक (माता-पिता के संयोग के बिना अकस्मात् उत्पन्न) देव पृथक् योनियाँ मानी जाती हैं। नरकवासी; मनुष्यों के परिणाम हैं। इसी प्रकार स्वर्ग-वासी मनुष्य भी हैं। उनको मनुष्य जन्म याद रहता है,

इसीलिये तैत्तरीय उपनिषद् (२/८/१) में **'देवगन्धर्व'** और **'मनुष्य गन्धर्व'** का भेद कहा गया है।

कैवल्यपद

यह लोक संस्थान और लोकवासियों के बारे में न समझने से कैवल्य का माहात्म्य समझ में नहीं आता। पुण्यफल से निचले देवलोक में गति होती है और योग की अवस्था का लाभ प्राप्त करने पर उसके तारतम्य के अनुसार उच्च-लोकों में गति होती है। सम्प्रज्ञान के बाद अर्थात् समाधि से प्राप्त ज्ञान को एकाग्रचित्त द्वारा धारण करने या ध्येय वस्तु का स्वरूप अच्छी-प्रकार अर्थात् संशय-विपर्यय से रहित वास्तविक रूप से जानने के बाद ब्रह्मलोक में जाने पर पुनरावृत्ति नहीं होती।

वहाँ जाने पर **'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे।**
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परम् पदम्।।'

कूर्म पुराण १/१२/२७३

इस प्रकार की गति होती है। समाधि बल से शरीर के संस्कार समाप्त हो जाने से ही उनको शरीर धारण नहीं करना पड़ता। इनमें विवेकज्ञान असम्पूर्ण या विलुप्त रहता है, अत: ये लोकमध्य से लौटकर पीछे प्रलय की सहायता से कैवल्य प्राप्त करते हैं।

विदेह (देह के अहंकार से मुक्त) तथा प्रकृतिलय (चित्त का मूल प्रकृति में मिल जाना) अवस्था के सिद्धपुरुषों को प्रकृति-पुरुष का वास्तविक विवेक-ज्ञान नहीं होता है। परवैराग्य के द्वारा करणलय (इन्द्रियों की स्थिरता) होने के कारण वे लोकों में नहीं रहते, अपितु मोक्ष जैसे पद में रहते हैं। अगली सृष्टि में वे उच्चलोक में जाते हैं। कैवल्य पद सभी लोकों से अतीत तथा पुनरावर्त्तन से रहित है।

लोक लोकान्तरों या भुवन ज्ञान का तथा कैवल्य पद के सम्बन्ध में साधकों और सामान्यजनों की जिज्ञासा शान्त करने के लिये उपरोक्त विवरण दिया गया है। यह विवरण श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द आरण्य ने अपने योग भाष्य में दिया है।

चन्द्रे चित्तसंयमात् ताराव्यूह ज्ञानम्।

चन्द्रमा पर चित्त का संयम करने से नक्षत्र-मण्डल का ज्ञान होता है।

पातञ्जलयोग दर्शन में निम्नलिखित सूत्र है:-

चन्द्रे ताराव्यूह ज्ञानम्।। विभूति पाद ३/२७।।

सूर्य जिस प्रकार सूर्यद्वार है, चन्द्रमा भी उसी प्रकार चन्द्र द्वार है। चन्द्रमा वस्तुत: द्वार नहीं होता, क्योंकि सूर्य द्वारा किसी शक्ति के बल से ब्रह्मयान के योगी ले जाये जाकर ब्रह्मलोक में जाते हैं! चन्द्रमा द्वारा उस प्रकार नहीं होता। चन्द्र सम्बन्धी लोक प्राप्त होकर फिर पृथ्वी पर लौटना होता है। गीता के अनुसार भी **तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।गीता** ८/२५।। इसकी पुष्टि होती है।

सूर्य जिस प्रकार स्वप्रकाश है उसी प्रकार सूर्यद्वार की प्रज्ञा भी अपने आलोक से दिखती है। लोकों को जानने के लिये इस प्रकार के ज्ञान के आलोक की आवश्यकता होती है। चन्द्रमा का आलोक प्रतिफलित या प्रतिबिम्बित है। ज्ञेय से गृहीत आलोक में किसी वस्तु को देखने के लिये जिस प्रकार की प्रज्ञा की आवश्यकता होती है, ताराव्यूह या नक्षत्रों के ज्ञान के लिये भी उसी प्रकार की ज्ञानशक्ति चाहिये। इसके लिये सौषुम्न प्रज्ञा की आवश्यकता नहीं है। साधारण इन्द्रियों से जैसा ज्ञान होता है उसी की अत्युच्च अवस्था में या स्थूल विषय के ज्ञान का उत्कर्ष होने पर ताराव्यूह का ज्ञान होता है।

अन्य योग ग्रन्थों में भी नासाग्र आदि में चन्द्र का स्थान कहा गया है- जैसे **'नासाग्रे शशि धृग्बिम्बम्'** (घेरण्ड संहिता ५/४२)

'तालुमूले च चन्द्रमा:'।। योगि याज्ञवल्क्य० ५/१५।

यह चक्षुसम्बन्धी चन्द्रमा है। इसलिये विषयवती प्रवृत्ति अर्थात् संयम से अनुभूत दिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि की प्रत्यक्ष अनुभूति ही चन्द्रसंयम से उत्पन्न प्रज्ञा है। सुषुम्ना मार्ग से शरीर से आत्मा की उत्क्रान्ति (निकालना) होने पर जिस प्रकार सूर्य के साथ सम्बन्ध रहता है अत: उसका नाम सूर्यद्वार है। उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा आत्मा

के शरीर छोड़ने पर चन्द्र सम्बन्धी लोक प्राप्त होता है। अतः इसका नाम चन्द्रद्वार है। प्राचीन शास्त्रों में सूर्य और चन्द्र अथवा प्राण तथा रयि नामक आध्यात्मिक पदार्थ भी कहे गये हैं। प्रश्नोपनिषद् (प्रश्न १)

ध्रुवे तद्गतिदर्शनम्।।

ध्रुव में संयम करके तारों की गति का ज्ञान होता है।

पातञ्जल योग सूत्र में यह बात इस प्रकार कही गई है–

ध्रुवे तद्गति ज्ञानम्।। ३/२८।।

तारों का ज्ञान होने पर उनकी गति का ज्ञान बाह्य उपाय से ही होता है। ध्रुव (निश्चल तारा) साधारण ध्रुव नक्षत्र है। ध्रुव को लक्ष्य कर सारे आकाश में स्थिर और निश्चल भाव से ध्यानमग्न होने पर तारों की गति मालूम पड़ जाती है।

स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्।।

अहंकार रहित बुद्धि में चेतन पुरुष की छाया के प्रतिबिम्ब (संक्रमण) पर संयम करने से योगी को पुरुष का ज्ञान होता है। पातंजल योग दर्शन का यह सूत्र यह बात स्पष्ट करता है।

सत्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्।।३/३५।।

सत्व और पुरुष अत्यन्त भिन्न है उनका अविशेष प्रत्यय ही भोग है। वह परार्थ है अतः स्वार्थसंयम करने पर पुरुषज्ञान होता है। विवेकख्याति अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और चित्त मुझसे भिन्न हैं यह ज्ञान विवेकख्याति कहलाता है। तमोगुण और रजोगुण इन दोनों गुणों का मल चित्त में न रहने पर चित्त; स्वरूपप्रतिष्ठित हो जाता है। तब चित्तसत्व और पुरुष की भिन्नता या भेद का ज्ञान होता है। बुद्धि और पुरुष का अविशेष-प्रत्यय या अभेद-ज्ञान अर्थात् एक ही ज्ञानवृत्ति में दोनों का मिल जाना ही भोग है। प्रत्यय या ज्ञान होने के कारण भोग; बुद्धि की वृत्ति है और बुद्धि की वृत्ति होने के कारण भोग दिखाई देता है। दृश्य होने से भोग; परार्थ है अर्थात् पर जो द्रष्टा है उनका अर्थ या विषय है। दृश्य परार्थ है और पुरुष स्वार्थ है। स्वार्थ का अर्थ है– जिसका स्वभूत अर्थ रहता हो, अर्थात्

अर्थवान्। वह स्वार्थ-पुरुष स्वरूपावस्थित या स्वरूपप्रतिष्ठित पुरुष भी होता है। यहाँ पर स्वार्थ पौरुष प्रत्यय ही संयम का विषय है।

बुद्धि से पुरुष प्रकाशित नहीं होता है। पुरुष स्वप्रकाश है। बुद्धि या 'मैं' उसमें यह अनुभव करता है कि 'मैं स्वरूपत: स्वप्रकाश हूँ'– यह पौरुष-प्रत्यय है। श्रुत और अनुमान से उत्पन्न यह प्रज्ञा विशुद्ध नहीं है, परन्तु समाधि से चित्त को साक्षात् करना और चित्त से अलग पुरुष को समझना ही विशुद्ध पौरुष-प्रत्यय है। इसके दूसरी ओर चिद्रूप अर्थातीत पुरुष है और इस ओर परार्था भोगबुद्धि है, अत: जो मध्यस्थ है, वही स्वार्थ है तथा संयम का विषय है। इसलिये इस संयम के द्वारा जो प्रज्ञा होती है वही पुरुष विषयक अन्तिम प्रज्ञा है। इससे बुद्धि का लय होने पर स्वरूपावस्थिति रूप कैवल्य होता है।

जड़ बुद्धि के द्वारा पुरुष का साक्षात् नहीं हो सकता, अत: यह पुरुष प्रत्यय क्या है? इसका समाधान यही है कि पुरुषाकारा जो बुद्धि है उस बुद्धि के प्रति पुरुष का जो उपदर्शन है वही पुरुष प्रत्यय है।

'मैं द्रष्टा या देखने वाला हूँ' इस प्रकार का ज्ञान ही पुरुषाकारा बुद्धि का उदाहरण है। स्वरूपपुरुष संयम का विषय नहीं हो सकता। 'मैं द्रष्टा हूँ' या 'अस्मीतिमात्र' या विरूप पुरुष ही संयम का विषय हो सकता है।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।

नाभिचक्र में संयम करने पर कायव्यूह का ज्ञान होता है।

उपरोक्त सूत्र और पातञ्जल योग दर्शन का ३/२९ सूत्र एक समान है।

जिस प्रकार सूर्यद्वार को प्रधान कर दूसरे यथायोग्य विषयों में संयम करने से भुवनज्ञान होता है उसी प्रकार नाभिस्थ चक्र या यन्त्रसमूह को प्रधान करने पर शरीर के यन्त्रों का ज्ञान होता है।

वात, पित्त और कफ ये तीन दोष हैं या रोग के मूल हैं। ये तीन सत्त्व-रज:-तम: रूप त्रिगुणमूलक हैं– ऐसा सुश्रुत में कहा गया है। इस दृष्टि से वात या वायु, बोधाधिष्ठानों या ज्ञानेन्द्रियों का विकार है। पित्त-संचारक अंश का विकार है और कफ स्थितिशील अंश का विकार है। चित्तविकार, गठिया आदि स्नायु सम्बन्धी विकार वायुविकार कहे जाते हैं। नसों में दर्द

और आक्षेप या मन का उचटना इन वायुविकारों का प्रधान लक्षण है। रक्तसंचालन का विकार ही पित्तदोष कहलाता है। इससे नींद न आना, जलन आदि पीड़ाएँ होती हैं। शरीर में जिन स्रोतों या नालियों के मुख बाहर खुले हुए हैं उनकी त्वचा का नाम श्लैष्मिक झिल्ली (महीन परदा या जाला) है। मुँह से गुदा तक जो स्रोत हैं, उनमें, श्वास नाली में, मूत्र नाली में, आँख में तथा कान में श्लैष्मिक झिल्ली है। श्लैष्मिक झिल्ली से युक्त अंग प्रधानरूप से शरीर धारण का काम करते हैं।

अन्न, जल और वायु का आहार और ज्ञानेन्द्रियों का विषयाहार अर्थात् देखना, सुनना, सूंघना, चखना, स्पर्श करना ये सब श्लैष्मिक झिल्ली वाले अंगों से होते हैं। मूत्रनाली और गुदा; जल तथा अन्न रूप आहार को शरीर से निकालने के द्वार है। इन सब अंगों का विकार वायुविकार है।

जिस प्रकार सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रत्येक व्यक्ति में कम या अधिक मात्रा में आपेक्षिक रूप से होते हैं उसी प्रकार वात, पित्त, कफ ये तीन दोष भी आपेक्षिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति में और रोगों में होते हैं। इसलिये वात-पित्त दोष, वात-श्लैष्मिक दोष शरीर के सभी रोगों में माने जाते हैं। इसीलिये दवाएँ भी वातनाशक, पित्तनाशक और कफनाशक इन तीन विभागों में रखी जाती हैं।

हमारे शरीर में सात धातुएँ इस प्रकार हैं– त्वक्, रक्त, मांस, स्नायु, हड्डी, मज्जा और शुक्र (वीर्य)। इन सात धातुओं में त्वक् का अर्थ 'चमड़ा' नहीं है, बल्कि रस है। खाये हुए अन्न आदि पदार्थ पेट की अग्नि या जठराग्नि से पचने पर रस बनता है। रस ही रक्त आदि के रूप में बदलता है। त्वक् (चमड़ा) उपधातु है। त्वक् नाम का धातु; रस ही है।

कण्ठ कूपे क्षुत् पिपासा निवृत्तिः।

कण्ठ कूप में संयम करने पर भूख-प्यास मिट[illegible]

यह सूत्र पातञ्जल योग दर्शन का ३/३० सूत्र ही है। जीभ के नीचे तन्तु, उससे नीचे कण्ठ और कण्ठ से नीचे कूप है। उसमें संयम करने से भूख-प्यास नहीं लगती।

तन्तु; वाक्यन्त्र का विशेष अंश है। इसे Vocal Crod कहते हैं। यह Larynx से आगे रहता है लौरिन्क्स कण्ठ है और ट्रेकिया (TRACHEA) कण्ठ कूप है। वहाँ संयम द्वारा मन में प्रसाद भाव स्थिर रूप से आने पर भूख-प्यास से उत्पन्न कष्ट का अनुभव नहीं होता।

अगला सूत्र भी पातञ्जल योग दर्शन का ३/३१ सूत्र है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।

कूर्मनाड़ी में संयम करने पर स्थैर्य होता है।

कण्ठ कूप के नीचे कूर्मनाड़ी है। श्वासवहा नाड़ी (Bronchial Tube) ही कूर्मनाड़ी है। उसमें संयम करने से शरीर स्थिर होता है अर्थात् हिलता-जुलता नहीं है। श्वास-यन्त्र स्थिर होने पर शरीर में जो स्थिरता आ जाती है उसे अनुभव किया जा सकता है। साँप तथा गोह जैसे पत्थर की तरह स्थिर रह सकते हैं, योगी भी उसी प्रकार काठ की भांति स्थिर रह सकते हैं। शरीर स्थिर होने पर चित्त को भी स्थिर किया जा सकता है। सूत्र के शब्द स्थैर्य से अभिप्राय चित्त की स्थिरता ही है, क्योंकि ये ज्ञानरूपा सिद्धियाँ हैं।

तारे सिद्धदर्शनम्।

तारों या नक्षत्रों में संयम करने पर सिद्ध पुरुष दिखाई देते हैं।

पातञ्जल योग दर्शनम् में यही भाव इस प्रकार है–

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।। ३/३२।।

मूर्द्ध ज्योति या सिर की ज्योति में संयम करने पर सिद्धदर्शन होता है। सिर के कपाल या खोपड़ी के बीच में छेद है। इस छेद में अत्यन्त चमकीली ज्योति है। उस पर संयम करने से द्युलोक तथा पृथिवी के बीच में विचरने वाले सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं। सिद्ध एक प्रकार की देवयोनि है। मस्तक के भीतर विशेषकर उसके पिछले भाग में ज्योति का चिन्तन करना चाहिये।

कायाकाश संयमादाकाशगमनम्।

काय (शरीर) और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से आकाश में जाने की सिद्धि होती है।

इस प्रसंग में पातञ्जल योगदर्शन का सूत्र इस प्रकार है–

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्। । ३/४२

काय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से और लघुतूलसमापत्ति से आकाशगमन सिद्ध होती है।

काय (शरीर) और आकाश के सम्बन्ध की भावना का अर्थात् आकाश या खाली स्थान में शरीर रहता है इस भाव में संयम करने पर बेरोकटोक कहीं भी आने-जाने की योग्यता शरीर में आती है।

आकाश का गुण शब्द है। शब्द का कोई आकार नहीं होता। शब्द तो एक क्रिया का प्रवाह ही है।

मेरा शरीर भी शब्द की भांति क्रिया के प्रवाह जैसा है और आकाश की तरह खाली है, इस प्रकार की भावना काय और आकाश की सम्बन्ध भावना है। शरीर में व्याप्त अनाहत नाद की भावना से यह भावना सिद्ध होती है। इसीलिये अन्य शास्त्रों में विशेष अनाहत नाद की भावना के द्वारा आकाश में गति करने की सिद्धि कही गई है।

रूई आदि के लघु या हल्के भाव में मन एकाग्र होने पर शरीर के अणु; गुरुता या भारीपन त्याग कर लघु या हल्के हो जाते हैं। शरीर के रक्त, मांस आदि पदार्थ वस्तुतः अभिमान के परिणाम हैं। अभिमान का अर्थ है अहंभाव का अनेक भावों में जाकर अहंता और ममता के रूप में बदलना। ममता के द्वारा 'मेरा-मेरा' ज्ञान होता है। अहंता के द्वारा 'मैं' ऐसा हूँ 'मैं वैसा हूँ' ऐसा ज्ञान होता है। अहंता रूप अभिमान में 'मैं करने वाला हूँ', 'मैं जानने वाला हूँ' इस प्रकार के भाव रहते हैं। भारीपन या 'गुरुता' जैसे 'अभिमान' के परिणाम हैं, वैसे ही समाधि बल से गुरुता या भारीपन के अभिमान के विपरीत अभिमान की भावना करने से शरीर के पदार्थों या रक्त मांस आदि में लघुता का या हल्केपन का भाव होता है। शरीर हल्का होने से तथा शरीर और आकाश का सम्बन्ध जीतने से बेरोक-टोक आने-जाने की योग्यता होने के कारण आकाशगमन होता है। प्राणायाम के समय शरीर

में सदा वायु जैसी भावना की जाती है। इससे भी शरीर कभी-कभी हल्का हो जाता है। इन सभी का मूल मानसिक भावना है।

तत् तत् स्थाने संयमात् तत् तत् सिद्धयो भवन्ति।

विशेष-विशेष स्थानों पर संयम करने से उसी प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं।

।।सप्तम खण्ड समाप्त।।

अष्टम खण्ड

पाँच प्रकार का प्रत्याहार

अथ प्रत्याहारः

अब प्रत्याहार के बारे में बताते हैं। प्रत्याहार पाँच प्रकार का होता है।

विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः।

भोग-विषयों में लगी इन्द्रियों को प्रयत्न करके भोगों से हटाना प्रत्याहार कहलाता है।

यत् यत् पश्यति तत् सर्वमात्मेति प्रत्याहारः।

साधक जो कुछ देखता है वह सब आत्मा का ही रूप है यह विचार मन में बनाये रखना प्रत्याहार कहलाता है।

नित्यविहित कर्मफलत्यागः प्रत्याहारः।

नित्य कर्मों और शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट विहित कर्मों के फल का त्याग प्रत्याहार कहलाता है।

सर्वविषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः।

सभी सांसारिक विषयों के प्रति उदासीन रहना प्रत्याहार कहलाता है।

अष्टादशसु मर्म स्थानेषु क्रमाद् धारणं प्रत्याहारः।

शरीर के अठारह मर्म स्थानों से क्रमपूर्वक मन को हटाना (आहरण) प्रत्याहार कहलाता है।

पादाङ्गुष्ठगुल्फ जंघाजानूरुपायु मेढ्रनाभिहृदय कण्ठकूप तालु नासाक्षि

भ्रूमध्य ललाट मूर्ध्नि स्थानानि। तेषु कम्रात् आरोह अवरोह क्रमेण प्रत्याहरेत्।।२।।

पैर, पैर का अंगूठा, एड़ी, जांघ, घुटना, गुदा, लिंगमूल, नाभि, हृदय, कण्ठकूप, तालु, नाक, आँख, भ्रूमध्य, मस्तक और सिर इन मर्मस्थानों से क्रमशः मन को हटाने का अभ्यास करना चाहिये।

।।अष्टम खण्ड समाप्त।।

नवम खण्ड

पाँच प्रकार की धारणा

अथ धारणा। सा पञ्चविधा। आत्मनि मनोधारणम्। दहराकाशे बाह्याकाशधारणं पृथिवी अप तेजो वाय्वाकाशेषु पंचमूर्ति धारणं चेति।

अब धारणा का वर्णन करते हैं। धारणा पाँच प्रकार की होती है। आत्मा में मन लगाना, हृदय के पुण्डरीक या श्वेत कमल के आकार वाले खाली स्थान या आकाश में और बाहर के आकाश में मन लगाना। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वों में मन लगाना पंचमूर्ति धारण कहलाता है।

।।नवां खण्ड समाप्त।।

दशम खण्ड

ध्यान

अथ ध्यानम्। तद् द्विविधम् सगुणं निर्गुणं चेति। सगुणं मूर्ति ध्यानम्। निर्गुणमात्मयाथात्म्यम्।

ध्यान, सगुण और निर्गुण के भेद से दो प्रकार का होता है। किसी मूर्ति या आकार पर ध्यान लगाना सगुण ध्यान कहलाता है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ध्यान निर्गुण ध्यान होता है।

।।दशम खण्ड समाप्त।।

एकदश खण्ड

समाधि का स्वरूप

अथ समाधिः। जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्द स्वरूपा शुद्धचैतन्यात्मिका भवति।

समाधि में जीवात्मा और परमात्मा की एकता हो जाती है। समाधि त्रिपुटी रहित होती है। ध्याता, ध्यान और ध्येय इन तीनों का भान समाधि में नहीं रहता अर्थात् मैं ध्यान करने वाला हूँ। मैं ध्यान कर रहा हूँ और मैं इस वस्तु पर ध्यान कर रहा हूँ इन तीनों बातों का भान समाधि में समाप्त हो जाता है। समाधि मग्न हो जाने पर साधक को अत्यधिक आनन्द की अनुभूति होती है। समाधि में शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा का साक्षात् होता है।

समाधि में चित्त की एकाग्रता, चित्त की स्थिरता की अन्तिम सीमा अथवा अपने को भूले हुए की तरह इच्छित विषय पर चित्त स्थिर रखा जाता है।

मन की एकाग्रता के अभ्यास में ध्यान से अगली अवस्था समाधि होती है। जैसे नमक पानी में घुल जाता है, वैसे ही योगाभ्यास के द्वारा मन जब आत्मा में लीन हो जाता है उस स्थिति को समाधि कहा जाता है। योगाभ्यास से प्राणवायु क्षीण होकर या सूक्ष्म होकर जब मन के साथ समरस हो जाता है वह भी समाधि की अवस्था होती है। जब मन के सारे संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं और मन; जीवात्मा के साथ परमात्मा में मिल जाता है, वह भी समाधि की अवस्था होती है।

ध्यान की अवस्था में जब ध्येय, अर्थमात्र भासता रहे और ध्यान स्वरूपशून्य हो जाय वह स्थिति समाधि होती है। ध्यान की अवस्था में ध्येय की वृत्ति का प्रवाह लगातार समानरूप से चित्त में बना रहता है और ध्याता या ध्यान करने वाले को पता चलता रहता है कि मैं उस वस्तु या स्थान (ध्येय) पर ध्यान लगा रहा हूँ, अर्थात् उसके चित्त में ध्याता, ध्येय और ध्यान का भास होता रहता है। चित्त में ध्याता और ध्यान की वृत्ति बनी रहने से ध्येय पदार्थ का ज्ञान पूरी तरह नहीं हो पाता। किन्तु ध्यान की अवस्था बढ़ने पर चित्तवृत्ति में ध्येय का स्वरूप और अधिक स्पष्ट होने लगता है

तथा ध्येय वस्तु का स्पष्ट ज्ञान कराने के कारण ध्याता और ध्यान; स्वरूप से अर्थात् अपनेपन से रहित (शून्य) भासने लगे और ध्येय का स्वरूप ध्याता और ध्यान के साथ मिलकर (अभिन्न होकर) ध्येयाकार वृत्ति में पूरी तरह से भासने लगे तब ध्यान की यह अवस्था समाधि कहलाती है। ध्यान की अवस्था में ध्येय पदार्थ का भान होता रहता है किन्तु समाधि की अवस्था में ध्यान; ध्येयमात्र से भासता है।

विक्षेपों से मन को हटाकर किसी विषय पर मन को एकाग्र करना समाधि कहलाता है। समाधि की अवस्था में ध्याता, ध्येय और ध्यान की त्रिपुटी का भान समाप्त हो जाता है और ध्याता तथा ध्यान भी ध्येयाकार (विषयाकार) होकर अपने स्वरूप से शून्य जैसे भासने लगते हैं।

।।एकादश खण्ड समाप्त।।

।।प्रथम अध्याय समाप्त ।।

द्वितीय अध्याय

निर्विशेष ब्रह्म का स्वरूप

अथ ह शाण्डिल्यो ह वै ब्रह्मऋषि श्चतुर्षु वेदेषु ब्रह्मविद्याम् अलभमानः किं नामेत्यथर्वाणं भगवन्तमुपसन्नः पप्रच्छाधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां येन श्रेयोऽवाप्स्यामीति।।१।।

ब्रह्मऋषि शाण्डिल्य चारों वेदों में ब्रह्मविद्या को न पाकर अथर्वा ऋषि के पास गये और उनसे प्रार्थना की भगवन्! आप मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश दीजिये। जिससे मेरा कल्याण हो।

स होवाचाथर्वा शाण्डिल्य सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म।।२।।

अथर्वा ऋषि ने कहा– शाण्डिल्य! ब्रह्म; सत्यस्वरूप, विज्ञानस्वरूप और अनन्त है। अर्थात् ब्रह्म; सत्यमय है, ज्ञानमय है और अनन्त है अर्थात् उसका विनाश कभी नहीं होता।

ब्रह्म का अनिर्देश्यत्व

यस्मिन्निदमोतं च प्रोतं च। यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं। यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।

इस ब्रह्म में यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ओत-प्रोत है अर्थात् समाया हुआ है। इसी ब्रह्म से यह सारी सृष्टि उत्पन्न होती है और प्रलय आने पर इसी ब्रह्म में लीन हो जाती है।

इस ब्रह्म को भली भांति जान लेने पर इस ब्रह्माण्ड की प्रत्येक बात का ज्ञान हो जाता है।

तदपाणिपादमचक्षुःश्रोत्रमजिह्वमशरीरमग्राह्यमनिर्देश्यम्।।३।।

वह ब्रह्म मनुष्य आदि प्राणियों के हाथ-पैर, आँख-कान, जीभ और शरीर के अन्य सभी अंगों से रहित है। उसे कोई पकड़ नहीं सकता। उसके बारे में कुछ बताया नहीं जा सकता। परमात्मा को या ब्रह्म को आँख, कान आदि किसी ज्ञानेन्द्रिय से या हाथ-पैर आदि किसी कर्मेन्द्रिय से अथवा मन, बुद्धि आदि किसी अन्तरिन्द्रिय या अन्तःकरण से ग्रहण नहीं किया जा सकता या जाना जा सकता। ब्रह्म को किसी वर्णन के द्वारा बताया नहीं जा सकता है।

ब्रह्म वाणी और मन से परे है

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। यत् केवलं ज्ञानगम्यम्। प्रज्ञा च यस्मात् प्रसृता पुराणी। यदेकमद्वितीयम्। आकाशवत् सर्वगतं सुसूक्ष्मं निरञ्जनं निष्क्रियं सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं शिवं प्रशान्तममृतं तत् परं च ब्रह्म। तत्त्वमसि। तज्ज्ञानेन हि विजानीहि।।४।।

जिस ब्रह्म को न जानकर हमारी वाणी मन के साथ लौट आती है। वह ब्रह्म केवल ज्ञान से ही जाना जा सकता है। उसी ब्रह्म से हम सब की प्रज्ञा या बुद्धि प्राचीन काल से विकसित हुई है। वह ब्रह्म एकमात्र है। उसके जैसा कोई दूसरा नहीं है। वह ब्रह्म आकाश की तरह सब जगह व्याप्त है। वह ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म है। निरञ्जन है अर्थात् शोक-मोह आदि से रहित है।

वह माया के आवरण से भी रहित है। वह निर्गुण और चैतन्य है। वह निष्क्रिय है अर्थात् कूटस्थ है और अपनी महिमा से प्रतिष्ठित है। वह ब्रह्म सत्मात्र है, सदा वर्तमान रहने वाला है, उसका नाश कभी नहीं होता। चित् मात्र है अर्थात् चैतन्यस्वरूप है। आनन्द स्वरूप है। वह ब्रह्म एकरस है अर्थात् केवल रस या आनन्द मात्र है। वह ब्रह्म शिव है अर्थात् कल्याणकारी है। प्रशान्त है उसका स्वरूप अत्यन्त शान्त है। वह ब्रह्म अमृतमय है। वह ब्रह्म पर है अर्थात् संसार के सभी पदार्थों की तुलना में सर्वश्रेष्ठ है। तुम भी वही ब्रह्म हो अर्थात् तुम उसी ब्रह्म के अंश हो। उस ब्रह्म को ज्ञान के द्वारा जानने का प्रयत्न करो।

यह सब परमात्म स्वरूप है

य एको देव आत्मशक्तिप्रधानः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूताधिवासः सर्वभूतनिगूढो भूतयोनिः योगैकगम्यः। यश्च विश्वं सृजति विश्वं बिभर्ति विश्वं भुङ्क्ते स आत्मा। आत्मनि तं तं लोकं विजानीहि।।५।।

जो एकमात्र देव अपनी शक्ति से ही महिमाशील है। वह सब कुछ जानता है। वह सबका ईश्वर या अधिपति है। वह ब्रह्म सभी प्राणियों के अन्तरात्मा में विराजमान है। वह सभी प्राणियों का पालन-पोषण करता है। वह सभी प्राणियों के हृदय में विद्यमान है। वह ब्रह्म सभी प्राणियों का जन्मदाता है। उस ब्रह्म का साक्षात्कार योगाभ्यास से किया जा सकता है। वह ब्रह्म इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करता है। इस ब्रह्माण्ड का पालन-पोषण करता है और प्रलयावस्था में अपने में लीन कर लेता है। हे शाण्डिल्य! तुम उस आत्मतत्त्व को प्रत्येक लोक-लोकान्तर में जानने का प्रयत्न करो।

गुरु के उपदेश से ज्ञानप्राप्ति

मा शोचीरात्मविज्ञानी शोकस्यान्तं गमिष्यति।।६।।

हे शाण्डिल्य! तुम शोक मत करो। मैं तुम्हें आत्मविज्ञानी अर्थात् परम

आत्मा को जानने वाला बना दूँगा। तुम इस ब्रह्मविद्या को जानकर अपना शोक भूल जाओगे।

।।द्वितीय अध्याय समाप्त।।

तृतीय अध्याय

अथैनं शाण्डिल्योऽथर्वाणं पप्रच्छ यदेकमक्षरं निष्क्रियं शिवं सन्मात्रं परंब्रह्म। तस्मात् कथमिदं विश्वं जायते कथं स्थीयते कथमस्मिल्लीयते। तन्मे संशयं छेत्तुमर्हसि।।१।।

शाण्डिल्य ने अथर्वा से पूछा यह जो एकमात्र अविनाशी, निष्क्रिय, कल्याणकारी सत्तामात्र परब्रह्म है, उससे यह सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है? उत्पन्न होने के बाद कैसे बनी रहती है? और प्रलय काल में उसी ब्रह्म में कैसे लीन हो जाती है? आप मेरे इस सन्देह को दूर कीजिये।

स होवाचाथर्वा सत्यं शाण्डिल्य परंब्रह्म निष्क्रियमक्षरमिति।।२।।

अथर्वा ने बताया - हे शाण्डिल्य! परब्रह्म निष्क्रिय और अक्षर अर्थात् अविनाशी है।

ब्रह्म के तीन रूप

अथाप्यस्यारूपस्य ब्रह्मणस्त्रीणि रूपाणि भवन्ति निष्कलं सकलं सकलनिष्कलं चेति।।३।।

फिर भी इस निराकार ब्रह्म के तीन रूप हैं–

निष्कल, सकल और **सकल-निष्कल**।

निष्कल ब्रह्म

यत् सत्यं विज्ञानमानन्दं निष्क्रियं निरञ्जनं सर्वगतं सुसूक्ष्मं सर्वतोमुखमनिर्देश्यममृतमस्ति तदिदं निष्कलं रूपम्।।४।।

ब्रह्म का जो स्वरूप-सत्य है, विज्ञानमात्र है, आनन्द स्वरूप है, निष्क्रिय अर्थात् कूटस्थ या अपनी महिमा से प्रतिष्ठित है। निरञ्जन अर्थात्

निर्लेप या क्लेश रहित है। सर्वगत या सभी के अन्दर है या सर्वत्र व्याप्त है। अत्यन्त सूक्ष्म है। ब्रह्म का यह स्वरूप सर्वतोमुख अर्थात् अनेक मुखों वाला या सर्वसाक्षी है। अनिर्देश्य या अवर्णनीय है अथवा ब्रह्म के स्वरूप की कोई परिभाषा नहीं बताई जा सकती। वह ब्रह्म अमृतमय है। ब्रह्म का यह रूप निष्कल है अर्थात् प्राण आदि अवयवों या कलाओं से रहित है।

सकल ब्रह्म

अथास्य या सहजास्त्यविद्या मूलप्रकृतिर्माया लोहितशुक्लकृष्णा। तया सहायवान् देवः कृष्ण-पिङ्गलो महेश्वर ईष्टे। तदिदमस्य सकलं रूपम्।।५।।

इस ब्रह्म की जो सहज अविद्या रूपी मूल प्रकृति या माया है। यह प्रकृति लोहित, शुक्ल, कृष्ण स्वरूपा है या रज (लोहित) सत्व (शुक्ल) और तम (कृष्ण) स्वरूपा या त्रिगुणात्मिका है। इस प्रकृति के साथ महेश्वर अपने ज्ञान, बल, क्रिया और इच्छाशक्ति से ईक्षण करता है। इस ईक्षण या दृष्टिपात से उत्पन्न सृष्टि ही ब्रह्म का सकलरूप है अर्थात् ब्रह्म का प्रकृति, माया, अविद्या या अज्ञान से युक्त रूप है।

सकल-निष्कल ब्रह्म

अथैष ज्ञानमयेन तपसा चीयमानोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। अथैस्मात् तप्यमानात् सत्यकामात् त्रीण्यक्षराणि अजायन्त। तिस्रो व्याहृतयः त्रिपदा गायत्री त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो वर्णास्त्रयोऽग्न्यश्च जायन्ते। योऽसौ देवो भगवान् सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वव्यापी सर्वभूतानां हृदये सन्निविष्टो मायावी मायया क्रीडति स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स इन्द्रः स सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि स एव पुरस्तात् स एव पश्चात् स एव उत्तरतः स एव दक्षिणतः स एव अधस्तात् स एव उपरिष्टात् स एव सर्वम्। अथास्य देवस्य आत्मशक्तेरात्मक्रीडस्य भक्तानुकम्पिनो दत्तात्रेयरूपा सुरूपा तनूरवासा इन्दीवरदलप्रख्या चतुर्बाहुरघोरापापकाशिनी। तदिदमस्य सकलनिष्कलरूपम्।।६।।

यह ब्रह्म ज्ञानरूपी तपस्या से बढ़ता हुआ इच्छा करता है कि मैं अनेक रूपों में प्रकट होने के लिये सृष्टि को उत्पन्न करूँ। ब्रह्म की इस ज्ञानमयी तपस्या से ये तीन अक्षर प्रकट हुए। भूः, भुवः, स्वः ये तीन व्याहृतियाँ उत्पन्न हुईं। तीन पदों वाला गायत्री छन्द और गायत्री मन्त्र प्रकट हुआ। ऋग्, यजुः, साम ये तीन वेद प्रकट हुए। ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये तीन देव उत्पन्न हुए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण बने। गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण ये तीन अग्नियाँ उत्पन्न हुईं। यह भगवान् सभी प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण है, सभी जगह व्याप्त है। सभी प्राणियों के हृदयों में विराजमान है। मायावी है अतः प्रकृतिरूपी माया के साथ खेलता है अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और संहार करता है। वही ब्रह्म; ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र और सभी देवों के रूप में और सभी प्राणियों के रूप में विराजमान है। वह ब्रह्म हमारे आगे, पीछे, दांये, बांये, नीचे, ऊपर और सभी दिशाओं-उपदिशाओं में व्याप्त है। यह देव अपनी शक्ति से सम्पन्न है। आत्मक्रीड या अपने ही स्वरूप में विचरण करने वाला है। अपने भक्तों पर कृपा करने वाला है। यह ब्रह्म दत्तात्रेय के रूप में विद्यमान है। उसका सुन्दर शरीर वस्त्ररहित है अर्थात् वह अवधूत है। ब्रह्म का यह अवधूत शरीर नीलकमल के पत्ते जैसा है। उनके शरीर में चार भुजाएँ हैं जो कल्याणकारिणी और पापों को नष्ट करने वाली हैं। ब्रह्म का यह स्वरूप सकल-निष्कल है।

।।तृतीय अध्याय समाप्त।।

।।प्रथम खण्ड समाप्त।।

द्वितीय खण्ड

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः प्रप्रच्छ भगवन् सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति।।१।।

स होवाचाथर्वा यस्माच्च बृहति बृंहयति च सर्वं तस्मादुच्यते परंब्रह्मेति।।२।।

शाण्डिल्य ने अथर्वा से पूछा– भगवन्! सत्तास्वरूप, चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप, एकरस अर्थात् सदा एकरूप में रहने वाले ब्रह्म को परब्रह्म क्यों कहते हैं?

अथर्वा ने बताया क्योंकि ब्रह्म सभी पदार्थों को महान् बनाते हैं इसलिये उन्हें परमब्रह्म कहते हैं।

अथ कस्मादुच्यते आत्मेति।।३।। यस्मात् सर्वम् आप्नोति सर्वमादत्ते सर्वमत्ति च तस्मादुच्यते आत्मेति।।४।।

ब्रह्म को आत्मा क्यों कहा जाता है?

क्योंकि ब्रह्म; सभी प्राणियों और पदार्थों में व्याप्त है। वे सृष्टि का सब कुछ ग्रहण कर लेते हैं और प्रलय आने पर सारी सृष्टि और ब्रह्माण्ड को अपने में समा लेते हैं इसलिये ब्रह्म को आत्मा कहते हैं।

अथ कस्मादुच्यते महेश्वरः इति।।५।। यस्मान्महत ईशः शब्दध्वन्या चात्मशक्त्या तस्माद् उच्यते महेश्वरः।।६।।

ब्रह्म को महेश्वर क्यों कहते हैं?

क्योंकि ब्रह्म; शब्द की ध्वनि से और अपनी शक्ति से महान् प्रभावशाली है अतः ब्रह्म को महेश्वर कहते हैं।

अथ कस्मादुच्यते दत्तात्रेयः।।७।।

यस्मात् सुदुश्चरं तपस्तप्यमानाय अत्रये पुत्रकामाय यस्मात् अतितरां तुष्टेन भगवता ज्योतिर्मयेन आत्मैव दत्तो यस्माच्चानुसूयायाम् अत्रेस्तनयोऽभवत् तस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति।।८।।

ब्रह्म को दत्तात्रेय क्यों कहते हैं?

क्योंकि अत्यन्त कठोर तपस्या में मग्न अत्रि ने पुत्र की इच्छा प्रकट की। अत्रि की तपस्या से अत्यधिक प्रसन्न भगवान् ने अपना ज्योतिर्मय स्वरूप ही दे दिया और इस प्रकार अत्रि के स्तनों से अनुसूया ने पुत्र उत्पन्न किया इसलिये उन्हें दत्तात्रेय कहते हैं।

अथ योऽस्य निरुक्तानि वेद स सर्वं वेद।।९।।

अथ यो ह वै विद्ययैनं परमुपास्ते सोऽहमिति स ब्रह्मविद् भवति।।१०।।

जो व्यक्ति ब्रह्म के विभिन्न नामों के अर्थ या निरुक्त को जानता है वह सब कुछ जान लेता है। जो व्यक्ति ब्रह्मविद्या को जानकर इन परम ब्रह्म की 'सोऽहम्' के स्वरूप में उपासना करता है वह ब्रह्मविद् हो जाता है।

अत्रैते श्लोका भवन्ति–

इस प्रसंग में निम्नलिखित श्लोक हैं—

दत्तात्रेयं शिवं शान्तमिन्द्रनीलनिभं प्रभुम्।
आत्ममायारतं देवमवधूतं दिगम्बरम्।।११।।

दत्तात्रेय स्वरूप कल्याणकारी, शान्त, नीलकान्त मणि की प्रभा से युक्त, अपनी माया में मग्न, निरवस्त्र अवधूत ब्रह्म को

भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं जटाजूटधरं विभुम्।
चतुर्बाहुमुदाराङ्गं प्रफुल्लकमलेक्षणम्।।१२।।

सम्पूर्ण शरीर पर भस्म लगाये हुए, जटाजूटधारी, सर्वत्र व्याप्त, चार भुजाओं और सुन्दर अंगों तथा खिले हुए कमलपुष्प के समान आँखों वाले

ज्ञानयोगनिधिं विश्वगुरुं योगिजनप्रियम्।
भक्तानुकम्पिनं सर्वसाक्षिणं सिद्धसेवितम्।।१३।।

एवं यः सततं ध्यायेत् देव देवं सनातनम्।
स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात्।।१४।।

इत्योम् सत्यम् इति उपनिषत्।।१५।।

तत्त्वज्ञान और योग की निधि, विश्वगुरु, योगियों के प्रिय, भक्तों पर कृपा करने वाले, सबके साक्षी, सिद्धपुरुषों से सेवित ब्रह्म के इस रूप का जो निरन्तर ध्यान करता है वह देवाधिदेव सनातन ब्रह्म का ध्यान करके सभी पापों से छुटकारा पा जाता है और उसका कल्याण होता है।

यही ओ३म् का सत्यस्वरूप है।

।।द्वितीय खण्ड समाप्त।।

।।शाण्डिल्य उपनिषद् समाप्त।।

२०

हंसोपनिषद्

ओ३म् पूर्णमद......इति शान्तिः!!

हंसाख्योपनिषद्प्रोक्त नादालिर्यत्र विश्रमेत्।
तदाधारं निराधारं ब्रह्ममात्रमहं महः।।

गौतम उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
ब्रह्मविद्याप्रबोधो हि केनोपायेन जायते।।१।।

गौतम ने पूछा – हे भगवन्! आप सभी धर्मों को जानते हैं। आप सभी शास्त्रों के भी पण्डित हैं। कृपया बताइये कि ब्रह्मविद्या का ज्ञान किस उपाय से होता है?

सनत्कुमार उवाच

विचार्य सर्व धर्मेषु मतं ज्ञात्वा पिनाकिनः।
पार्वत्या कथितं तत्त्वं शृणु गौतम तन्मम।।२।।

मैंने सभी धर्मों पर विचार किया है। शिव जी ने पार्वती को जो तत्वज्ञान दिया है, उसे जानकर मैं जिस निश्चय पर पहुँचा हूँ उसे हे गौतम! तुम सुनो।

अनाख्येयमिदं गुह्यं योगिने कोश सन्निभम्।
हंसस्याकृतिविस्तारं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्।।३।।

ब्रह्मविद्या का यह तत्त्वज्ञान बहुत गोपनीय है। इसे जिस किसी को नहीं बताना चाहिये। योगी को यह ज्ञान बताया जा सकता है। हंस शब्द यहाँ परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है क्योंकि परमात्मा अपने अस्तित्व की अनुभूति कराने के बाद अपने से अतिरिक्त ज्ञान को नष्ट कर देता है। **स्वमात्रप्रबोधेन स्वातिरिक्तकलनां हन्ति अपह्नवं करोति इति हंसः।** यह ब्रह्मज्ञान रत्नों की पेटी जैसा मूल्यवान है। इस ज्ञान से भलीभांति पता चल जाता है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड परमात्मा के विश्व, विराट् और तैजस रूपों का ही विस्तार है। अज्ञानी व्यक्ति इस संसार के भोग-ऐश्वर्यों में आजीवन फंसे रहते हैं किन्तु योगी; यह ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं या कैवल्य अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।

अथ हंस परमहंस निर्णयं व्याख्यास्यामः।
ब्रह्मचारिणे शान्ताय दान्ताय गुरुभक्ताय हंसहंसेति सदा ध्यायन्।।४।।

इस ब्रह्मज्ञान के अधिकारी तुम हो क्योंकि तुम ब्रह्मचारी हो अर्थात् तुम ब्रह्मनिष्ठा वाले हो अर्थात् तुम ब्रह्मज्ञान का अभ्यास करना चाहते हो या ब्रह्मज्ञान को पूरी तरह प्राप्त करना चाहते हो। तुमने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है इसलिये तुम्हारा मन सांसारिक भोगों के प्रति शान्त या उदासीन या विरक्त हो गया है। तुम परमार्थ का उपदेश देने वाले अपने गुरु के भक्त हो। तुम हंस-हंस मन्त्र का सदा ध्यान और जप करते हो।

प्रत्येक व्यक्ति श्वास-प्रश्वास करते हुए अनजाने ही हंस-हंस का जाप करता है। यह जप सोऽहम् के रूप में होता रहता है। जो ब्रह्मचारी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं को पार करके तुरीय अवस्था में पहुँच जाता है और प्रत्यक् चैतन्य परमात्मा की सत्ता को अनुभव कर लेता है वह हंस कोटि का साधक माना जाता है। किन्तु जो साधक आत्म-साक्षात्कार के अपने व्यक्तिगत अनुभव को लांघकर अर्थात् व्यष्टि अनुभव को लांघकर समष्टि अनुभव की अवस्था में पहुँच जाता है तब वह परमहंस पद को प्राप्त कर लेता है। समष्टि अनुभव से यही अभिप्राय है कि साधक परमात्मा के ध्यान में लीन रहकर जब यह अनुभव करने लगता है कि यह सारी सृष्टि ही परमात्मा का रूप है अर्थात् **'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'** है तब वह

परमहंस कोटि में पहुँच जाता है। इस उपनिषद् में सनत्कुमार ने हंस और परमहंस के स्वरूप की व्याख्या की है।

हंस का स्वरूप और इस ज्ञान का फल

सर्वेषु देहेषु व्याप्य वर्तते यथा हि अग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव। तं विदित्वा न मृत्युमाप्नोति।।५।।

यह ब्रह्म सभी प्राणियों के शरीरों में और संसार के सभी पदार्थों में उसी प्रकार व्याप्त है या समाया हुआ है, जैसे लकड़ियों में आग छिपी हुई है और तिलों में तेल समाया हुआ है। एक बार ब्रह्म की अनुभूति कर लेने के बाद साधक को मृत्यु का भय नहीं सताता अर्थात् वह अमर अनुभव करने लगता है।

हंसज्ञान का उपाय योग

गुदमवष्टभ्याधारात् वायुम् उत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य विशुद्धौ प्राणान् निरुध्य आज्ञाम् अनुध्यायन् ब्रह्मरन्ध्रम् ध्यायन् त्रिमात्रो ऽहमिति एवं सर्वदा ध्यायन्।
अथो नादमाधारात् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं शुद्धस्फटिक-संकाशं स वै ब्रह्म परमात्मा इति उच्यते।।६।।

प्रस्तुत प्रकरण में प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी को जगाकर और इसे सुषुम्ना नाड़ी के रास्ते मूलाधार आदि षट्चक्रों को पार करके ब्रह्मरन्ध्र में ले जाने की विधि संक्षेप में बताई गई है।

अपने सद्गुरु से यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के इन आठ अंगों का ज्ञान प्राप्त करके और इन सभी अंगों का भलीभांति अभ्यास करके योगी को समाधि की उच्च अवस्थाओं का अभ्यास करना चाहिये। इसके लिये उसे किसी गुफा या एकान्त स्थान में जाकर सिद्धासन लगाकर बैठना चाहिये। सिद्धासन में बैठकर श्वास भरना चाहिये और श्वास को रोककर गुदा को सिकोड़ना चाहिये। यह क्रिया मूलबन्ध कहलाती है। मूलाधार के त्रिकोण में साँप जैसी

कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना नाड़ी का मुख बन्द करके सोई रहती है। प्राण और अपान की वायु को त्रिकोण की अग्नि में मिला कर कुण्डलिनी को जगाना होता है। कुण्डलिनी शक्ति के सक्रिय हो जाने पर सुषुम्ना का द्वार खुल जाता है और कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है। मूलाधार की ब्रह्मग्रन्थि को भेदकर कुण्डलिनी चार पंखुड़ियों वाले मूलाधार चक्र में पहुँचती है। वहाँ पर परमात्मा के तुरीय स्वरूप का ध्यान करके छह पंखुड़ियों वाले स्वाधिष्ठान चक्र में पहुँचना चाहिये। यह चक्र लिंगमूल पर है। इस चक्र की तीन परिक्रमा करके कुण्डलिनी को दस पंखुड़ियों वाले मणिपूर चक्र में ले जाना चाहिये। यह चक्र नाभि के पास है। वहाँ से कुण्डलिनी को बारह पंखुड़ियों के अनाहत चक्र में ले जाना चाहिये। अनाहत चक्र हृदय प्रदेश में है। यहाँ पर विष्णुग्रन्थि को भेदकर अनाहत चक्र में परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। योगाभ्यास की इस अवस्था में निर्विकल्प समाधि का अभ्यास किया जाता है। अनाहत चक्र को पार करके कण्ठ में स्थित सोलह पंखुड़ियों वाले विशुद्धि चक्र में जाना चाहिये। विशुद्धि चक्र के नीचे छाती में दो स्तन है। इनके पास दो मार्ग हैं। इन दो मार्गों को छोड़कर प्राणवायु और कुण्डलिनी को दो पंखुड़ियों से युक्त आज्ञाचक्र में ले जाना चाहिये। आज्ञाचक्र; भ्रूमध्य में स्थित है। यहाँ पर इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ मिलती हैं। प्राणयाम की उन्नत अवस्था में योगी मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धर बन्ध एक साथ लगाकर कुम्भक करते हैं। वे प्राणायाम के समय खेचरी मुद्रा भी लगाते हैं।

खेचरी मुद्रा में जीभ को उलटकर कोमल तालु से आगे छोटी जीभ पार करके भ्रूमध्य में ले जाया जाता है। वहाँ पर सहस्रार चक्र से झरने वाले अमृत रस का पान किया जाता है। इस अमृतरस को पीकर सहस्रदल कमल से युक्त ब्रह्मरन्ध्र में जाना होता है। यहाँ पर योगी को जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं को त्यागकर यह ध्यान करना चाहिये कि मैं तुरीय परमात्म स्वरूप हूँ। योगी अपनी इस तुरीय अवस्था में परमहंस परमात्मा के दर्शन करता है। यह ब्रह्म साक्षात्कार होने पर करोड़ों सूर्यों की विशद ज्योति के समान प्रकाश प्रकट होता है और योगी अनुभव करता है

कि इस दिव्य प्रकाश से सारा ब्रह्माण्ड व्याप्त है। इस अवस्था में मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक सारा शरीर शुद्ध स्फटिक के समान दिव्य प्रकाश से व्याप्त हो जाता है। या ज्योति ही परमात्मा कहलाती है।

एषोऽसौ परमहंसो भानुकोटिप्रतीकाशः येनेदंव्याप्तम्।

इस परमहंस परमात्मा की दिव्य ज्योति करोड़ों सूर्यों की प्रभा के समान होती है। इस दिव्य ज्योति से सारा ब्रह्माण्ड व्याप्त है।

हृदयकमल में हंस भावना से तुर्य आत्मा के दर्शन

तस्याष्टधा वृत्तिर्भवति। पूर्वदले पुण्ये मतिः। आग्नेये निद्रालस्यादयो भवन्ति। याम्ये क्रूरे मतिः। नैर्ऋते पापे मनीषा। वारुण्यां क्रीडा। वायव्यो गमनादौ बुद्धिः। सौम्ये रतिप्रीतिः। ईशाने द्रव्यादानम्। मध्ये वैराग्यम्। केसरे जाग्रदवस्था। कर्णिकायां स्वप्नम्। लिङ्गे सुषुप्तिः। पद्मत्यागे तुरीयम्। यदा हंसे नादो विलीनो भवति तत् तुरीयातीतम्।।८।। अथो नाद आधाराद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं शुद्धस्फटिक संकाशः स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते।।९।।

ब्रह्म की व्यष्टिगत अवस्था में जीवभाव प्राप्त करने पर आठ प्रकार की मनोवृत्तियाँ होती हैं। ब्रह्म से अधिष्ठित हृदयपद्म बारह पंखुड़ियों वाला होता है। इनमें से चार पंखुड़ियों को हंस स्पर्श नहीं करता। शेष आठ पंखुड़ियाँ व्यवहार करने योग्य होती हैं। हृदयकमल में हंस; प्राणों की सहायता से जीवभाव अपनाकर पूर्व दिशा की पंखुड़ी में प्रविष्ट होता है तब जीव की पुण्यकर्मों के प्रति बुद्धि होती है। जब जीव दक्षिण पूर्व दिशा (आग्नेय) की पंखुड़ी में जाता है तब उसे नींद और आलस्य आता है। दक्षिण दिशा (याम्य) में जाने पर क्रूर काम करना चाहता है। दक्षिण पश्चिम (नैर्ऋत) दिशा की पंखुड़ी में जाने पर पाप करने की इच्छा होती है। जीव के पश्चिम दिशा (वारुणी) वाली पंखुड़ी में जाने पर खेलने और विनोद करने की इच्छा होती है। पश्चिमोत्तर दिशा (वायव्य) की पंखुड़ी में जाने पर कहीं आने-जाने या घूमने-फिरने का मन होता है। पूर्व दिशा (सौम्य) की पंखुड़ी में जाने पर आत्मतत्त्व अनात्मतत्त्व आदि आध्यात्मिक विषयों पर

विद्वानों के साथ विचार-विनिमय करने की प्रवृत्ति होती है। उत्तर-पूर्व दिशा (ईशाण) की पंखुड़ी में जाने पर इस संसार के और परलोक के लिये उपयोगी वस्तुएँ एकत्र करने की इच्छा होती है। जीव जब इन पंखुड़ियों के बीच में जाता है तो वैराग्य की इच्छा उत्पन्न होती है। जब जीव हृदय कमल के केसर या पराग में जाता है तब जीव की जाग्रदवस्था होती है। तब उसका अहंकार पूरी तरह विकसित हो जाता है। हृदयकमल की कर्णिका या कमल के फल कमलगट्टे में जीव के प्रविष्ट होने पर वह स्वप्न देखता है। तब उसका अहंकार अर्ध विकसित होता है। जब जीव लिंग या सुषिर अर्थात् कमलनाल में प्रविष्ट होता है तब वह सुषुप्ति अवस्था में होता है। जीव द्वारा हृदय कमल को त्याग देने पर वह तुरीय अवस्था में पहुँच कर ब्रह्म साक्षात् करता है। तब जीव प्रत्यग् अभिन्न या परमात्मा के साथ मिल जाता है। जब प्रत्यग् अभिन्न परमात्मा में या हंस में अनाहत नाद की आधी मात्रा लीन हो जाती है तब जीव अपने आधार के लीन हो जाने पर तुरीयातीत ब्रह्ममात्र बचा रहता है।

इस प्रकार निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाने पर योगी के हृदय में मूलाधार चक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक तुर्य स्वरूप शुद्धस्फटिक के समान शुक्ल तेजपूर्ण ब्रह्म के दर्शन होते हैं। अनाहत नाद के रूप में प्रकट होने वाला यही परमात्मा कहलाता है।

अजपा हंसमन्त्र जप की विधि

अथ हंस ऋषिः। अव्यक्त गायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हं बीजम्। सः शक्तिः। सोऽहम् कीलकम्।।१०।। षट् संख्यया अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्शतानि अधिकानि भवन्ति। सूर्याय सोमाय निरञ्जनाय निराभासाय तनुसूक्ष्मं प्रचोदयात् इति।।११।। अग्नीषोमाभ्यां वौषट् हृदयाद्यङ्गन्यासकरन्यासौ भवतः।।१२।। एवं कृत्वा हृदये हंसमात्मानं ध्यायेत्।।१३।।

अजपाजप के सम्बन्ध में गोरक्षपद्धति के प्रथम शतक का निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत प्रकरण को स्पष्ट करने में सहायक है:-

हकारेण बहिर्यातिसकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।४१।।

षट्शतानि त्वहोरात्रे सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत् संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वथा।४२।।

जब हम श्वास छोड़ते हैं तब 'ह' शब्द होता है और श्वास भरते हुए 'स' शब्द होता है। इस तरह हम श्वास भरते और छोड़ते हुए सदा 'हंस' 'हंस' यह शब्द जपते रहते हैं। एक दिन और एक रात में हम २१,६०० बार 'हंस' शब्द का जप अपने आप कर लेते हैं।

'हंस' शब्द का स्वयं होने वाला जप 'अजपा गायत्री' कहलाता है। यद्यपि हम श्वास-प्रश्वास करते हुए अनजाने ही हंस शब्द का उच्चारण करके हंस के समान निर्मल विशुद्ध, त्रिगुणातीत परम ब्रह्म का जप करते रहते हैं, किन्तु इस पर कभी ध्यान नहीं देते। यदि हम उठते-बैठते खाते-पीते, सोते-जागते मन में ब्रह्म का ध्यान करते रहें तो हमारे जीवन का उद्देश्य ही बदल जायेगा और हमारी चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी होने लगेगी। इसीलिये शास्त्रों में यह विधान किया गया है कि हमें प्रातःकाल नित्यकर्मों से निपटने के बाद संकल्प करना चाहिये कि मैं पिछले दिन-रात की भांति आज भी अजपा-जप करूँगा। ऐसा संकल्प करने से हमारा मन जब भी श्वास-प्रश्वास पर लगेगा तो हम परब्रह्म का ध्यान करेंगे। संकल्प हमारे अवचेतन मन को प्रभावित करता है।

हंस ऋषि है। अव्यक्तगायत्री छन्द है। परमहंस देवता है। अहम् बीज है। स शक्ति है। सोऽहम् कीलक है।

हम दिन-रात में २१,६०० बार श्वास-प्रश्वास लेते हैं। यह श्वास-प्रश्वास ही जप कहलाता है। अजपा गायत्री के चार भाग करके इसका पहिला भाग विराडात्मा सूर्य को समर्पित करना चाहिये। दूसरा भाग सोम को समर्पित करना चाहिये। चौथा भाग आभास रहित परमात्मा को समर्पित करना चाहिये। अग्नीषोम को वौषट् या देवों को अर्पित की जाने वाली आहुति देनी चाहिये।

शरीर के हृदय आदि अंगों में इस प्रकार करन्यास या हस्तस्पर्श किया जाता है। यह करने के बाद हृदय में परमात्मा का ध्यान करना चाहिये।

सगुणहंस के ध्यान से परमात्मा के दर्शन

अग्नीषोमौ पक्षौ ओंकारः शिरः उकारो बिन्दुः त्रिनेत्रं मुखं रुद्रो रुद्राणी चरणौ द्विविधं कण्ठतः कुर्यात् इति उन्मनाः अजपोपसंहार इत्यभिधीयते।।१४।। एवं हंसवशान्मनो विचार्यते।।१५।।

अग्निषोम अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा सगुण ब्रह्म की दोनों भुजाएँ है। ओंकार सिर है। ओंकार के अ, उ, म् ये तीन अक्षर सगुण ब्रह्म के तीन नेत्र है। रुद्र इसका मुख है। इसके पैर रुद्राणी और गंगा है। इस प्रकार ब्रह्म के सगुण और निर्गुण स्वरूप का दो प्रकार का ध्यान साधक अपने कण्ठ से बोल कर करे। इस ध्यान के कारण साधक के मन की उन्मनी अवस्था या एकाग्रता हो जाती है। हंस के इस अजपा जप का समापन परमात्मा के ध्यान में होता है। इस हंस शब्द के जप से यही पता चलता है कि परमात्मा के अतिरिक्त मन और इसके कार्य या संकल्प-विकल्प कुछ भी वास्तविक या यथार्थ नहीं है।

अजपाजप से दस प्रकार के अनाहत नादों का अनुभव

अस्यैव जपकोट्या नादमनुभवति। स च दशविधो जायते। चिणिति प्रथमः। चिञ्चिणीति द्वितीयः। घण्टानादस्तृतीयः। शंखनादश्चतुर्थः। पञ्चमस्तन्त्री नादः। षष्ठस्तालनादः। सप्तमोवेणुनादः। अष्टमो भेरीनाद नवमो मृदंगनादः। दशमो मेघनादः।।१६।।

हंस मन्त्र का अजपाजप एक करोड़ बार करने पर साधक अनाहत चक्र में (हृदय में) नाद ब्रह्म या अनाहत नाद की अनुभूति करता है। अनाहत नाद का यह अनुभव दांये कान में दस प्रकार का होता है। पहिला नाद चिण् ध्वनि जैसा होता है। दूसरा नाद चिञ्चिणी ध्वनि जैसा होता है। तीसरा नाद घण्टा बजने जैसा होता है। चौथा नाद शंख की ध्वनि जैसा होता है। पाँचवा नाद वीणा की झंकार जैसा होता है। छठा नाद ताल देने जैसा होता है। सातवां नाद सुरीली बांसुरी की आवाज जैसा होता है। आठवां नाद नगाड़े की आवाज जैसा होता है। नवां नाद तबले की ध्वनि जैसा होता है। दसवां नाद बादल की गरज जैसा होता है।

नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत्।।१७।।

इन नौ नादों को छोड़कर दसवें नाद को सुनने का ही अभ्यास करना चाहिये।

इन नादों के अनुभव का फल

प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम्।
तृतीये भेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः।।१८।।
पञ्चमे स्रवतो तालु षष्ठेऽमृतनिषेवणम्।
सप्तमे गूढ विज्ञानम् परा वाचा तथाष्टमे।।१९।।
अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथाऽमलम्।
दशमं च परं ब्रह्म भवेत् ब्रह्मात्मसन्निधौ।।२०।।

पहिले नाद की अनुभूति में शरीर में चींटी सी चलती लगती है। दूसरे नाद में शरीर टूटता सा लगता है। तीसरे नाद में हृदय कमल खिलने लगता है। चौथे नाद में सिर कांपने लगता है।

ये सभी नाद षण्मुखी मुद्रा का अभ्यास करने पर अनुभव होते हैं। षण्मुखी मुद्रा में जब कुम्भक प्राणायाम किया जाता है तब प्राणवायु आज्ञाचक्र या भ्रूमध्य में चला जाता है। इसके कारण सिर कांपता है। वीणानाद अनुभव होने पर या पाँचवा नाद प्रकट होने पर तालु से अमृत टपकने लगता है। छठे नाद की अनुभूति होने पर चन्द्र मण्डल और सूर्य मण्डल के एक हो जाने या प्राणवायु के इडा और पिंगला नाड़ियों को छोड़कर सुषुम्ना में प्रविष्ट होने पर योगी ब्रह्मरन्ध्र से झरने वाले अमृत रस का पान करता है। खेचरी मुद्रा का अभ्यास परिपक्व होने पर योगी अमृत रस का पान कर पाता है। बांसुरी बजने का सातवां नाद अनुभूत होने पर योगी को पता चल जाता है कि सभी प्राणियों में ब्रह्म गुप्तरूप से विराजमान है। अष्टम नाद या नगाड़े की ध्वनि अनुभव होने पर योगी को वेदादि सभी शास्त्रों का ज्ञान कराने वाली परावाणी प्राप्त हो जाती है। योगी सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान को जान लेता है। नवें नाद की या तबले की ध्वनि की अनुभूति होने पर योगी को अन्तर्धान होने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

उसकी दृष्टि दिव्य हो जाती है और वह त्रिकालज्ञ हो जाता है। दसवां नाद मेघ की गरज अनुभव होने पर योगी को ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है।

मनोलय से ब्रह्मात्मप्रकाश

तस्मात् मनो विलीने मनसि गते संकल्प विकल्प दग्धे पुण्यपापे सदाशिवः शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयंज्योतिः शुद्धो बुद्धो नित्यो निरञ्जनो शान्तः प्रकाशत इति। इति वेदप्रवचनम्। इत्युपनिषत्।।

मन के लय हो जाने पर सारे संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं। पाप-पुण्य के संस्कार नष्ट हो जाते हैं और सदैव कल्याणस्वरूप शक्तिसम्पन्न, सर्वत्र विराजमान, स्वयं प्रकाश, शुद्ध, पवित्र, बुद्ध, चैतन्य स्वरूप, नित्य, निर्लेप रागद्वेष रहित शान्त ब्रह्म का स्वरूप हृदय में प्रकट होता है। यही वेदज्ञान का सार है।

।।हंसोपनिषद्समाप्त।।

इति शान्त

ओ३म् पूर्णमदः

श्लोकानुक्रमणिका

१. अमृतबिन्दूपनिषद् (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्)

२. अद्वयतारकोपनिषद्

३. अमृतनादोपनिषद्

४. क्षुरिकोपनिषद्

५. तेजोबिन्दूपनिषद्

६. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्

७. दर्शनोपनिषद्

८. ध्यानबिन्दूपनिषद्

९. नादबिन्दूपनिषद्

१०. ब्रह्मविद्योपनिषद्

११. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्

१२. महावाक्योपनिषद्

१३. योगकुण्डल्युपनिषद्

१४. योगतत्त्वोपनिषद्

१५. योगशिखोपनिषद्

१६. वराहोपनिषद्

१७. शाण्डिल्योपनिषद्

१८. हंसोपनिषद्

लेखक परिचय

गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के पूर्व कुलपति, विलक्षण प्रशासक, विधिवेत्ता **आचार्य सुभाष विद्यालंकार** सिद्धयोगियों के पथ प्रदर्शन में पिछले 50 वर्षों से योगाभ्यास कर रहे हैं।

अपने अनुभवों के आधार पर उन्होंने योग विद्या से सम्बन्धित 'गोरक्षपद्धति, घेरण्ड संहिता और हठयोग प्रदीपिका, योगशब्दकोश, योग उपनिषद: तथा योग एवं मानसिक स्वास्थ्य' सहित दशाधिक ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

नब्वे वर्ष की आयु में भी आप निरन्तर अध्ययन, लेखन तथा योगाभ्यास करते हुये सक्रिय हैं।

ISBN : 978-81-7702-441-8

प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्यविद्या प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता)
7259/23 अजेन्द्र मार्केट,
प्रेमनगर, शक्तिनगर, दिल्ली- 110007
E-mail : pratibhabooks@ymail.com
Visit us : www.pratibhabooks.com